पं० इकबाल नारायण गुर्टू

अभिनंदन-ग्रंथ

सम्पादकीय

इस अभिनंदन-ग्रंथ का विचार बहुत विलंब से उठा। अप्रैल १९५३ में जब इसे कार्यान्वित करने के लिए बेसेंट कालेज के प्राचीन-छात्र-संघ की कार्यकारिणी समिति की बैठक की गई उस समय यह आशंका थी कि इतने अल्प समय में "पंडित जी" को अर्पण करने योग्य उच्च कोटि का अभिनंदन-ग्रंथ तैयार नहीं हो सकेगा। फिर भी यह विश्वास था कि प्राचीन-छात्र-संघ के सदस्यों के अदम्य उत्साह और उनके परस्पर सहयोग के फलस्वरूप अल्प समय में भी वांछित उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है। अतएव यही निश्चय किया गया कि "पंडित जी" की ७५ वीं वर्ष-गाँठ पर ही अभिनंदन-ग्रंथ अर्पित किया जाय और इसके लिए उसी दिन से कार्य आरंभ कर दिया गया। परन्तु अप्रैल का महीना शिक्षा-संस्थाओं में परीक्षा का मास होता है। अतएव छात्र-संघ के अधिकांश सदस्य, जो इस कार्य में सक्रिय भाग ले रहे थे, परीक्षा-संबंधी कार्यों में व्यस्त हो गए। उसके पश्चात् ग्रीष्मावकाश आ जाने के कारण अभिनंदन-ग्रंथ का कार्य शिथिल पड़ गया क्योंकि कुछ कार्यकर्ता काशी के बाहर चले गए थे। कार्य का वास्तविक आरंभ जुलाई के प्रथम सप्ताह में हुआ।

यह कार्य आरंभ करने के पूर्व हम यह भली भाँति जानते थे हम लोग जो कुछ करने जा रहे हैं यह पंडित जी की प्रकृति और उनकी इच्छा के अनुकूल नहीं है और उनके कान में इसकी भनक पड़ते ही वे इसे तुरत रोक देंगे। पंडित जी प्रचार और विज्ञापन से सर्वदा दूर रहे हैं। शान्तिपूर्वक मनोयोग से अपना कर्त्तव्य करना उनके जीवन का ध्येय रहा है। उन्होंने प्रशंसा या नाम कमाने के लिए कभी कोई कार्य नहीं किया। पंडित जी ने अनेक संस्थाओं की केवल अवैतनिक सेवा ही नहीं की वरन् उन्हें अपने पास से धन भी दिया। केवल थियोसॉफी ट्रस्ट की संस्थाओं को उन्होंने एक लाख रुपये से अधिक दिया है। इसके अतिरिक्त प्रयाग में कृष्णाश्रम (एनी बेसेंट स्कूल) का भवन उन्हीं के दान का फल है। प्रयाग के हरिजन आश्रम की भी पंडित जी ने पर्याप्त धन से सहायता की है। परन्तु इन संस्थाओं से संबंध रखने वाले कुछ थोड़े से व्यक्तियों को छोड़ कर और लोग नहीं जानते कि पंडित जी ने केवल तन, मन से ही नहीं वरन् धन से भी सार्वजनिक सेवा की है। व्यक्तियों की जो उन्होंने आर्थिक सहायताकी है उसका पता माता सरस्वती को छोड़ कर शायद ही किसी को हो।

पंडित जी ने तन-मन-धन से इतनी देश-सेवा की परन्तु कभी किसी संस्था से मानपत्र या अभिनंदन-ग्रंथ नहीं स्वीकार किया। यदि वे प्रशंसाप्रिय या खुशामद-पसंद होते तो जिन दिनों उनके हाथ में अधिकार था उन दिनों न

जाने कितनी ही संस्थाओं द्वारा उनकी स्वर्ण और हीरक जयन्तियाँ मनाई गई होतीं और अभिनंदन-ग्रंथ भेंट किए गए होते। परन्तु लोग जानते थे कि पंडित जी अपनी प्रशंसा सुनने के लिए तैयार नहीं हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी के लिए लिखा है कि श्रीरामचन्द्र जी अपने भक्तों का गुणगान तो बड़े प्रेम से सुनते थे और बार-बार सुनाने को कहते थे परन्तु अपनी चर्चा चलते ही संकोच के भार से दब जाते थे। इसी प्रकार पंडित जी अपनी प्रशंसा सुनकर संकुचित हो जाते हैं।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि अभिनंदन-ग्रंथ भेंट करने के विषय में सबसे बड़ी बाधा उपस्थित करने वाले स्वयं पंडित जी थे। उनकी स्वीकृति प्राप्त करना कठिन काम था। इसी से सब बातें चुपके चुपके तय हुईं। पंडित जी के परिवार वालों से किसी बहाने उनके कुछ अप्राप्य चित्र प्राप्त कर लिए गए और कुछ ब्लौक तथा चित्र सेंट्रल कालेज से मिल गए। इस प्रकार हमारा कार्य चालू हो गया।

समय इतना स्वल्प था और कार्य इतना महान् कि हमें कविकुल-गुरु कालिदास के रघुवंश की निम्नांकित पंक्तियाँ स्मरण हो आईं—

"..........तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥"

और "प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः।"

परन्तु पंडित जी के महान स्नेह-भंडार पर अपना अधिकार होने के कारण हम लोगों ने सोचा कि अभिनंदन-ग्रंथ बहुत उच्चकोटि का न भी होगा तब भी पंडित जी उसे अपने भक्तों का सफल प्रयास जानकर सहर्ष स्वीकार कर लेंगे।

अभिनंदन-ग्रंथ के लिए पंडित जी के संस्मरण लिखने के लिए एक [illegible] पंडित जी के शिष्यों, सहकर्मियों, मित्रों, हितैषियों और प्रशंसकों के पास भेजा गया।

परन्तु दुर्भाग्यवश इसी बीच एक संस्मरण-लेखक ने भूल से पंडित जी के ही घर के पते पर लिखा संस्मरण भेज दिया। बस तो सारा भेद खुल गया। [illegible] श्री [illegible] उनके यहाँ किसी [illegible] उन्होंने पूछ दिया—"क्यों, चुपके-चुपके यह क्या हो रहा है? [illegible]?" [illegible] उन्होंने [illegible] हाथ में दे दिया। [illegible] भेद खुला जानकर [illegible] "पंडित जी, आप तो जो कुछ भूल होगी [illegible] इसलिए क्षमा कीजिए और हमें आशीर्वाद दीजिए कि हम अपने प्रयास में सफल हों।" [illegible] किसी [illegible] कि पंडित जी को नाराज़ करना बहुत [illegible]

[illegible] कि बहुत

से लोग समयाभाव के कारण कुछ लिख नहीं सके; कुछ लोगों ने लिखा भी तो जल्दी में थोड़ा सा लिखकर भेज दिया। बहुत से लोगों को परिपत्र देर से मिला और संस्मरण भेजने की अंतिम तिथि बीत चुकी थी। इससे उन्होंने संस्मरण नहीं भेजे। इधर लेखों की कमी से हमें अन्तिम तिथि टालनी पड़ी। फिर भी बहुत बड़े बड़े विद्वानों के लेख तथा पंडित जी के निकट संबंधियों के संस्मरण नहीं प्राप्त हो सके। इसका हमें अत्यन्त खेद है।

हमें खेद है कि हम अपने राष्ट्रपति से संस्मरण नहीं प्राप्त कर सके। उन्होंने किसी के अभिनंदन ग्रंथ के लिए संस्मरण न लिखने का नियम बना लिया है। अतएव वे पंडित जी का संस्मरण लिखने में असमर्थ थे। फिर भी उनके हृदय में पंडित जी के लिए बहुत आदर है। राष्ट्रपति के सचिव से यह जानकर हमें प्रसन्नता हुई कि **"He (President Dr. Rajendra Prasad) holds Pandit Iqbal Narain in great esteem."**

राजनीति के क्षेत्र में जिन लोगों का पंडित जी से विरोध रहा है वे भी पंडित जी की महानता, कर्तव्यनिष्ठा, शिक्षा के क्षेत्र में उनका अमूल्य कार्य और उदारतापूर्वक देश-सेवा की लगन की प्रशंसा करने में नहीं हिचकते। इसका उल्लेख महामहिम श्री श्रीप्रकाश जी ने अपने संस्मरणों में भलीभाँति किया है। वे स्वयं राजनीति में पंडित जी के विरोधी रहे हैं परन्तु इससे पंडित जी के प्रति उनकी श्रद्धा में कभी कोई कमी नहीं आई।

यहाँ पर टीचर्स ट्रेनिंग-कालेज, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी, के भूतपूर्व आचार्य पं० लज्जाशंकर झा के पत्र का उल्लेख कर देना हम आवश्यक समझते हैं। वे हमारे पंडित जी के सहपाठी थे। पंडित जी का संस्मरण लिखने की उनकी बड़ी अभिलाषा थी परन्तु अस्वस्थता और विशेषतः आँखों के कष्ट के कारण वे लिख न सके। उन्होंने हमें लिखा है—"You have asked me to do something which I dearly want to do. But very very, sorry I can't do. Pray excuse me" इन शब्दों में उनकी कितनी विवशता और करुण व्यथा छिपी है!

पंडित जी को अभिनंदन-ग्रन्थ अर्पित करके हम उनके ऋण से मुक्त होने की कल्पना भी नहीं कर सकते। वास्तव में यह तो उनके ऋण की स्वीकृति का प्रमाण है। इसके द्वारा यह प्रकट होगा कि जिन-जिन संस्थाओं में पंडित जी ने कार्य किया है केवल वे ही नहीं वरन् उनके द्वारा सारा देश पंडित जी का कितना ऋणी है। फिर भी यह कटु सत्य स्वीकार करना पड़ता है कि पंडित जी की प्रतिभा और कार्य करने की अद्भुत शक्ति का पूरा उपयोग देश ने नहीं किया। लोग समझते हैं कि पंडित जी बूढ़े हुए और अब अधिक परिश्रम तथा झंझट का कार्य नहीं कर सकते। परन्तु पंडित जी के निकट रहने वालों ने देखा है कि

वे अब भी शरीर से कितने हृष्ट पुष्ट और परिश्रमी हैं। अब भी वे बैठकर जितना लिखने-पढ़ने का कार्य करते हैं उतना बहुत से अध्यापक या कार्यालयों के अधिकारी नहीं कर सकते। हमें पंडित जी की कार्य-शक्ति को देखकर ईर्ष्या होती है। इसी से हम कहते हैं कि पंडित जी की कार्य करने की शक्ति और प्रतिभा का देश ने पूरा लाभ नहीं उठाया। अपने राजनैतिक विचारों के कारण वे बहुत दिनों से राजनीति से दूर हैं। यद्यपि वे पद के लोलुप नहीं हैं कि उन्हें गवर्नर या मंत्री बना दिया जाय परन्तु देश की सेवा करने के इच्छुक अवश्य हैं। अतएव यदि स्वराज्य हो जाने पर उन्हें कोई उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य सौंपदिया जाता तो वे उसका भार उठाने को अवश्य तैयार हो जाते। उन्हों ने सेवा को जीवन का उद्देश्य समझा, अधिकार की कभी परवाह नहीं की। शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने जिस कार्य कुशलता का परिचय दिया है उससे यह स्पष्ट है कि यदि वे शिक्षा-मंत्री हुए होते तो देश की राष्ट्रीय शिक्षा में आमूल परिवर्तन हुआ होता और हमारी वर्तमान शिक्षा राष्ट्र को उन्नत करने के लिए सर्वथा उपयुक्त होती। विगत तीस वर्षों में शिक्षा-संबंधी जितने कमीशन या कमीटियाँ बैठीं सबने पंडित जी की साक्षी ली और उनके मतों को बहुत महत्व दिया। अतएव इस समय शिक्षा के क्षेत्र में उनके समान मौलिक विचारों वाला व्यक्ति देश में शायद ही कोई दूसरा हो।

इसमें कोई संदेह नहीं कि पंडित जी पर सबसे अधिक प्रभाव स्वर्गीया माता एनी बेसेंट का पड़ा है। वे कभी कभी उनके जीवन की छोटी छोटी घटनाएँ हमलोगों को सुनाया करते हैं जिससे पता चलता है कि उन्होंने उन छोटी छोटी बातों को ग्रहण करके अपने जीवन को किस प्रकार उच्च बनाया है। मनोयोगपूर्वक कार्य करने की लगन तो पंडित जी में पहले ही से थी परन्तु डा० बेसेंट के संपर्क में आने पर उनकी यह शक्ति और भी बढ़ गई। समय का पालन और उसके सदुपयोग के विषय में माता एनी बेसेंट की अनेक घटनाएँ उन्होंने सुनाई हैं। हम देखते हैं कि वे सभी बातें पंडित जी में उसी रूप में पाई जाती हैं जिस रूप में स्वर्गीया माता में थीं। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रीमती एनी बेसेंट के आदर्शों की सजीव प्रतिमा यदि आज कहीं वर्तमान है तो वह पंडित जी के रूप में है। हमें उस मूर्ति की पूजा करने का अवसर प्राप्त है इसका हमें गर्व है।

पंडित जी के सिद्धान्तवादी होने की चर्चा अनेक संस्मरण-लेखकों ने की है। जिन्हों ने उन्हें बहुत निकट से देखा है उन्हें तो पंडित जी का भीतरी रूप भी दिखाई पड़ गया है और उन्होंने देखा है कि सिद्धान्तवाद के साथ-साथ उनमें दया और सहानुभूति भी प्रचुर मात्रा में है जो केवल शाब्दिक न हो कर व्यावहारिक होती है। परन्तु जिन्हें उनका भीतरी रूप देखने का अवसर नहीं मिला उन्होंने तो अवश्य ही उन्हें रूखा और गंभीर पाया होगा। वास्तव में अपने "व्याघ्रमुखमृगत्व" के कारण पंडित जी सभी संस्थाओं में, जहाँ उन्हों ने कार्य किया है, 'लोकप्रिय' होने

में असफल रहे हैं। 'लोक-प्रियता' के लिए तो और ही "गुणों" की आवश्यकता होती है। आजकल हमारे देश में सिद्धान्त-पालन को "हृदयहीनता" और किसी की सुविधा के लिए सिद्धान्तों की उपेक्षा करने को" "सहृदयता" कहते हैं। परन्तु विचारवान लोगों ने यह स्वीकार किया है कि आज स्वाधीन भारत के नागरिकों में जो चरित्र की दुर्बलता और अधिकारियों में कर्तव्य की उपेक्षा, पक्षपात, इत्यादि दिखाई पड़ रहा है और शासन में इतनी अव्यवस्था है उसका मूल कारण यह तथाकथित "सहृदयता" ही है। यदि हम सच्ची सहृदयता चाहते हैं तो हमें अपने जीवन में कर्तव्य को पहला स्थान देना होगा और पंडित जी की तरह सिद्धान्तवादी बनना पड़ेगा। जब हम अपने स्वार्थों को भुलाकर देश और समाज के हित का ध्यान रखेंगे तभी हम देश में सच्चा स्वराज्य (स्वर्गीय बापू के शब्दों में "रामराज्य") ला सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग ने पंडित जी को भली भाँति नहीं समझा। परन्तु हमें विश्वास है कि स्वतंत्र भारत की भावी संतान उनके सिद्धान्त-वाद की दाद देगी और उसकी क़द्र करेगी। महाकवि भवभूति के शब्दों में हम पंडित जी से निवेदन करना चाहते हैं कि—

उत्पत्स्यतेति तव कोऽपि समानधर्मा ।
कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥

पंडित जी के जीवन की बहुत सी बातें इन संस्मरणों में नहीं आईं। हमारा विचार था कि हम उनके किसी घनिष्ठ समवयस्क से उनका संक्षिप्त जीवन वृत्त लिखा कर इस ग्रंथ में प्रकाशित करेंगे, परन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा कोई व्यक्ति जल्दी में न मिला। पंडित जी स्वयं कोई बात बताते ही नहीं। बड़ी कठिनाई से उनके विद्यार्थी जीवन की प्रतिभा के संबंध मे हमें पता चला है कि एल्-एल्० बी० की परीक्षा में उन्हें प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त हुआ था जिसके लिए विश्वविद्यालय ने उन्हें एक स्वर्ण पदक तथा अन्य पुरस्कार प्रदान किया था।

पंडित जी के अनेक व्याख्यानों और लेखों में उनके ठोस मौलिक विचार भरे पड़े हैं। वे विचार विद्वानों और गंभीर विचारकों के लिए—विशेषतः शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करने वालों के लिए—बड़े मूल्यवान सिद्ध होंगे। उनमें से कुछ को हम इस अभिनंदन-ग्रंथ में देना चाहते थे परन्तु समयाभाव के कारण नहीं दे सके। यदि अवसर मिला तो हम इन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित करने का प्रयत्न करेंगे।

अन्त में ठीक समय पर इस अभिनंदन-ग्रंथ के प्रकाशित हो जाने की प्रसन्नता में हम उन सभी लोगों को हार्दिक धन्यवाद देते हैं जिन्होंने इस कार्य में हमारी सहायता की है।

(शुभ मिति आश्विन कृष्णा ३ सं० २०१० वि०)

विषय-सूची

संख्या विषय पृष्ठ

अंग्रेजी विभाग

सं० विषय पृष्ठ

————

संयुक्त प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा का सदस्य होने पर
(१९२१)

काशी नरेश श्रीमन्महाराज श्री विभूति नारायण सिंह जी

की

शुभ कामना

पं० इकबाल नारायण गुर्टू की त्यागपूर्ण सेवाओं के लिए हम उन के चिर ऋणी रहेंगे। भारतवर्ष में लाभ, प्रतिष्ठा तथा ख्यातिकी प्राप्ति का ध्यान न रखते हुए अधिकांश समय शिक्षा के क्षेत्र में लगाने वाले त्यागमूर्तियों में गुर्टू जी का स्थान प्रथम श्रेणी में आता है। ऐसे महान व्यक्तियों से देश का गौरव बढ़ता है। हम आप को अपने बीच पाकर अपने को भाग्यशाली समझते हैं। समाज तथा देश को आप के अनुभव तथा पथ-प्रदर्शन का लाभ बहुत बहुत काल तक उपलब्ध रह सके, उनका स्वास्थ्य इस के लिए अनुकूल रहे, यही हमारी हार्दिक शुभकामना है।

॥ श्रीः ॥

श्रीमदामनेकविश्वविद्यालयोपकुलपतिकुलपतिपदालङ्कारभूतानां सर्वदा विद्या-प्रचारतत्पराणामतिमहनीयचरित्राणामृषितुल्यानां डाक्टरपण्डितश्रीइकबाल-नारायणगुर्टूमहोदयानामायुषः पादोनवर्षशतपूर्तिनिमित्तप्रवर्तितमहोत्सवे ।

शुभाशंसनम् ।

शारदा शारिका क्षीरभवानी ज्वालिका पुनः ।
श्रीदेवोऽमरनाथश्च पान्तु कश्मीरजान् द्विजान् ॥ १ ॥

सारस्वते समुदिते परमे पवित्रे
क्षेत्रे विशिष्टकृतिकृद् जनताहिताय ।
सोऽयं गुर्टु कुलजो विदुषां विशिष्टो
राराज्यतां सुतमित्रकलत्रयुक्तः ॥ २ ॥

आलये विश्वविद्यानां श्रेष्ठं कुलपतेः पदम् ।
प्रयागे काशिकायां च समभूषयत कीर्तिमान् ॥ ३ ॥

अपीपैलीसंस्थाप्रमुखपदके कार्यनिरतोऽ-
धुना विद्याकार्ये प्रबलतमयत्नेऽचलमतिः ।
ऋषीणां चारित्र्यं स्वचरितमिषेण प्रकटयन्
पुमान् धन्यो मान्यो गुरुटुकुलजो विश्वमहितः ॥ ४ ॥

पादोनवर्षशतके वयसि प्रयाते
विद्याविवर्धनरतोऽनलसोऽतिधीमान् ।
नारायणस्त्विकबलेतिपदेन युक्तो
जीव्यादुमेशकृपया शरदां शतं च ॥ ५ ॥

इति श्रीभगवन्तमुमारमणं काशीपुरीपालकं विश्वनाथमभ्यर्थयते–

आश्विनवद्य २–२०१० भृगुवासरे,
(ता० २५-६-१९५३)

अनन्तशास्त्री फड़के
व्या. आ., मी. तीर्थ, वेदान्तकेसरी
प्रा. ग. सं. कालेज, एवं विश्वसंस्कृतपरिषद्, काशी.

गुर्टू-प्रशस्तिः

[डा० श्री जी० श्रीनिवास मूर्ति, मैयरल, मद्रास]

विद्वद्वरेण्यः सुगृहीतनामा
नारायणो गुर्टुपदोपनामा ।
विख्यातकश्मीरबुधान्ववायो
विद्याकलावर्धनबद्धदीक्षः ॥१॥

श्री ब्रह्मविद्यासदसः सदस्यो
देवीवसन्तागुरु शिष्यवर्यः ।
श्री जार्जअरुण्डेल् सहकारदक्षो
यन्मित्रमाहुर्जिनराजदासम् ॥२॥

विद्यास्थानपतिः स्वयं कुलपतिर्विद्यापतिश्चाप्यसौ
नैकस्थानपतिश्च राजसदसीत्येवं चकारामिताम् ।
सेवां लोकहितैषिणीं निरुपमां श्रीकृष्णमूर्तेः पथि
भ्रष्टः संचरतां सतां पुनरसौ वर्वर्ति सत्त्वोत्तरः ॥३॥

सोऽयं विद्वान् वत्सरेऽस्मिन् विजये पदमादधत् ।
पट्सप्ततितमे वर्षे चिरायुष्यमवाप्नुयात् ॥४॥

नारायणप्रसादेन गुर्टोर्नारायण प्रभोः ।
जगत्यां पुण्यचरितं वर्धतामभिवर्धताम् ॥५॥

इक्वल्नारायणविभोर्गुर्टोः श्वःश्रेयसं परम् ।
आशास्तेऽयं श्रीनिवासमूर्तिः स्वर्णमहोत्सवे ॥६॥

श्री "इकबाल" प्रशस्तिः ।

[श्री त्र्यंबक आत्माराम भण्डारकर, एम.ए., साहित्याचार्य, वसन्त कालेज, काशी]

स्वस्ति स श्री कबालाख्यो
नारायण पदान्वितः ।
जीवेत्स इ न्दु शुक्लाभः
श्रीगुर्टुः शरदां शतम् ॥ १ ॥

अयमे कः सतामग्रे
परार्थानन्दितान्तरः ।
स्वीयार्थ बा धित स्वान्ताः
सन्ति सन्तः सहस्रशः ॥ २ ॥

मान्यः कु ल पतिश्चायं
सौजन्यामृत सागरः ।
गृहीते ना म्नि यस्यास्ते
सादरं सर्वदान्तरम् ॥ ३ ॥

कथं न रा जमानाः स्युः
काश्मीरोज्वल दीप्तयः ।
गुणास्त स्य पुनः सर्व—
लोकाकर्षण हेतवः ॥ ४ ॥

पराय णाः स्वयं शिक्षा—
दीक्षा कार्ये निरन्तरम् ।
सर्वतोऽ गुर् जगत्यस्य
सुधाधवल कीर्तयः ॥ ५ ॥

नित्यं प ट्टु तरश्चासा—
वनुशासन पालने ।
अग्रणीर् म हतां जानन्
गुणदोपान्तरं सुधीः ॥ ५ ॥

करोत्य हो महत्कार्यं
स्वीकृत्य समदृष्टिताम् ।
किं पयो दः स्वयं कुर्या—
दुर्वरो परयोर्भिदाम् ? ॥७॥
सर्वेऽपि या न्ति सम्मोदं
दर्शनेनास्य मानवाः ।
कमला नां विकासाय
कोऽलमर्यमणं विना ? ॥८॥

शुभाशंसा

[*श्री कृपाशंकर लाल श्रीवास्तव, बी. ए., बी. एड्., सुलतानपुर*]

शत शरदों तक जिएँ आप पी प्रीति-सोमरस
यश की सुरभित ज्योत्स्ना से हो जीवन ज्योतित
करुणा-श्रद्धा से उर्मिल हो निस्तल मानस
श्री इकबाल नरायन प्रभु से विनय यही नित
मौन सुमन-सा सेवा-शिक्षा-रत तव जीवन
खिले प्रेरणा की पंखड़ियों में संजीवन
छवि-मधु-परिमल से समृद्ध हो जग का उपवन
करें आप जिज्ञासु मधुव्रतों का आकर्षण
लोक-प्रीति के वैभव से प्रमुदित हो संसृति
झंकृत हो युग-वीणा मानव-विजय-नाद से
पशुता-हिंसा-जड़ता का तम पराभूत हो
मुक्त बने नव संस्कृति स्वार्थों के प्रमाद से

आशंसा

[श्री यमुनादत्त शास्त्री, अध्यापक, बेसेन्ट कालेज, काशी]

१

वाणी स्वयं वसति यद्वदनारविन्दे
 कारुण्यमन्द लहरी नयनारविन्दे ।
ओजस्तथा लसति चारु करारविन्दे
 धैर्यं समुल्लसति यद्धृदयारविन्दे ॥

२

यः कोविदान्वयमणिर्मधुरोऽत्युदारः
 शिष्टानुशिष्ट जनमान्य लसद्विचारः ।
सद्राजनीति कुशलो जनमानपात्र–
 माचार्य गुर्टुविबुधो विजयं तनोतु ॥

३

प्रमुदितजनयुक्ते शुद्धभावस्वभावे ।
 विबुधजन समाजे ख्यात भव्य प्रभावे ।
अभिनव विधुकान्तौ लोकतापैकशान्तौ
 बुधवर इकबाले भक्तिरस्माकमस्तु ।

४

वासन्त शिक्षण महा भवनं प्रसिद्धं
 श्रीमद्भिरार्यचरणै विहित प्रबन्धम् ।
यस्योन्नतावनुदिनं धृतकार्यभारः
 श्रीगुर्टु कोविदवरो वितनोतु कीर्तिम् ॥

पंडित इकबाल नारायण गुर्टू

[श्री श्रीप्रकाश, राज्यपाल, मद्रास]

मेरे जैसे लोगों के लिये जो पंडित इकवाल नारायण गुर्टू को आज करीव ५० वर्षों से जानते हैं, और जो उनके प्रति असीम श्रद्धा रखते हैं. जो उनसे पढ़ चुके हैं, और जिन्होंने उन्हें कितने ही कार्यक्षेत्रों में वड़ी कुशलता और सफलता के साथ कार्य करते हुये देखा है, उनके संवंध में लिखना कठिन है, क्योंकि ऐसी लिखाई में साधारणतः या तो ऐसा समझा जाता है कि कोई प्रशंसक व्यर्थ की अतिशयोक्ति भर रहा है, या यह माना जाता है कि किन्हीं व्यक्तिगत कारणों से कोई व्यर्थ ही असमालोचनात्मक टिप्पणियाँ कर रहा है। जव मुझे आमंत्रण भेजा गया कि मैं श्री पंडित जी के संवंध में कुछ लिखूँ, तो मुझे वड़ा आनंद और संतोष हुआ, और मैं उनके प्रति अनुगृहीत हुआ हूँ जिन्होंने इस शुभ अवसर पर, जव पंडित जी अपने उपयोगी जीवन के पचहत्तर वर्ष समाप्त कर रहे हैं, मुझे याद किया, और चाहा कि मैं भी उनके अभिनंदन ग्रंथ में दो-चार शव्द लिखकर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करूँ। साथ ही मुझे संकोच और असमंजस भी प्रतीत हुआ कि कहीं मैं कुछ अनुचित न लिख दूँ, और पुराने राजनीतिक मतभेदों के कारण कुछ अन्याय न कर बैठूँ। शिक्षक और विद्यार्थी का संवंध ऐसा भी नहीं होता जिसमें कटु अनुभव न हुआ हो, और इस कारण भी मैं अपना मन स्थिर न कर सका कि मैं कुछ लिखूँ या न लिखूँ। अन्त में मैंने यही उचित समझा कि जब मुझसे कुछ लिखने को कहा गया है तो मैं अवश्य कुछ लिखूँ, यद्यपि मुझे इसका भय है कि वहुत-सी ऐसी बातें संभवतः मैं दुहरा रहा हूँ जो कि और भाई भी लिख रहे होंगे।

मेरे लिये यह उचित है कि मैं आरंभ में ही यह लिख दूँ कि मेरे कुटुम्ब का, पंडित इकबाल नारायण गुर्टू के काशी में आने के दिन से, उनके कुटुम्ब से बड़ा ही निकट संबंध रहा है। श्रीमती एनी वेसेंट से आकृष्ट होकर, और उनके शिक्षा संवंधी कार्य में भाग लेने के लिये जैसे और लोग आये, वैसे पंडित इकबाल नारायण जी भी काशी आये। यह सन १९०५ की बात है। उनकी स्त्री और बच्चों से मेरीमाताऔर हम सब भाई-बहनों का बड़ा घनिष्ठ संबंध आरंभसे ही हो गया, औरयद्यपिपंडितजीको मैं 'पंडित जी' ही पुकारता रहा, पर पुरानी प्रथा के अनुसार उनके वालक-वालिका मेरी माता को, और हम भाई वहन उनकी स्त्री को, मौसी के नाम से जानते रहे, जो संबंध आज तक बना हुआ है। यह भी एक विशेष रूप से स्मरण रखने की बात है कि पंडित इकवाल नारायण गुर्टू अन्य प्रवासी कश्मी-

रियों की ही तरह समाज सुधारक रहे। कश्मीरी पंडितों के नाम से वर्णित जो छोटा-सा, पर प्रभावशाली, सारस्वत ब्राह्मणों का समुदाय एक तरफ पंजाब, दिल्ली, उत्तरप्रदेश में और साथही दूसरी तरफ मध्य भारत के कुछ प्रदेशों में किसी समय अपने जन्मस्थान कश्मीर से निकलकर बसा, उसके सदस्यों ने मुगलों के जमाने में और विशेषकर अंग्रेजों के समय सरकारी नौकरियों और कानून के पेशे में पर्याप्त ख्याति पायी। इन्हें अपना बड़ा गर्व भी रहा। हिन्दू प्रथाओं को अपने कौटुम्बिक जीवन में ये दाँत से पकड़े रहते रहे हैं, और यदि इन्हें इस संबंध में रूढ़िवादी भी कहा जाय, तो अनुचित न होगा। पर बाहर ये बड़े समाज सुधारक का रूप धारण करते रहे, और हिन्दू समाज के अन्य अंगों को कुछ अपने से कम सभ्य अथवा परिष्कृत मानते रहे। ये लोग आपस में ही विवाह करते आये हैं। इनकी स्त्रियाँ यद्यपि बाहर के लोगों के सामने पर्दा करती रहीं, पर अपरिचित कश्मीरी पुरुषों के सामने भी नहीं करती रहीं। मांस भोजन का इनके यहाँ बड़ा प्रचार रहा, और मैंने पहले पहल पंडित जी के ही यहाँ "मालन" शब्द सुना, और जाना कि मनुष्य भी पशुओं का मांस खाते हैं, क्योंकि मेरे कुटुम्ब में, अथवा अन्य ऐसे कुटुम्बों में जिनसे मेरे कुटुम्ब का सजाति अथवा मैत्री का संबंध था, पशु-मांस नहीं ही खाया जाता था। श्रीमती एनी बेसेंट और उनके सहयोगी विदेशी स्त्री-पुरुष भी, जिनसे हमारे कुटुम्ब की घनिष्ट मैत्री थी, मांस भोजन का त्याग कर चुके थे। बंगाली मछली खाते हैं, यह तो मैंने सुन रखा था, पर इससे अधिक मांसाहारी नर-नारियों का मुझे कोई अनुमान नहीं था।

ये प्रवासी कश्मीरी समाज सुधारक रहे। आमिषभोजन भी संभवतः सुधार समझा जाता था। इन्होंने समुद्र यात्रा की जो सामाजिक रोक थी, उसे तोड़ा। इनकी कौटुम्बिक शिक्षा-दीक्षा सुसंस्कृत मुसलमानों की सी रही है, पर जैसा मैं ऊपर कह चुका हूँ, कौटुम्बिक जीवन में ये कट्टर पुरातनवादी हिन्दू ही रहे। साथ ही समाज सुधारक भी समझे जाते रहे क्योंकि इनके यहाँ पर्दा की प्रथा बहुत कम थी, और स्त्री-पुरुषों का सामाजिक जीवन में परस्पर का साथ भी अधिक रहता रहा। सुधार प्रायः इस कसौटी पर उचित रूप से ही कसा जाता है कि स्त्रियों का समाज विशेष में क्या पद है। और कश्मीरी समाज में अवश्य ही स्त्री का ऊँचा पद रहा। उनमें शिक्षा भी पर्याप्त रूप से रही। बाल विवाह की भी प्रथा कम रही। इन्होंने यदि एक तरफ़ इस्लामी सभ्यता को अपनाया, तो दूसरी तरफ़ अंग्रेजी सभ्यता को भी अपनाने में इन्हें देर न लगी। यद्यपि ये अधिकतर हिन्दी भाषा वाले प्रदेशों में रहे, पर हिन्दी को निकृष्ट "भाखा" ही मानते थे, और संस्कृत से केवल अनभिज्ञ ही नहीं रहे, वे उसके प्रति पर्याप्त रूप से उपेक्षा का भाव रखते थे, और समझते थे कि इसके कारण ही देश में इतनी खराबी है। तथापि अपने को उच्च श्रेणी के ब्राह्मण मानने में इन्हें विशेष गर्व होता रहा, और अपने

व्यक्तिगत और सामाजिक वैभव के कारण प्रवासी कश्मीरी, कश्मीरी होने का मान रखते हुये भी, कश्मीर के अधिवासियों से कोई प्रत्यक्ष संबंध नही रखते थे, और विवाह-शादी आदि परस्पर का संबंध सब प्रवासियों में ही होता रहा।

इतनी लम्बी भूमिका इस कारण आवश्यक हुई कि पंडित इकबाल नारायण गुर्टू के व्यक्तित्व और चरित्र-बल को बिना इसके नहीं ही समझा जा सकता। जिन व्यक्तिने ऐसे समाजमें जन्म लिया और शिक्षा-दीक्षा पायी, वे किस प्रकारसे श्रीमती एनी बेसेंट और उनके द्वारा स्थापित शिक्षा-केन्द्र काशी के सेंट्रल हिन्दू कालेज की तरफ आकृष्ट हुये, यह एक रहस्य की बात है, पर ऐसी घटना ऐसे ही वातावरण में संभव थी जो हमारे देश में उन्नीसवीं सदी के अन्तिम और बीसवीं सदी के प्रथम चरण में व्याप्त था। उस युग में विचारवानों के हृदय भयानक संघर्षों की रंगभूमि बन गये थे, और लोग घबड़ा उठे थे कि आखिर हम किधर जा रहे हैं, और हमारे देश और समाज का क्या होनेवाला है। इस प्रश्न का उत्तर तो पंडित जी ही स्वयं दे सकते हैं—कोई दूसरा नहीं ही दे सकता—कि क्या बात थी जो उन्हें काशी घसीट लायी। संभव है कि अन्य कितने सुशिक्षित नवयुवकों की तरह— क्योंकि उनकी अवस्था उस समय केवल २७ वर्ष की थी, और वे उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद अवश्य ही अपने जीवन-कार्य की समस्या पर विचार कर रहे होंगे—वे भी श्रीमती एनी बेसेंटकी विलक्षण वाणीसे आकृष्ट हो गये; और अपने देश की पुरानी महिमा को एक प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध अंग्रेज स्त्री के मुँह से सुनकर, अपने पूर्वजों के गूढ़ और विशाल विचारों के गौरव की शिक्षा इनके द्वारा प्राप्त करके, और भावी भारत के महत्व की संभावना का अनुभव करके, उन्होंने इनके ही साथ काम करना निश्चित किया, और विचार किया कि इनके नेतृत्वमें ही हमारे देश की उन्नति है जिसमें मुझे भी भाग लेना चाहिए। जो कुछ हो, मैं स्वयं यह जानता हूँ कि इनके घर के और लोग इनकी आकांक्षा के समर्थक नहीं थे। इनके समुदाय का विचार तो इनसे बहुत पृथक् था। बहुत संभव है कि इनके कुटुम्बी जन, मित्र और रिश्तेदार यही आशा करते रहे कि ये भी अपनी कुल परंपरा बनाए रख वकालत में बहुत नाम और रुपया कमायेंगे, अपने पिता की तरह ही प्रसिद्ध होंगे, अपने समाज में विशिष्ट स्थान प्राप्त करेंगे। ऐसे लोगोंको तो बहुत ही हतोत्साह होना पड़ा होगा जब इन्होंने एकाएक काशी आना तय किया होगा। इनकी स्त्री और बच्चों के हृदयों में भी अवश्य खलबली मची होगी क्योंकि काशी में, जहाँ तक मैं जानता हूँ, कोई इस समुदाय के लोग उस समय नहीं थे और जो पीछे आये भी, वे संभवतः इन्हीं के उदाहरण से आये, किसी दूसरे कारण से वे काशी की तरफ ध्यान नहीं ही दे सकते थे।

जहाँ तक मैं याद कर पा रहा हूँ, ये अपने समुदाय के सब विचारों को लेकर काशी आये। इनकी कौटुम्बिक संस्कृति वही रही जो साधारणतः प्रवासी कश्मीरी

भी होती है। मैं तो इनके साथ कौटुम्बिक उत्सवों में सम्मिलित हुआ हूँ। यहाँ पुरानी परंपरा का ही सदा पालन होते हुए पाया। पर इनका कोई संपर्क भारत के पुराने विचारों से नहीं था। हाँ, स्वाभाविक रूप से थियासोफी एनी बेसेंट की छाया अवश्य इनके ऊपर भी रही, जैसी कि कितने ही अन्यों के ऊपर थी। साथ ही शिक्षा की तरफ इनकी विशेष भावना थी, और देश में उचित शिक्षा के प्रचार के लिए इन्हें विशेष उत्साह रहा। सेंट्रल हिन्दू कालिज से संलग्न अन्य पुरुषों का इन-के साथ बहुत मेल हो गया, जिससे कि जहाँ तक मैं जानता हूँ इनकी स्त्री और बच्चाओं को—इन्हें कोई पुत्र नहीं है—ऐसा कभी भी प्रतीत नहीं हुआ होगा कि हम परदेश में हैं अथवा अनजिनों के बीच में हैं। यहीं के ही संपर्क से पंडित जी को देश के पुराने विचारों से संपर्क हुआ, और वे विद्यासागर और विद्यावारिधि गोस्वामियों से भी रस लेने लगे। जहाँ तक मैं जानता हूँ, जब वे आरंभ में आये थे, वे गोस्वामियों के सदृश भी नहीं थे। इनका अनुराग विद्यासागर से बहुत दूर रहता था। यह इसे पुरानी संस्कृति के पुनर्जागृत करने और देश को पीछे ले जाने के अनुचित प्रयत्न का साधन मानता था। इस सब को पंडित इकबाल नारायण गुर्टू के प्रति आरंभ में ही विशेष रूप से इस कारण अनुगृहीत होना चाहिये कि इन्होंने विलक्षण साहस से काम लिया, जब एक प्रकार से अपने समाज से अपने को काटकर और अपने कुटुम्ब को दुःखी करके, केवल २७ वर्ष की अवस्था में यह तय किया कि हम देश के नवयुवकों को धार्मिक शिक्षा के आधार पर सुसंस्कृत और सुशिक्षित करके देश के उद्धार का साधन बनायेंगे।

पंडित इकबाल नारायण गुर्टू की प्रकृति सदा से कुछ ऐसी मधुर रही है कि उन्होंने बहुत जल्दी ही सब से मैत्री स्थापित कर ली, और विशेष परंपरा के कारण उनकी स्त्री को भी सब से मिलकर निकट संबंध कायम करने में कुछ देर न लगी। आरंभ में ये हिन्दू कालिज के पूर्वी फाटक के सामने एक कोठी में रहते थे। यह स्थान इस समय "ऋषि-शाला" के नाम से जाना जाता है। मैं इसे बचपन से जानता था क्योंकि यह मेरे पिता और पितृव्यों के बड़े ही प्रिय मित्र मुन्शी जग-कृष्ण जी का स्थान था। पंडित जी के यहाँ मेरे कुटुम्ब के लोगों का इनके आने के आरंभ के ही दिनों में एक रात्रि को भोजन का निमंत्रण था। मुझे समय पालन करने का बहुत छोटी अवस्था से ही अभ्यास रहा। ठीक समय से मैं अपने छोटे भाई के साथ कोठी के दरवाजे पर पहुँचा। गर्मी का दिन था। मैंने भीतर पहुँचते ही पंडित जी की बड़े गुस्से की आवाज सुनी। वे भी संभवतः कुछ ही पहले पहुँचे थे। उनको आशा थी कि नौकर कुर्सी आदि बाहर चबूतरे पर निकाल सब प्रबंध कर रखे होंगे जिससे मेहमानों के आते ही उनका समुचित रीति से स्वागत किया जा सके। उसने ऐसा नहीं किया था। इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं, क्योंकि १९०५ के काशी के नौकरों की वैसी शिक्षा-दीक्षा नहीं थी जैसी कि पंडित इकबाल नारायण गुर्टू ने कानपुर और इलाहाबाद के अपने समाज के अनुभव

से समझ रखा था। वे बहुत ही नाराज़ हो रहे थे। ऐसी अवस्था में जैसा स्वाभाविक ही होता है, उनकी आवाज़ काफी ऊँची थी। मैंने अपने भाई को दरवाजे पर ही रोका। कहा कि पंडित जी नाराज मालूम पड़ते हैं। इस समय चलना ठीक नहीं है। हमें देखकर वे असमंजस में पड़ जायँगे। मेरी अवस्था १५ और भाई की ११ की थी। जैसा होता है, पंडित जी को भी संभवत ऐसा ख्याल न रहा होगा कि कोई भी समय से पहुँच जायगा। वास्तव में मेरे पिता, चाचा आदि काफी देर करके आये। थोड़ी देर में जब उनकी आवाज़ शान्त हुई, हम लोग गये। उन्होंने हम लोगों को अपनी रौद्र अवस्था में नहीं देखा। इस कारण उन्होंने जाना भी नहीं होगा कि उनकी आवाज़ हमने सुनी, और आज यदि वे इसे पढ़ेंगे तो पहली वार जानेंगे कि अड़तालीस वर्ष पहले मैंने उनका अनुभव ऐसे रूप में भी किया है जिसका वे संभवतः यह न चाहते होंगे कि कोई भी करता।

मुझे वह भोज याद है। लड़कियाँ जो खाना परोस रही थीं, किसी पदार्थ को "कबाब" कहती थीं, किसी को ऐसे ही अन्य नाम से पुकारती थीं, जिससे मुझे कुछ मन में शंका हुई कि यह भोजन खाने योग्य नहीं है। कश्मीरियों का भोजन बड़ा गरिष्ठ भी होता है। घी का अत्यधिक प्रयोग होता है। एक बार हमारे वर्तमान प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू जी जब मेरे यहाँ ठहरे हुये थे, और महात्मा गाँधी जी के प्रभाव के कारण मांस-भोजन का उन्होंने त्याग कर दिया था, मुझ से कहने लगे कि तुम्हारा खाना बहुत पसंद आता है, कश्मीरी भोजन से तो मैं परेशान हो गया, मुझे ऐसा रसोइया देते जो इस प्रकार का भोजन बना सके जैसा तुम खाते हो। उलटे श्री सी० वाई० चिन्तामणिने मेरे भोजन को 'मोस्ट इंसिपिड' (नितान्त रसहीन, स्वादहीन) बतलाया था। जो कुछ हो, उस समय मैं कुछ भी न खा सका। पीछे बहुत बार पंडित जी के यहाँ मैंने भोजन किया है, और अच्छी तरह किया, पर मुझे फिर किसी ने "कबाब" के नाम से नहीं डराया, और मुझे भी विश्वास हो गया कि पंडित जी का कुटुम्ब चाहे पहले कुछ भी क्यों न खाता रहा हो, अब मेरी ही तरह निरामिषभोजी है, और सब्जी-भाजी के भी विशेष व्यंजन 'कबाब' और अन्य भयावह नामों से पुकारे जा सकते हैं।

अगर मैं ४८ वर्षों की कथा सुनाने लगूँ तो बहुत विस्तार हो जायगा। लिखते हुए बहुत-सी घटनाएँ याद आ रही हैं। पंडित जी अंग्रेजी भाषा में बड़े प्रवीण हैं, और वे मुझे भी स्कूल की कक्षाओं में अंग्रेजी पढ़ाते रहे। कभी कभी इनकी लिखाई को हम श्रीमती एनी वेसेंट की भाषा से तुलना करने लगते थे। उन दिनों मिस्टर जार्ज अरंडेल स्कूल के हेड मास्टर (प्रधान अध्यापक) थे, और जब कुछ दिनों के लिये वे छुट्टी पर गये, तो पंडित जी उनके स्थान पर काम करते रहे। आज के उनके विद्यार्थियों को यह विचार करना कठिन होगा, क्योंकि आज वे बड़े मृदु हैं, कि किसी समय उनके विद्यार्थी उनसे भयभीत रहते थे।

कक्षाओं में इनका इतना आतंक रहता था कि कोई गड़बड़ी नहीं हो सकती थी, और यदि हममें से किसी ने कुछ गड़बड़ी की, तो इनका हमारी तरफ देख लेना मात्र ही हमें चुप करने के लिये पर्याप्त था। यह बात सब शिक्षकों के संबंधमें नहीं कही जा सकती। जब ये प्रधान अध्यापक रहे, तो सब अन्य शिक्षक भी इनसे काफी भय रखते रहे। जहाँ तक मुझे स्मरण आता है, नौकर को डाँटने की उपर्युक्त घटना के अतिरिक्त मैंने इन्हें कभी भी क्रोध अथवा आवेश में बात करते हुये नहीं पाया। पर इनके व्यक्तित्व का बहुत बड़ा प्रभाव रहता था। सब बड़े छोटों के साथ इनका सामाजिक व्यवहार सदा शिष्ट ही रहा है। उन दिनों में अंग्रेज महिलाएं भी हमारे स्कूल में पढ़ाती थीं। श्रीमती एनी बेसेंट अपने देश की परंपरा के अनुकूल उचित रूप से यह ठीक समझती थीं कि स्त्रियों को बालकों को पढ़ाने का कार्य करना चाहिये। विदेशों से यहां आये हुये शिक्षा के कई समीक्षकों ने भी यह आश्चर्य प्रकट किया है कि भारत में महिलाएँ बहुत कम शिक्षक होती हैं। हमारे यहाँ हिन्दू कालेज में मिस एडगार, मिस अरंडेल, मिस हेरिंगटन आदि कई योग्य महिलाओं ने शिक्षा का काम किया, जिसके लिये पर्याप्त रूपसे कृतज्ञता प्रकट करना हमारे लिए संभव नहीं है। हमारे योग्यतम शिक्षकों में श्री काली प्रसन्न चक्रवर्ती थे। ये हमें गणित पढ़ाते थे। हम सब इनका विशेष रूपसे सम्मान करते थे। इन्होंने मुझसे एक बार कहा था कि जब मिस हेरिङ्गटन पढ़ाती हैं, और मैं उनकी कक्षा के सामने से गुजरता हूँ, तो स्वयं मुग्ध होकर खड़ा हो जाता हूँ, और आश्चर्य करता हूँ कि कैसे ये ऐसे सुन्दर और आकर्षक रूप से पढ़ा सकती हैं। इन्हीं शिक्षिकाओं में मिस अलबेरस नामक भी एक स्त्री थी, जो स्कूल में पढ़ाती थीं। ये बड़ी जबर्दस्त औरत थीं। इनसे सब कोई डरता था। सब लोगों का ख्याल था कि ये कुछ पागल-सी हैं। जब ये शाम को टहलने निकलती थीं, तो एक हाथ में छाता, एक में छड़ी लेकर दोनों तरफ उन्हें फैलाकर कमच्छा से दशाश्वमेध की तरफ जाती थीं जिससे सारी सड़क ये ही भर लेती थीं, और काशी की सड़कें ऐसी चौड़ी भी नहीं हैं कि और लोगों को इस प्रकार से चलने वाले से कष्ट न हो। इसकी काफी शिकायत भी थी। यह औरत सबको डराती थी, पर पंडित इकबाल नारायण गुर्टू से यह बहुत डरती थीं, और उनको देखते ही जैसे स्तंभित रह जाती थी, यद्यपि ये कुछ उनसे कहते नहीं थे। अवश्य ही इनमें कोई आध्यात्मिक बल होगा जिसके कारण ये इतना प्रभाव रख सकते थे। इनकी अवस्था उस समय ३० से कम ही रही होगी।

पंडित इकबाल नारायण गुर्टू अपने समय में बहुत से पदों पर आसीन हो चुके हैं। सबकी ही मर्यादा इन्होंने बढ़ायी। इन्होंने बहुतसे विरोधों का भी सामना किया है। परन्तु अपनी शिष्टता और व्यक्तिगत मैत्री और सद्व्यवहार को इन्होंने कभी भी नहीं छोड़ा। मेरे ऊपर इनकी विशेष कृपा होने के कारण इनके प्रति मेरा पक्षपात हो सकता है। बहुत-सी बातों में विगत ३०-३५ वर्षों के राजनीतिक संघर्ष

के कुसमय में मतभेद होते हुये भी मेरे हृदय में इनके लिये व्यक्तिगत रूपसे सदा बड़ा ही सम्मान बना रहा, और जहाँ तक मुझे मालूम हुआ है, इन्होंने भी अपने हृदय में मेरे प्रति कभी भी विश्वास अथवा प्रीति में कमी नहीं होने दी। पंडित जवाहरलाल नेहरू से एक वार बातों के प्रसंग में हेडमास्टरों की चर्चा आयी। वे तो इंगलैंड के प्रसिद्ध हैरो स्कूल में पढ़ चुके हैं, और हैरो के हेडमास्टरों का क्या कहना है। जब उन्होंने मुझ से पूछा कि तुम अपने हेडमास्टरों में किनको सब से बड़ा मानते हो तो मैंने तत्क्षण उत्तर दिया—'पंडित इकबाल नारायण गुर्टू' को। मेरे लिये ऐसा कहना कोई साधारण बात नहीं थी क्योंकि संभवतः मेरे समय के अधिकतर विद्यार्थी ऐसे प्रश्न के उत्तर में श्री जार्ज अरंडेल का नाम लेते। मुझे भी उनके लिये बड़ा स्नेह, आदर और सम्मान है। पर अपने हेडमास्टरों की गणना करने में मुझे पंडित इकबाल नारायण गुर्टू का नाम इस कारण सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होता है, कि हेडमास्टरों के कुछ विशेष गुण होते हैं, जो इनमें हैं या रहे, और जो हर प्रकार से योग्य होते हुये भी मिस्टर अरंडेल में मेरी समझ में नहीं रहे। पंडित जी से कोई अनुचित लाभ नहीं उठा सकता था, न किसी को यह साहस था कि इनके सामने मर्यादा का उल्लंघन करे। जब जवाहरलालजी ने मुझ से यह पूछा कि तुम ऐसा क्यों कहते हो (क्योंकि जहाँ तक राजनीति का संबंध है, पंडित इक-बाल नारायण गुर्टू का और उनका कभी भी सामीप्य नहीं रहा, और इस कारण संभव है, जवाहरलाल जी और इकबाल नारायण जी एक ही जन्म समुदाय के होते हुये भी उतना एक दूसरे को नहीं जानते, जितना सामीप्य के कारण दोनोंको ही मुझे जानने का अवसर मिला) तो मैं कोई उत्तर न दे सका। ऐसे प्रश्नों का उत्तर देना भी कठिन होता है। एक तो तुलना करना ही कोईसरल बात नहीं है, फिर किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व की परिभाषा देना और भी कठिन हो जाता है। यह कोई अवर्णनीय गुण होता है, जो कि अनुभव किया जाता है, पर जिसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। इस कारण मेरा यही उत्तर था कि मैं यह तो नहीं बतला सकता कि ऐसा मैं क्यों समझता हूँ पर मैं ऐसा ही समझता हूँ—इसमें कोई संदेह भी नहीं है।

मिस्टर अरंडेल अपनी अंग्रेजी परंपरा के कारण अपने विद्यार्थियों के बहुत-से कार्यों और आयोजनों में भाग ले सकते थे, और लेते थे, जो पंडित जी नहीं करते थे। यह पंडित जी में कमी मानी जा सकती है। जहाँ तक मुझे याद पड़ता है, पंडित जी का व्यायाम केवल टहलना था, पर यद्यपि खेलके मैदान में विद्या-र्थियों का इनका साथ नहीं था, पर वाद विवाद और अन्य बौद्धिक संस्थाओं में ये पर्याप्त रस रखते थे और शिक्षार्थियों की हर प्रकार से सहायता करते थे। हम सबने उन दिनों इंगलैंड की पार्लमेंट की नकलकर अपनी जो वादविवाद की सभा बनायी थी उसके अध्यक्ष (स्पीकर) के पद से पंडित जी ने कितने ही नये वक्ताओं को बल, उत्साह और सहायता दी। पंडित जी स्वयं

अंगरेजी और उर्दू के अच्छे ज्ञाता हैं। अपने दफ्तर संबंधी कार्यों में ये सदा व्यस्त रहते रहे और इसमें सदा से ये बड़े ही कुशल रहे। उतना संपर्क नव युवकों से ये नहीं कर पाते थे जितना कि संभवतः शिक्षकों के लिये आवश्यक समझा जाता है, तथापि एक अच्छे अर्थ में इनका भारी पाठशाला में आतंक रहता था, और अपने व्यक्तित्व मात्र से ये अनुशासन स्थापित करते थे, और सब लोगों को दत्तचित्त होकर अपना अपना कार्य करने को विवश करते थे। यह छोटी बात नहीं है। इसी सब की स्मृति ने मुझे अपने हेड मास्टरों में इन्हें सब से ऊँचा स्थान देने के लिये प्रवृत्त किया, और यदि मुझसे आज भी पूछा जाय तो मैं यही उत्तर दूँगा। मुझे इस बात का दुःख है कि आज की स्थिति में राजनीतिक विचारों और विभिन्न व्यक्तियों की आकांक्षाओं के संघर्ष में, और उनके निज के ही संकोची प्रकृति और साधारणतः अधिक आयु के कारण देश के सार्वजनिक कार्य में पंडित जी का समुचित प्रकार से उपयोग नहीं हो रहा है, जैसा कि लोकहित में हो सकता था और होना चाहिये। पंडित जी की यह विशेषता रही है कि ये जो कुछ कार्य उठाते हैं, बड़ी लगन से करते हैं। ये किसी की प्रशंसा की अपेक्षा नहीं करते, न किसी की टिप्पणी की ही परवाह करते हैं। गीता में कहे हुये "श्रेयां स्वधर्मो विगुणः" और "स्वधर्मे निधनं श्रेयः" का मैं इन्हें जीवित जाग्रत मूर्ति मानता हूँ। यदि कोई प्रमाण चाहे तो इसी में मिल सकता है कि बड़े बड़े विश्वविद्यालयों के कुलपति हो चुकने के बाद आज वे शिक्षा के काम में छोटे छोटे बच्चों की पाठशाला के संचालन में बड़ी तत्परता से लगे हुये हैं। उन्हें किसी और बात की अभिलाषा नहीं है। यदि कोई आकांक्षा है तो यह कि पाठशाला दिन प्रति दिन उन्नत हो, उसका लक्ष्य और आदर्श प्राप्त हो, उसके विद्यार्थी और शिक्षक सुखी रहें।

पंडित जी बड़े गंभीर प्रकृति के पुरुष हैं। मैंने इन्हें बहुत हँसते हुये या मजाक करते हुये नहीं पाया, और जो इनके नैसर्गिक गुण हैं, वे इनके सब कार्यों में सदा प्रदर्शित होते हैं। इनके काशी आने पर, ७ वर्ष हँसी-खुशी और स्नेहपूर्ण सहयोग करने के बाद, एकाएक भयंकर तूफान का उन सब लोगों को सामना करना पड़ा, जो सेंट्रल हिन्दू कालेज और थियासाफिकल सोसाइटी के विशिष्ट व्यक्ति थे। उस समय के झगड़े के गुण-दोष की विवेचना मुझे आज बैठकर नहीं करनी है। न इसकी मुझमें क्षमता है, न ऐसा करने का प्रयत्न करना उचित ही होगा। पर इसमें कोई संदेह नहीं कि उस समय परस्पर का भयंकर संघर्ष हुआ, मतभेद ही नहीं, दुःखद हृदयभेद निकटतम मित्रों और सहयोगियों में हो गया, और थियासाफिकल सोसाइटी को जो धक्का लगा, सो तो लगा ही, सेंट्रल हिन्दू कालेज तो एक प्रकार टूट ही गया। उस समय के संघर्ष में बहुत से लोगों ने भाग लिया और बड़ी कटुता भी उन्होंने व्यक्त की, पर जो लेख पंडित इकबाल नारायण गुर्टू के निकले थे, उनमें कोई कर्कशता न थी, और उनकी इच्छा यही थी कि पहले

की ही तरह परस्पर सौहार्द के साथ ही फिर काम किया जाय। इन्होंने शान्ति की स्थापना करानी चाही यद्यपि इसमें कोई संदेह न था कि इनकी सहानुभूति किस ओर है। इन सात वर्षों में इसमें भी कोई संदेह नहीं कि पंडित जी की विचार-धारा और मनोवृत्ति बहुत कुछ बदल गयी थी, और ये श्रीमती एनी बेसेंट के निकटतम भक्तों और सहयोगियों में हो गये थे। यदि पहले आप श्रीमती एनी बेसेंट से आकर्षित मात्र होकर देश के उद्धार के लिये शिक्षा के क्षेत्र में हिन्दू कालेज के द्वारा सार्वजनिक सेवा करने आये, तो अब उन्होंने अपने को पूर्णतया श्रीमती एनी बेसेंट के ही सुपुर्द कर दिया, और उन्हीं के कार्य को संपादन करने में अपने लक्ष्य की प्राप्ति देखी। यह छोटी बात नहीं है, और इसका प्रभाव उनके ही कार्य पर नहीं, एक प्रकार से देश के राजनीतिक जीवन पर पड़ा।

इस घटना से यह भी स्पष्ट है कि समाज सुधार के पक्षपाती और ऐसे समुदाय विशेष से आये हुये पंडित जी के ऐसे व्यक्ति, जिनका कि इस ओर कभी ध्यान भी न गया होगा, एक अद्भुत धार्मिक विचार के प्रवर्तक हो गये, जिसे श्रीमती एनी बेसेंट ने किन्हीं विशेष अवस्थावश उस समय उठाया था। पर आप का हृदय वास्तव में शिक्षा में ही रहा, और यद्यपि आप कुछ दिनों के लिये संयुक्त प्रान्तीय व्यवस्थापक सभा में रहे, और श्रीमती एनी बेसेंट के "होम् रूल लीग" में सम्मिलित होकर राजनीतिक क्षेत्र में भी उतरे जब इंग्लैंड जाते हुये आप आधे रास्ते से वापस किये गये, और यद्यपि कुछ दिनों तक आपने बनारस की म्युनिसिपल बोर्ड की अध्यक्षता भी की, तथापि आप का प्राण शिक्षा में ही सदा रहा, और सेंट्रल हिन्दू कालेज से पृथक् होकर श्रीमती एनी बेसेंट ने जो जो शिक्षा संस्थाएँ खोलीं— चाहे थियासाफिकल सोसाइटी के भवन में, चाहे राजघाट पर—उनमें आपका सदा से विशिष्ट रूप से हाथ रहा। संभवतः इस बीच में इस आशा से कि बदली हुई अवस्था में ऐसी शिक्षा संस्थाएँ भी, जिनका संबंध शासन से है, इस प्रकार से चलायी जा सकें, जिससे कि वहाँ पर भी उन राष्ट्रीय आदर्शों का प्रतिपादन हो सके, जिनके लिये आप अपनी स्वतंत्र शिक्षा संस्थाओं में व्यस्त रहे हैं, आपने निमंत्रित होने पर प्रयाग विश्वविद्यालय के कुलपति का और काशी विश्वविद्यालय के उप-कुलपति का भी स्थान ग्रहण किया। इनमें हर पद पर आपके रहते हुये मैं आपसे मिलता रहा। मैंने आपको सदा स्वस्थ चित्त ही पाया। कभी घबड़ाते हुये नहीं देखा। कार्य में व्यस्त रहते थे, परेशान भी किये जाते थे, त्रस्त भी हो जाते थे, पर जो काम उठाते थे, लगकर करते जाते थे। मित्रता सदा बनाये रखते थे। सबसे प्रेम से मिलते थे। अपने पद के कारण अपनी मनोवृत्ति में अन्तर नहीं आने देते थे। जो कुछ होता था, कर देते थे। परिणाम के लिये चिन्तित नहीं रहते थे।

हाँ, एक बात आपमें रही, जो एक प्रकार से गुण होते हुये भी दोष भी समझी जा सकती है। आप सब बातों की छानबीन काफ़ी करते हैं। अपनी क़ानून की

पढ़ाई आप भूल नहीं सकते। हरेक शब्द को तौलते रहते हैं, और इस कारण निर्णय करने में देर भी करते हैं। जब जब मैंने उनको देखा, तब तब उनके सामने मिसिलों का ढेर पाया। जब ये थियासाफिकल सोसाइटी की भारतीय शाखा के प्रधान मंत्री थे, अथवा म्युनिसिपालिटी के अध्यक्ष थे, अथवा प्रयाग या काशी विश्वविद्यालय के विशिष्ट अधिकारी थे, और मैं इनके पास मिलने मात्र के लिए गया, तभी बड़े परिश्रम से मिसिलों को उलटते हुये ही मैंने इन्हें पाया। कई बार तो मुझे अपने पास पाकर मिसिल विशेष की गुत्थियाँ और तत्संबंधी कानूनी पहलुओं को मुझेउन्होंने समझाना चाहा, और दुःखी होकर कहा—'देखो, ऐसे लोग भी दुनिया में होते हैं। भला ऐसे मामलेमें क्या किया जा सकता है'। लोगों की यह शिकायत पंडित जी से अवश्य रहती थी कि उतनी जल्दी प्रयाग विश्वविद्यालय की मिसिलें नहीं वापस जातीं जैसे पंडित गंगानाथ झा के समय आ जाती थीं, न म्युनिसिपालिटी के मामलों में उतनी जल्दी निर्णय होता है जितना मेरे पिता के समय होता था। पर पंडित जी का काम बराबर पक्का रहता था, और म्युनिसि-पालिटी से आपके चले जाने के बाद गवर्नमेंट का यह ख्याल हुआ कि काशी में कोई ऐसा व्यक्ति रह ही नहीं गया जो म्युनिसिपालिटी का अध्यक्ष हो सके, और इस कारण उसने यही उचित समझा कि म्युनिसिपालिटी ही स्थगित करके उसका कार्य-भार गवर्नमेंट स्वयं अपने ऊपर ले ले। यद्यपि सार्वजनिक दृष्टि से यह कार्रवाई अनुचित रही, तथापि इसमें कोई संदेह नहीं कि पंडित जी की व्यक्तिगत रूप से इससे अधिक प्रशंसा किसी दूसरे प्रकार से नहीं की जा सकती थी। इसमें कोई संदेह नहीं कि जो कुछ उन्होंने किया, बड़े परिश्रम से किया, और जहाँ भी रहे, अपने कार्यकाल में और लोगों को वे ठीक प्रकार से काम करने के लिये सदा उत्साहित करते रहे। उनकी छाप उन लोगों पर अवश्य पड़ी है, जिनका कि सहयोगी के रूप में, छात्र के रूप में, अथवा सहायक के रूप में आपका साथ रहा, और जिनको आपके साथ काम करने का सुअवसर मिला।

पंडित जी का जी सदा सरल और शुद्ध रहा। किसी को इनके प्रति किसी प्रकार की शिकायत नहीं हो सकती। इन्होंने न किसी की हानि की, न किसी के दिल को दुःख पहुँचाया। अपनी योग्यता के अनुसार आप दान देते रहे, और किसी से कुछ भी पाने की इच्छा नहीं रखते। आप सदा स्वच्छ वस्त्र पहनते हैं, और अपने स्वास्थ्य पर भी समुचित ध्यान रखते हैं। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि सन् १९०५ और सन् १९५३ में उनके शरीर में कोई अंतर ही नहीं हुआ। कभी कभी तो मेरा ऐसा विचार होता है कि ७५ वर्ष की उम्र का उनका स्वास्थ्य २५ वर्ष की उम्र से अधिक अच्छा है। आज भी वे अच्छी तरह भोजन कर सकते हैं, उसी प्रकार टहल सकते हैं, काम कर सकते हैं, व्याख्यान दे सकते हैं, जैसा कि पहले। ५० वर्ष तक एक ही रूप बनाये रख सकना साधारण बात नहीं है। कपड़ा भी वे वैसे ही पहनते हैं, जैसे कि पहले पहनते थे। मैंने उन्हें घर पर और

वाहर हर स्थान में और हर अवस्था में देखा है। न कभी उनका कपड़ा फटा पाया, न गंदा। मैं इसे छोटी वात नहीं समझता। समुचित वस्त्र पहनना मनुष्य का समाज के प्रति विशेष कर्तव्य है। इसका उन्होंने सदा पालन किया। इन्हें मैंने कभी अंग्रेजी कपड़ों में नहीं देखा। इनमें कोई आडम्बर नहीं है। पर सफाई का इन्हें वड़ा ख्याल है। घर पर भी इनका रहन-सहन बहुत ही सादा है। पर जो थोड़ी-सी चीजें रखते हैं, वरावर साफ, शुद्ध और तरतीबवार रखते हैं। इस बात में इन से हम सभी शिक्षा ले सकते हैं। घर पर और वाहर इनमें बड़ी सुव्यवस्था है जो कि हम में से वहुत कम में होती है।

जिस पुरुष ने सफाई और सचाई से अपना जीवन व्यतीत किया है, जिसने हर प्रकार की योग्यता होते हुये भी न कोई आडम्बर रचा, न निजकी महत्वाकांक्षा रखी, जिसने भोजन, वस्त्र और मकान के संबंध में समुचित रीति से व्यवस्था रखी, जिसने अपनी गृहस्थी संबंधी कार्य सुचारु रूप से करते हुये लोकसेवा पर ध्यान रखा, जिसने अपने स्वास्थ्य की उपेक्षा नहीं की और नियमित जीवन व्यतीत किया, वे यदि अपनी पचहत्तरवीं वर्षगाँठ मना सकें, चाहें देश के नर-नारियों की औसत आयु २६ ही क्यों न हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है, और आज हम सव जो उनके छात्र रहे हैं, सहायक रहे हैं, मित्र रहे हैं, सहयोगी रहे हैं, प्रशंसक रहे हैं, आलोचक रहे हैं, विरोधी रहे हैं, यदि मिलकर उनके प्रति अपनी प्रेमपूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित कर रहे हों तो भी कोई आश्चर्य नहीं। मेरी आज यही शुभ कामना हो सकती है, और है, कि वे अभी वहुत दिनों तक हमारे वीच रहकर हमें अपने जीवनसे शिक्षा देते रहें, और साथ ही जिस उपयोगी कार्य में वे लगे हुये हैं, उसमें लगे रह सकें, जिससे स्वतंत्रता की अवस्था में समुचित रूप से देशऔर समाज का सदा उत्कर्ष होता रहे।

श्रद्धाञ्जलि

(श्रीकमलापति त्रिपाठी, मंत्री, सूचना तथा सिंचाई विभाग, उत्तर प्रदेश)

इस अवसर पर, जब श्रद्धेय पं० इकबाल नारायण गुर्टू अपने जीवन के ७६ वें वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं, मैं उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं। मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि इस अवसर पर गुर्टू जी के सम्मान में एक स्मृति ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है। काशी का ऐसा कौन निवासी होगा जो गुर्टू जी के तपस्वी जीवन, उज्ज्वल व्यक्तित्व, पुनीत चरित्र और निःस्वार्थ देशभक्ति से परिचित न हो। उस युग में जब भारत पराधीन था और जब इस देश की सारी शिक्षा-पद्धति भारतीय बालक और युवक के हृदय में उन भावनाओं को भरने में तुली हुई थी, जो इस देश के जीवन के मूल्य और आदर्श तथा इस देश के सम्मान और उसकी स्वतन्त्रता की विरोधिनी थीं, उस समय गुर्टू जी ने शिक्षा के माध्यम से भारतीयता के उद्बोधन और उन्नयन के लिये अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया। प्रथम महायुद्ध के पूर्व, हमारे राष्ट्रीय जीवन में भारतीय संस्कृति और उसके भविष्य तथा भारतीय इतिहास के अतीत के प्रति जो सम्मान जाग्रत हुआ था, उसे सजीव और सक्रिय बनाने में भारत के जिन निर्भय देशभक्तों ने अपने जीवन को लगा दिया, उनमें गुर्टू जी अपना प्रमुख स्थान रखते हैं।

किसी पराधीन देश की आत्मा का जागरण तब तक सम्भव नहीं हुआ करता जब तक उसके अन्तर की जागृति न हो। भारतीय राष्ट्र को उत्थान और सम्मान के पथ पर आरूढ़ करने के लिये उसकी सोई हुई आंतरिक प्रवृत्तियों को जगाने की आवश्यकता थी। इस लक्ष्य की पूर्ति तब तक हो नहीं सकती थी जब तक शिक्षा की पद्धति में आमूल परिवर्तन न किया जाता और उसकी सारी धारा और उसके सारे दृष्टिकोण को बदल न दिया जाता। भारतीय इतिहास में वह युग भी आया था जब इस देश के पढ़े लिखे लोग उन सारी बातों, भावनाओं और आदर्शों से घृणा करते थे, जिन्हें हम भारतीय कह सकते हैं। शिक्षित वर्ग भी यह समझने लगा था कि भारत का उत्थान, भारतीयता को छोड़ कर विदेशों के अनुकरण से ही हो सकता है क्योंकि उनकी दृष्टि में भारतीय शब्द निकृष्टता और असभ्यता का द्योतक हो गया था। जब किसी देश की ऐसी मानसिक और बौद्धिक गति हो, उस समय उसके पतन की सीमा किस चरमता को पहुँच गई रही होगी, इसका अनुमान कर लेना कठिन नहीं है। गुर्टू जी उन लोगों में हैं जिन्होंने देश के इस मानसिक और बौद्धिक अधःपतन के प्रवाह को रोकने में अग्रणी भाग लिया।

आधुनिक भारत के निर्माण में इसी कारण उनका बड़ा भारी हाथ है।

गुट्टू जी उन व्यक्तियों में हैं जो प्रकाशन और प्रचार से दूर रह कर भारत के भविष्य के निर्माण की प्रक्रिया में एक कुशल शिल्पी की तरह जीवन पर्यन्त लगे रहे। उनके सामने लक्ष्य था और उस लक्ष्य के भेदन के लिये सांसारिक जीवन की आकांक्षाओं और इच्छाओं का त्याग करके स्थिरगति से अग्रसर होते रहे। काशी में सेन्ट्रल हिन्दू कालेज और बाद में थिआसॉफिकल सोसाइटी और उसकी अनेक शिक्षा-संस्थाओं और सांस्कृतिक केन्द्रों के वे प्राण रहे हैं। मैं स्वयं सेन्ट्रल हिन्दू कालेज का, जब वह एक स्कूल और कालेज के रूप में चलता था, विद्यार्थी था। मैं जानता हूँ कि किस प्रकार उस संस्था की एक-एक ईंट पर गुट्टू जी के व्यक्तित्व की छाप पड़ी थी। प्राचीनकाल में इस देश में शिक्षा का सारा क्रम और उसकी सारी योजना जिन भावों और आदर्शों को लेकर चलती थी, उन्हीं की प्रतिष्ठा अपनी शिक्षा संस्थाओं में करने की चेष्टा इन गुरुजनों ने की। तत्कालीन विदेशी शासकों की दृष्टि में ये संस्थायें, परीधानता के विरोधियों और भारतीय स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष करने वाले विद्रोहियों का केन्द्र समझी जाती थीं। वे उनकी ओर सशंक दृष्टि से देखते थे, क्योंकि वे यह अनुभव करते थे कि शिक्षा के माध्यम से जिस भाव-धारा को यहाँ फैलाया जा रहा है और युवकों के हृदय को जो स्फूर्ति और प्रेरणा मिल रही है, वह आगे चल कर उस भारतीयता को जाग्रत करेगी, जो कभी पराधीनता को सहन न कर सकेगी। प्राचीन भारत में गुरुओं के निकट बैठ कर शिष्य, सत्य के और जीवन के तथ्यों का अनुशीलन करते थे। गुरु से मिलने वाला प्रकाश शिष्य के जीवन का निर्माण करता था और उसी के कारण भारत में उस महती गुरु-परम्परा का प्रतिष्ठापन हुआ जो आज तक इस देश के लिये गौरव का विषय है। मुझे गुट्टू जी में इसी गुरुत्व की छाया दिखाई देती है। विद्यार्थी के और शिष्य के जीवन को कल्याण और उत्थान तथा उन्नति की ओर किस प्रकार ले जाया जाय और कैसे अपने आचरणों और चरित्र से शिष्य के जीवन पर अमिट छाप छोड़ी जाय, यह जिसे देखना हो वह गुट्टू जी के जीवन की ओर दृष्टिपात करे।

आज वे अपने जीवन के ७६वें वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं, यह और सौभाग्य की बात है कि वे हमारे बीच वर्तमान हैं। बाबा विश्नाथ उन्हें चिरायु करें और हम लोग उनके उत्कृष्ट और स्फूर्तिप्रद जीवन से प्रेरणा और प्रकाश ग्रहण करें तथा इस देश की वर्तमान और भावी पीढ़ी के लिये कुछ करने में समर्थ हों। उनका आशीर्वाद हमें शक्ति और सफलता प्रदान करे।

गुर्टू-प्रशस्तिः

(श्रीगोपाल शास्त्री, दर्शन-केसरी, अध्यक्ष, श्रीकाशीपण्डित सभा, शिवाला, बनारस)

श्रीमतां थियोसाफिकलसोसाइटीसदस्यानां
प्रयाग विश्वविद्यालय वाइसचान्सल-
पदप्रतिष्ठितानां काशीस्थ म्युनिसि-
पलप्रधानत्वमुपगतानां विवि
जनसेवासम्पादकानां
श्रीइकबाल नारायण गुर्टू महोदयानां
श्री काशीविद्वन्मण्डलकृतं (७५) वर्ष पर्वशुभाभिनन्दनम् ॥

श्रीमान् सुकीर्तिर्विमलस्वभावः इकबालनारायणगुर्टुवर्य्यः ।
वाणाश्वसंख्यं निजवयपर्वं प्रकल्प्य जीव्याच्छरदःशतायुः ॥१॥

सोऽयं पुरोयं इहैमवांये चन्द्राश्वनन्दाब्जमितेस्यकायाम् ।
वाणीरतां ख्यातगुणां विहाय काश्यांप्रधानः किल शिक्षकोऽभूत् ॥२॥

सर्वैव देव्या जनसेविकायां वासन्तिकायाः शुभसङ्गतेन ।
चकार कार्य्यं बुधवृन्दवन्द्यं परोपकारात्मकमेत्यकाश्याम् ॥३॥

ततः प्रयागे किल विश्वविद्यालये प्रधानं पदमारुरोह ।
सम्पाद्य सम्यक् स्वयमादरेण सर्वं स्वकृत्यं प्रथितो बभूव ॥४॥

प्रोवाइस चान्सलरपदं पुनरागत्य काशिके ।
विश्वविद्यालयेस्थित्वा प्रतिष्ठामगमत्सुधीः ॥५॥

पुनस्तत्रैव नगरीपालिका पर्षदि स्थितः ।
चेयरमैनपदं प्राप्य जनसेवां चकारह ॥६॥

थियोसाफिकलेत्यस्याः संस्थायामन्त्रितां तथा ।
काश्यां बहुदिनान्यत्र जनोपकृतिमाचरत् ॥७॥

इहैव काश्यां बहुवर्षवासं समाश्रयन् दिव्यगुणोमहात्मा ।
महामुनेर्मल विनायकस्य साहाय्यदानं सततं चकार ॥८॥

सीताराम कृषीशाला, बहुवर्षमलङ्कृता ।
कामाद्याप्यस्यवासेनकृतार्थाजनि सर्वदा ॥९॥

साम्प्रतं राजघट्टस्थो निवासोऽस्य विराजते ।
दिव्यजीवनचर्य्याभिः लोककल्याणकारिणः ॥१०॥

एवं सर्वगुणाकरो बुधवरो मान्योवदान्यः कृती
सेवां भारतराष्ट्रकस्य विदधञ्जीव्याच्चिरंभूतले ।
आदर्शं चरितं यदीय विमलं स्तुत्यं बुधानांगणैः
श्रावं श्रावमहोऽद्यशिष्यनिवहा नन्दन्तु हर्षोन्मदाः ॥११॥

पञ्चसप्ततिवर्षेऽस्मिन् प्राप्ते मङ्गलदायके
समेता अभिनन्दामस्त्वां बुधाः काशिका वयम् ॥१२॥

इकबाल नारायण गुर्टू

[श्री 'भुवनेश' काशी]

इन्द्र सरिस सबको सुखद, सह दुख नित्य महान ।
कर्म धर्म अरु नियम में, रहते सदा समान ॥
बात नित्य मधुरी कहत, सत्य-तत्त्व से सींचि ।
लच्च लच्च अर्पण करत, दोऊ हाथ उलीचि ॥
नाम परम विख्यात है, जानत सकल जहान ।
राका शशि सम सुखद यश, गावत सकल सुजान ॥
यहि ऋषि का है जन्म-दिन, गावो मंगल गान ।
नर वपु में यह देवता, हैं देवर्षि समान ॥
गुरु मानत पूजा करत, जिनके शिष्य अनेक ।
टूट तार सोइ प्रेम को, जोरत सहित विवेक ॥

एक आदर्शमय जीवन

[डा० मंगलदेव शास्त्री, एम. ए., डी. फिल्. (आक्सन),
भूतपूर्व प्रिन्सिपल, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, काशी]

लगभग २५ वर्ष का समय हुआ होगा जब कि प्रथम बार मेरा श्री गुर्टूजी से परिचय हुआ था। उसके बाद अनेकों बार उनसे मिलने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ। उनसे मिलने पर जो भाव मेरे मन में बराबर उठते हैं उनको, अपने ही शब्दों में, मैं इस प्रकार कह सकता हूँ—

जयन्ति के जना भुवि ?

परोपकार तत्पराः स्वदेशभक्ति वत्सलाः।
अमत्सरास्तथापि ये जयन्ति ते जना भुवि ॥ १ ॥

उदात्तकर्मशालिनो न दैन्य भावधारिणः।
तथापि सन्ति प्रश्रिता जयन्ति ते जना भुवि ॥ २ ॥

विद्यातुमुद्यताः सदा परार्थमात्मनोहितम्।
अथाभिमानवर्जिता जयन्ति ते जना भुवि ॥ ३ ॥

विसृष्ट कीर्तिकामनाः स्वधर्मपालने रताः।
तथापि ये यशस्विनो जयन्ति ते जना भुवि ॥ ४ ॥

अमायिनो दृढव्रतास्तपस्विनो जितेन्द्रियाः।
सदाशया महाशया जयन्ति ते जना भुवि ॥ ५ ॥

वास्तव में अक्षरशः यह वर्णन गुर्टूजी के जीवन में घट जाता है।

वेद के ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रायः कहा गया है—

सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्याः।

यदि यह कथन ठीक है, तब तो यही कहना होगा कि गुर्टूजी उस देव-कोटि के मनुष्य हैं जो अपने आदर्शमय जीवन से दूसरे लोगों का बराबर पथ-प्रदर्शन करते रहते हैं।

सचमुच, गुर्टूजी की तरह, परोपकार, त्याग, सत्य-निष्ठा, निरभिमान सदृश उत्कृष्ट आदर्शों पर चलना और उनके लिए अपने जीवन को समर्पण कर देना, एक असाधारण बात है। इसीलिए वे हम सब के लिए एक मार्ग-प्रदर्शक रहे हैं। भगवान् से प्रार्थना है कि वे चिरकाल तक हमारे लिए एक प्रकाश-स्तम्भ का कार्य करते रहें।

———

शुभकामना

(सरदार माधव वी. किबे, एम. ए., इन्दौर)

मुझे यह सुनकर बहुत आनन्द होता है कि युक्त प्रदेश के वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध एवं आजन्म शिक्षणोत्तेजक तथा निःस्वार्थ सेवी डॉ० इकबाल नारायण गुर्टू को उनके ७५ वर्ष के संपूर्ण होने के उपलक्ष्य में अभिनन्दन ग्रन्थ अर्पण किया जा रहा है। प्रयाग विश्वविद्यालय के पूर्व स्वरूप में, जब म्युअर सेन्ट्रल कॉलेज उससे जुड़ा हुआ था, और डॉ० तीबो सरीखे उसके आचार्य थे, उस समय, यानें १८९५ में, मैंने उसमें प्रवेश किया। उस समय जो कि पंडित जी आयु में मुझसे कम हैं, फिर भी वह ऊपर की कक्षामें पढ़ते थे। उस समय उनकी बुद्धिमत्ता, सौजन्य, शिक्षाप्रेम, प्रसिद्धिविमुखता इत्यदिका प्रभाव महाविद्यालय में—छात्रों में एवं प्राध्यापकों के ऊपर—पड़ा था, यहीं उनका वैशिष्ठ्य प्रगट हुआ जो उन्होंने शिक्षोत्तेजना के संबंध में एवं शिक्षा संस्थाओं में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में भी उच्चतम स्थान प्राप्त करके प्रदर्शित किया। बनारस में तत्कालीन युक्त प्रदेश की गवर्नर स्वर्गीया सरोजिनी देवी की अध्यक्षता में जो India P. E. N. का अधिवेशन हुआ था, उस समय व्यवस्था करने में, एवं अतिथियों के सत्कार में उन्होंने प्रसिद्धि विमुख रहते हुए भी अपने को व्यस्त रखकर जो कार्यक्षमता दिखाई थी वह कभी भूली नहीं जा सकती। 'जयपुर' राजधानी में उपरोक्त संस्था का स्वर्गीया सरोजिनी देवी की अध्यक्षता में जो समारंभ हुआ उससे भी काशी का समारोह श्रेष्ठ रहा। इसका सर्व श्रेय पंडित जी को ही है। इतना वय होते हुए भी पंडित जी तरुण ही मालूम पड़ते हैं और प्रकृति से स्वच्छ हैं। मैंने इसका उनसे कारण पूछा था, तो मुझे उन्होंने यह बताया कि विद्यार्थियों की अविरल सेवा का, और उनमें मिले-जुले रहने का यह फल है। परमेश्वर पंडित जी को दीर्घायुरारोग्य देवें, ऐसे ही उनके नम्र सहपाठी की परमेश्वर से प्रार्थना है।

विशुद्धकर्मा गुरुः

(आचार्य रामेश्वर झा, काशी)

जयति जनमरिष्टादुद्धरन्ती भवानी
जयति निज विभूतिव्याप्तविश्वः स्मरारिः ।
जयति च गजवक्त्रः सोऽत्र यस्य प्रसादा
दुपरमति समस्तो विघ्नवर्गोपसर्गः ॥१॥

भारते पुण्यवर्षेऽस्मिन् विद्या क्षेत्रेऽपि साम्प्रतम् ।
विद्याविक्रयिणोलोका जाता विद्याविनाशकाः ॥२॥

रक्षितायाञ्च विद्यायां रक्षितानि भवन्ति हि ।
सर्वाणि स्वीयवस्तूनीत्यालोच्यैव बृहस्पतिः ॥३॥

आगत्याध्यापनं चक्रे स्वीयं स्वच्छददत्स्वयम् ।
भृतिकाध्यापनं कर्म न कार्यमिति दर्शयन् ॥४॥

औदार्य्यञ्च वशित्वञ्च धैर्यं गाम्भीर्य्यमेव च ।
एकमेवतमाश्रित्य राजन्ते विविधा गुणाः ॥५॥

तद्वात्सल्य गुणाकृष्टाः शिष्टाः शिष्याह्यनेकशः ।
विनयादिफलैराढ्यां विद्यां प्रापुः प्रशान्तिदाम् ॥६॥

सर्वत्र सर्वकृत्येषु शिष्याः सन्ति सहस्रशः ।
कारयन्तश्च कुर्वन्तः शुभ्रकर्माणि भारते ॥७॥

सोयमेवमाजन्मविशुद्धकर्म्मा,
परार्थ संघट्टन सक्तचेताः ।
श्रीकचालनारायणनामधेयो,
विराजतेऽसौ गुरुरेव गुरुः ॥८॥

एक संस्मरण

(श्रीराम कुमार वर्मा एम० ए०, पी० एच्० डी०, प्रयाग)

श्री इक़बाल नारायण गुर्टू हमारे देश की ऐसी विभूतियों में हैं जिन्हें प्रसिद्धि की अपेक्षा कार्य में अधिक विश्वास है। जो व्यक्ति उनके संपर्क में आया उसने यह अवश्य अनुभव किया कि कर्त्तव्य-निष्ठा ही जीवन है और उसमें तत्पर रह कर असुविधाओं में सुविधाओं को खोज निकालने की शक्ति ही कार्य करने की श्रेष्ठ कला है।

श्री गुर्टू का नाम मैंने अपने विद्यार्थी-जीवन से ही सुना था। वे सुलझे हुए विचारक हैं, कुशल वक्ता हैं। आकाश में स्पष्ट होते हुए इन्द्रधनुप की भाँति मैंने उन्हें देखा भी था—उत्सुकता और उमंग से—किन्तु उनके समीप नहीं आ सका था। एक श्रद्धामय आतंक की गहरी रेखा मेरे और उनके बीच में खिंची थी। उनके समीप आने की लालसा सन् १९३२ में पूर्ण हुई जब वे हमारी यूनीवर्सिटी के वाइस चांसलर निर्वाचित हुए।

उनके पूर्व महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा हमारे वाइस चांसलर थे। वे सच्चे अर्थ में कुलपति थे। हम लोग उन्हें "बड़े पंडित जी" कहा करते थे। हमारी श्रद्धा और भक्ति सरिता की भाँति उमड़ कर उनके स्नेह-रत्नाकर में जाकर लीन हो जाती थी। ज्ञात होता था कि वे आशीर्वादों की अपार संपत्ति के अधिपति हैं और मुक्तहस्त से उसे वितरित करते हैं। जो उनके पास गया, कृतार्थ होकर ही आया। उनके बाद जब श्री गुर्टू हमारे वाइस चांसलर हुए तो हमारे हृदय में एक हलकी सी आशंका थी कि वैसा स्नेह अब हमें प्राप्त हो सकेगा या नहीं!

तब मैं हिन्दी विभाग में जूनियर लेक्चरर था—वय और बुद्धि दोनों के गांभीर्य से रहित। लेकिन एक दिन सूचना मिली कि हम में से कुछ को संध्या समय श्री गुर्टू जी ने चाय पर आमंत्रित किया है। मैंने प्रसन्नता और गर्व का अनुभव किया। एक सिल्क का सूट पहिना और सजकर श्री गुर्टू साहब के निवास की ओर चला। पहुँच कर देखा कि गुर्टू साहब हमलोगों में से प्रत्येक का स्वागत कर रहे हैं और निर्धारित स्थानों पर बिठला रहे हैं। चाय पीते समय उन्होंने हम में से प्रत्येक के समीप थोड़ी थोड़ी देर बैठकर बातें की। इतने महान् होकर वे हमलोगों के धरातल पर आ गए। उन्होंने हमलोगों की कुशलता पूछी, सदैव असुविधाओं की सूचना देने की बात कही और साहस और सतर्कता से कार्य करने का प्रोत्साहन दिया। थोड़ी ही देर में हमलोग अपने वाइस-चांसलर के इतने निकट आ गए जैसे उनके परिवार

के ही व्यक्ति हों। उनके दर्शन कर हमलोगो ने साहस और बल का अनुभव किया। हमारी आशंकाएँ न जाने कहाँ गईं और 'बड़ेपंडित जी' के बाद उन्हें वाइस चांसलर के रूप में पाकर हमलोग सचमुच कृतार्थ हुए।

कुछ समय बाद एक घटना घटी जिससे मैंने श्रीगुरु जी के महान् व्यक्तित्व को पूरी तरह से समझा। मैं कायस्थ पाठशाला यूनीवर्सिटी कालेज में हिन्दी का ट्यूटर भी था। मेरी द्वितीय वर्ष बी. ए. की क्लास में एक विद्यार्थी आया। वह कालेज के टाइम टेबल के अनुसार मेरी सेमीनार क्लास में उपस्थित नहीं हो सकता था क्योंकि उसी समय उसे अन्य विषयों के क्लासों में जाना पड़ता था। कायस्थ पाठशाला कालेज के तत्कालीन प्रिंसिपल डा० ताराचन्द्र जी ने मुझसे कहा कि यदि मैं उसे यूनीवर्सिटी की अपनी किसी सेमीनार क्लास में भरती कर सकूँ तो असुविधा दूर हो जायगी। मैंने अपने विभाग के अध्यक्ष डा० धीरेन्द्र वर्मा की अनुमति से उसे अपनी यूनीवर्सिटी की एक सेमीनार क्लास में भरती कर लिया। उसकी उपस्थिति यूनीवर्सिटी के सेमीनार क्लास के रजिस्टर में नहीं लग सकती थी क्योंकि वह वस्तुतः कायस्थ पाठशाला कालेज के सेमीनार का विद्यार्थी था। अतः उसकी उपस्थिति एक अलग कागज पर लगती थी। इस भाँति क़ायदे से न तो उसकी हाज़िरी कायस्थ पाठशाला कालेज के रजिस्टर पर थी और न यूनीवर्सिटी के रजिस्टर पर। एक अलग कागज़ पर थी जो यूनीवर्सिटी के रजिस्टर के साथ में आफिस भेज दिया करता था। उस समय हिन्दी विभाग का कोई अलग आफिस नहीं था, ओरिएंटल डिपार्टमेन्ट आफिस के नाम से संस्कृत, अरबी-फारसी, उर्दू और हिन्दी विभाग का सम्मिलित आफिस था। न जाने किस तरह—जिस कागज़ पर उस विद्यार्थी की हाज़िरी लगती थी, वह कागज़ आफ़िस से खो गया। जब वर्ष के अंत में गैरहाज़िरी के कारण परीक्षा में प्रविष्ट होने से रोके जाने वाले विद्यार्थियों की सूची घोषित की गई तो उस सूची में उस बेचारे विद्यार्थी का भी नाम था क्योंकि उसकी सेमीनार की हाज़िरी का कहीं पता न था। वह विद्यार्थी मेरे पास आया और उसने दीन वाणी में कहा कि मैं वर्ष भर आपके यूनीवर्सिटी के सेमीनार क्लास में पढ़ता रहा और मेरी हाज़िरी कहीं नहीं है। मैंने उसकी परिस्थिति समझी। उसकी हाज़िरी का कागज खोजा गया। किन्तु वह आफ़िस में नहीं मिला। खो गया था। विद्यार्थी को जैसे काठ मार गया। उसकी आँखों में आँसू थे। वह अब बी. ए. की परीक्षा में नहीं बैठ सकेगा! मैंने उससे कहा—वाइस चांसलर साहब से प्रार्थना करो कि वे ऐसी स्थिति में तुम्हें परीक्षा में प्रविष्ट होने की विशेष अनुमति दे दें। उसने 'डीन' के द्वारा वाइस चांसलर के पास प्रार्थना-पत्र भेज दिया।

कुछ दिनों बाद मुझे एक सूचना मिली कि वाइस चांसलर साहब का आदेश है कि मैं उनसे दूसरे दिन ही उनके आफ़िस में मिलूँ। मैं मिला।

उन्होंने सारी स्थिति पूछी, जानी और समझी। यह समझ कर कि आफिस से खो जाने की बात कहने से संभवतः आफिस के अकिंचन कर्मचारी को दंडित होना पड़े, मैंने कहा कि वह कागज मुझसे ही खो गया। उन्होंने पूछा कि इसकी क्या सजा होनी चाहिए। मैंने उत्तर दिया जो आप उचित समझें। उन्होंने तुरन्त कहा—भूल के कभी न दुहराये जाने में उसका परिष्कार है। यह भूल कभी न दुहराई जाय।

उन्होंने उस विद्यार्थी को परीक्षा में बैठने की अनुमति दे दी। वह विद्यार्थी परीक्षा में उत्तीर्ण भी हुआ।

आज भी जब मैं किसी रजिस्टर में हाजिरी भरता हूँ तो अपने वाइस चांसलर के वे शब्द कानों में गूँज जाते हैं—'भूल के कभी न दुहराये जाने में ही उसका परिष्कार है।'

शिक्षा के क्षेत्र में मनोविज्ञान को लेकर चलनेवाले, अधिकार के क्षेत्र में सहानुभूति का निर्वाह करनेवाले श्री इकबाल नारायण गुर्टू वास्तव में हमारे देश के रत्न हैं।

पण्डित इकबाल नारायण गुर्टू

(श्रीगङ्गाशङ्कर पण्ड्या, एम० ए०, अध्यक्ष, कला-संसद,
म० स० विश्वविद्यालय, बड़ौदा)

मैं सन् १९२७ से १९३१ तक थियॉसॉफिकल स्कूल में विद्यार्थी था। विद्याभ्यास पूरा होने पर पहली नौकरी—जुलाई से सितम्बर १९३९ की—मैंने वसन्त कालेज में शुरू की। उसके बाद जीवन का प्रवाह मुझे बनारस की आध्यात्मिकता से भरी उस संस्था से बहुत दूर ले गया। परन्तु जब कभी पूर्वस्मृति जागती है तो वह संस्था और वहाँ के व्यक्तिविशेष आज भी मुझे आत्मीय ही लगते हैं।

"गुर्टूजी" का प्रथम परिचय सन् १९२७ में शांति-कुंज बनारस में हुआ। उनके निवास-स्थान में ही कृष्णमूर्त्ति जी ठहरे थे। कृष्णमूर्ति जी के दर्शन और गुर्टू जी के परिचय का लाभ एक शुभ मुहूर्त्त में साथ ही साथ होना मेरा सौभाग्य था। प्रथम परिचय में ही उनकी सादगी और विचार-दृढ़ता ने मेरे मन पर उनकी अमिट छाप डाली।

सन १९३० में जब हम लोगों ने स्कूल की पार्लमेण्ट और वाद-विवाद-सभा की स्थापना की तो उसकी पहली बैठक गुर्टू जी की अध्यक्षता में हुई। उस दिन का उनका प्रभावशाली भाषण और योग्य मार्गदर्शन हमें अत्यन्त उपयोगी सिद्ध

हुआ। इसके बाद वाद-विवाद सभा का कार्य, पढाई अथवा कोई दूसरा बहाना लेकर हमलोग उनके पास जाते रहते थे।

बनारस म्युनिसिपालिटी के अध्यक्ष होने पर गुट्टूजी के दर्शन कम होने लगे। तब भी गुट्टूजी शाम को कार्य से निवृत्त होकर सिगरा की तरफ घूमने जाते थे। पण्डित विश्वनाथलालजी का आदेश था कि मैं कविता के साथ नियमित व्यायाम भी करूँ। बहुत दिनों तक इसी प्रकार गुट्टूजी के दर्शन का लाभ शाम को मैं रोज लेता रहा। उनकी तेज चाल से मुझे प्रेरणा मिली और मैंने भी कुछ कुछ उनका अनुकरण किया। इस प्रकार १६३३ तक उनके सान्निध्य का थोड़ा बहुत लाभ मुझे मिलता ही रहा।

सन् १६३३ में मैं काशी विश्वविद्यालय को छोड़कर इलाहाबाद विश्वविद्यालय में भरती हुआ। यहाँ पर गुट्टूजी ही विश्वविद्यालय के कुलपति थे। उनकी कार्यदक्षता और निर्भीकता से सभी प्रभावित थे। वे विश्वविद्यालय के काम में हमेशा व्यस्त रहते थे। तब भी एक बार उनसे मैं उनके निवास-स्थान पर मिला। उस मुलाकात में ही मुझे ऐसा लगा कि गुट्टूजी का मन काशी में ही था और वे थियॉसॉफिकल स्कूल के सेवार्थ ही इलाहाबाद जाने को राजी हुए थे।

सन् १६३६ मे जब मैंने अपनी पहली नौकरी बसन्त कालेज में शुरू की तब मेरा ध्येय अपने परिचित वातावरण में लौटने का ही था। यहाँ पर गुट्टूजी ने अध्यापकों को जो आदेश दिए थे वे अभी भी याद हैं। गुट्टूजी केवल आर्थिक सङ्कट के समय संस्था को मदद करें ऐसी बात न थी। उनके चारित्र और व्यवहार से हमें जो प्रेरणा मिली उससे संस्था को स्थायी लाभ हुआ।

गुट्टूजी की सबसे ताजी मुलाकात दो वर्ष पहले बड़ोदा में ही हुई। किसी तरह हम उन्हें एक दिन के लिए यहाँ पाकर कृतकृत्य हुए और उन्हें हमने बनारस की संस्था का मूर्तिस्वरूप मानकर परमानन्द पाया।

गुट्टूजी का स्वल्प संस्मरण लिखते समय मैंने उनके गुणों की व्याख्या करने की धृष्टता नहीं की। उनकी एक प्रशस्ति टूटी फूटी कविता में सन् १६३० में मैंने शब्द-बद्ध की थी। इसे भी मैं लड़कपन की धृष्टता समझता हूँ। आज मैं गुट्टूजी को उस आदर्श संस्था का, जिसमें मैं चार साल तक रहा, मूर्तस्वरूप ही मानता हूँ। कितने ही व्यक्ति किसी संस्था के प्रतिनिधि के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं; परन्तु गुट्टूजी के कारण संस्था प्रतिष्ठित हुई ऐसा मेरा अपना विचार है। गुट्टूजी को देखकर संस्था का स्मरण होता है और उनके प्रति मान की भावना के साथ संस्था के प्रति भी आदर उत्पन्न होता है। गुट्टूजी को देखकर संस्था के प्रति भी आदर उत्पन्न होता है। गुट्टूजी और थियॉसॉफिकल सोसाइटी की संस्थाओं को इस रूप में देखकर ही भावुकता के तत्व को सन्तोष मिलता है।

गुर्टू जी

(पं० गुरुसेवक उपाध्याय, रिटायर्ड रजिस्ट्रार, कोआपरेटिव सोसायटीज़, यू. पी.)

उन्नीसवीं शती के अंतिम तीन चार वर्षों में एक ज्योति का आविर्भाव काशी में हुआ। उस ज्योतिष्मती के ग्रह और उपग्रह भी थे, जिनकी संख्या धीरे धीरे बढ़ती गई। उस समय मैं क्वीन्स कालेज में पढ़ता था। हिन्दूसमाज विच्छिन्न था, एक दूसरे के साथ खान पान में रुकावटें थी। हिन्दू धर्म पर अंगरेजी पढ़े लिखों की आस्था कम हो रही थी, और राजनीतिक क्षेत्र में ऊपर ही ऊपर कुछ उथल पुथल देखने में आती थी। शिक्षा के क्षेत्र में विद्यार्थियों के प्रति आदर का भाव न था, उनसे अधिक ध्यान उन विषयों पर दिया जाता था जो उन्हें पढ़ाये जाते थे। उन विषयों से आत्माभिमान और जात्यभिमान के जगने का अवसर नहीं के बराबर था। स्व. डा. ऐनी बेसंट के आकर्षक व्यक्तित्व ने यू. पी. के वहुतेरे अंगरेज़ी पढ़े लिखों पर जादू का काम किया। उनके शिक्षा-संबंधी विचारों ने, जो सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल के रूप में मूर्त हुये, पं० इकबाल नारायण गुर्टू को भी खींचा और उन्होंने १९०५ से आठ वर्ष तक उसकी हेडमास्टरी बड़ी योग्यता से की। उसी बीच वे थियॉसॉफिकल सोसायटी के जेनरल सेक्रेटरी के पद पर पहुंच गये। वहां भी इतना अच्छा काम किया कि सोसायटी के स्तंभों में से एक गिने जाने लगे। पं० जवाहर लाल नेहरू ने अपनी पुस्तक "मेरी क़हानी" में जो इस तरह का वर्णन थियॉसॉफिस्ट का किया है "नीरस, उदासीन चेहरा, जो कभी कभी पवित्रता का सूचक होता है" वह उनके लिये लागू नहीं हो सकता है। फिर भी वे अपने ढंगके पक्के थियॉसॉफिस्ट हैं जिनपर कोई दूसरा रंग नहीं चढ़ सका। उनके लिये महात्मा गांधी और उनकी बातें आज तक पहेली ही वनी हैं।

शिक्षा विभाग में बहुत कम लोगों ने ऐसा अच्छा काम किया है जैसा आपने किया। अपनी योग्यता से आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के उप-कुलपति और इलाहाबाद युनिवर्सिटी के कुलपति के पद पर आसीन रहे हैं। आप अनुशासन-प्रेमी हैं। आपकी छाप आपके शिष्यों पर गहरी पड़ी है। शिक्षा के उद्देश्यों में समयानुसार परिवर्तन होता जा रहा है। हमारे देश में भी स्वतंत्रता प्राप्ति के वाद उनमें कुछ उलट फेर किया गया है। अव तो बर्ट्रंड रसल साहव "प्रगति शील" शिक्षा में विश्वास करने लगे हैं, पर मालूम नहीं गुर्टू जी अपने पहले के विचारों से कहां तक आगे वढ़े हैं।

अगर किसी को प्रतिनिधि-कश्मीरी देखना हो तो वह पं० इकवाल नारायण

को देख ले। यह बाहर भी कश्मीरी हैं और भीतर भी। बाहर का संबंध रंग और सूरत शकल से है, और भीतर का तेज बुद्धि, तेज मिजाज, और चाक चौबंद होने से। उनको केवल "पंडित जी" समझने से समझने वाले को धोखा हो सकता है। वह राजसी वृत्ति के पुरुष, कर्मवीर हैं। उनको राजदरबारी पंडित कह सकते हैं काशी के रामदरबारी पंडित नहीं। आप शहरी जीव हैं। आपका इखलाक़ और इल्मे-मजलिस बहुत ऊंचे दर्जे का है जो नई पीढ़ी में बहुत कम देखने में आता है। आपसे मिलकर ताजगी और प्रसन्नता प्राप्त होती है। आपके सौभाग्य से आप की धर्मपत्नी एक आदर्श हिन्दू महिला हैं जो पतिको मनुष्य होते हुए भी देवता मानती हैं। आप दम्पती को दो तीन बार मैंने कुछ कष्टों में पड़ा देखा है। जिस धैर्य से उन्होंने उन्हें सहन किया वह प्रशंसनीय था।

गुर्टू जी, अंगरेजी कहावत के अनुसार, अपने पांव के नीचे घास नहीं जमने देते हैं—वह घास चाहे घर के आंगन में हो चाहे बाहर के क्षेत्र में। इस गुण के कारण आपका कार्य क्षेत्र सदा साफ़ सुथरा और चमकीला रहता है। आपने कभी धन के लालच से कोई काम नहीं उठाया। आपका जीवन आत्म-त्याग का रहा है। भगवान से प्रार्थना है कि आप शतायु हों और आप का उदाहरण नवयुवकों के लिये पथ-प्रदर्शक बने।

श्रद्धेय प्रधानाध्यापक श्रीगुर्टूजी

(सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल द्वारा प्रेषित)

श्रद्धेय पं० इकबालनारायणजी गुर्टू के त्याग तथा देश-सेवा का श्रीगणेश सेंट्रल हिन्दू स्कूल में आरंभ हुआ। उन्होंने सन् १८९९ में एम. ए. और १९०२ में एल्-एल्. बी. परीक्षाएँ पास कीं और स्वर्गीय श्रीमोतीलालजी नेहरू के गुरु श्रीपृथ्वीनाथ चक के सहयोगी के रूप में वकालत आरंभ की थी—आर्थिक दृष्टि से इसमें उनके लिए अच्छा मैदान सामने था—यदि वकालत करते रहते तो हाईकोर्ट के सर्वमान्य वकील बन जाते। परन्तु छल-बल से काम निकालना आपकी पवित्र आत्माको स्वीकार न हुआ और आपने "थियॉसॉफिकल सोसाइटी" द्वारा सञ्चालित सुख्याति सम्पन्न से० हि० स्कूल में त्याग-पूर्ण निष्ठा और अदम्य उत्साह के साथ १९०५ में प्रवेश किया। जो नये प्रयोग इस संस्था में चलाये जा रहे थे, जो नया आदर्श भारतीय नव-युवकों के उत्थान और उन्नति के लिए समीचीन प्रतीत हुआ उसमें अपना सर्वस्व

समर्पण करना श्रीगुर्टू जी ने आवश्यक समझा और अपनी सह-धर्मिणी महाशया को अनुसूया सा सादा जीवन व्यतीत करने पर राजी कर लिया और काशीपुरी को गौरव प्रदान करने यहाँ चले आये। इस प्रकार २० अक्टूबर १९०५, से० हि० स्कूल के इतिहास में गौरवशाली दिवस बन गया।

श्रीअरंडेल महोदय कालेज विभाग के प्रिन्सिपल नियुक्त हुए और श्रीइकबाल-नारायणजी प्रधानाध्यापक बनाये गये। संस्कृत में उक्ति है :—

"केचिन्मृगमुखा व्याघ्राः केचिन्व्याघ्रमुखा मृगाः"

आप वास्तव में व्याघ्रमुख मृग थे, अर्थात् देखने में आपका तेज भय उत्पन्न करता था परन्तु जो आपके निकट पहुँच जाता उसे आप प्रेम की प्रतिमूर्ति प्रतीत होते थे। बड़ी सावधानी के साथ ये बालकों को संयम और नियम-पालन का अभ्यास कराते थे। इनके विलक्षण त्याग और पाण्डित्य ने इन्हें थोड़े ही समय में सर्वप्रिय बना दिया था—श्रीअरंडेल दो वर्षों में जिन प्रयोगों का आरंभ कर चुके थे, वास्तव में उनको कार्य रूप में परिणत करने, उनके द्वारा छात्रों को निर्भीक, सुदृढ़ देश-सेवक, स्वदेश प्रेमी और न्यायपरायण नागरिक बनाने का यश तथा गौरव श्रीगुर्टूजी को ही प्राप्त है। उन दिनों स्कूल और कालेज (सेन्ट्रल-हिन्दू कालेज) दो पृथक् संस्थाएँ नहीं मानी जाती थीं—श्रीअरंडेल प्रिन्सिपल पद पर आसीन रह कर स्कूल विभाग में पढ़ाने आते और श्रीगुर्टूजी का आदर कालेज विभाग के छात्र प्रोफेसर के रूप में करते थे। अतएव गुर्टूजी की संयम और नियमन की तलवार सदा छात्रों में चमकती रहती; परन्तु जो निकट संपर्क में आता, उसे आश्चर्य होता, क्योंकि उसमें दया और वात्सल्य की पालिश चढ़ी रहती थी। वास्तव में सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की सैनिक शिक्षा, जिसे अंगरेज हाकिम 'एक बला' समझते थे—आज भारत में अनिवार्य सी बन बैठी है। नागरिक-ज्ञान, नागरिक कर्त्तव्य, नागरिक शिक्षा का श्रीगणेश सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में श्रीगुर्टू जी की अध्यक्षता में हुआ जो आज एक स्वतंत्र विषय के रूपमें देश भर में व्याप्त हो चुका है। पार्लियामेन्ट्री-शिक्षा का उदय यहां हुआ और आज हम यूनिवरसिटीके छात्रों को यूनियन के नाम पर सत्याग्रह करते पा रहे हैं।

श्रीगुर्टूजी का कार्य इतना मोहक और आकर्षक रहा है, उनकी पाठन शैली इतनी अनुपम रही है तथा उनके प्रयोग इतने व्यापक तथा उद्बोलक रहे कि श्री सी. वाई. चिन्तामणि जैसे उद्भट विद्वान तथा निर्भीक आलोचक ने मिनिस्टर होते ही श्रीगुर्टूजी को अपना सचिव नियुक्त किया था। वे ६ वर्षोंतक प्रयाग विश्व-विद्यालयके कुलपति चुने गए थे तथा काशी हिन्दूविश्वविद्यालय में अनेक वर्षोंतक उप-कुलपति, खजानची अथवा कोर्ट तथा काउन्सिल के प्रमुख सदस्य के रूप में कार्य करते रहे हैं।

डा० वेसेन्ट के अनुयायियों ने जब ऋषिवैली ट्रस्ट स्थापित कर राजघाट में

एक उपनिवेश बसाया और स्कूल-कालेज खोले तब श्रीगुर्टू जी वहाँ भी सेवा कार्य करते रहे हैं—प्रि० संजीवरावजी के मद्रास चले जाने पर ये सेक्रेटरी के रूप में सब कार्य सम्हाल रहे हैं। यद्यपि आप ७५ वर्ष के हुए परन्तु दो वर्षों तक भिन्न-भिन्न स्थानों का दौरा करके अपने प्रभाव से लगभग दो लाख रुपयों की निधि संचय करने में आप सफल हुए हैं।

"सेन्ट्रल हिन्दू कालेज तथा स्कूल" के छात्र आज आपका अभिनन्दन करते हैं तथा आपकी दीर्घायु के लिए परमात्मा के चरणों में विनम्र प्रार्थना करते हैं।

कौन कौन गुण गाऊँ अपने नारायण के।

(श्रीमाधव प्रसाद खन्ना, भूतपूर्व प्रधान मन्त्री, नागरीप्रचारिणी सभा तथा आर्यसमाज, काशी)

देश की उन्नति तथा जाति को जीवित रखने के लिये अनुभवी, त्यागी, साहसी व प्रगतिशील महानुभावों की आवश्यकता होती है। मैं अपने चालीस वर्षीय परिचय-प्राप्ति के सौभाग्य के अनुभव से लिख सकता हूँ कि ये गुण पूज्य पंडित इकबाल नारायणजी में विद्यमान हैं। उनका सम्पूर्ण जीवन देश-सेवा तथा हिन्दू जाति की उन्नति के चिंतन में व्यतीत होता रहा है। उनके जीवन को सार्वजनिक सेवाओं से पृथक् नहीं किया जा सकता। पंडितजी ने कितने ही विद्यार्थियों के भविष्य जीवन को उच्च कोटि का बनाया तथा कष्ट में फंसे हुए परिवारों की सहायता, परिवार के प्रमुख व्यक्ति (head of the family) के न रहने पर, की है, जिनका नाम उल्लेख करना उचित नहीं है। मैंने अपने अनुभव में उनके अन्दर एक बड़ा गुण यह पाया कि वे सच्चे हितैषी के नाते अपने मित्रों का स्वतः ख्याल रखते हैं। आवश्यकता पर बिना याचना के सहायता करते हैं।

पंडित जी की सुरुचि सर्वदा मेल की ओर मैंने पाई है, चाहे वह संस्थाओं से सम्बन्धित रही हो या व्यक्तियों से। मैंने उनको संस्थाओं तथा व्यक्तियों के झगड़े में भी विरोधात्मक भावनाओं से परे पाया है। इसके कई उदाहरण हैं जिनका जिक्र करना ठीक नहीं है। संस्थाओं के सम्बंध में पण्डित जी के विचार अमली रहे हैं। आकाश में घोड़े कभी नहीं दौड़ाते रहे, इसी कारण कुछ लोग उनको रूखा तथा कड़ी प्रकृति का बतलाकर आक्षेप करते हैं। वे संस्थाओं के संबंध में भी कभी चालबाजी से पार्टी नहीं बनाते रहे। वे सर्वदा दलदल से

ऊंचे रहे। कुछ मेरे परिचित सज्जन जिस समय बनारस म्युनिस्पल बोर्ड की चेयर-मैनी के लिये प्रस्ताव लेकर पंडित जी के पास आये तब उन्होंने कहा कि यदि बोर्ड के सदस्य सर्व सम्मति से चुनने को तय्यार हों तब मुझको स्वीकार है।

पंडित जी अवैतनिक कार्यकर्ता की हैसियत से भी जो कार्य हाथ में लेते रहे हैं उसके सम्बंध में वैतनिक कार्यकर्ता से कम परिश्रम नहीं करते रहे। उदाहरणार्थ बनारस म्युनिस्पल बोर्ड की चेयरमैनी है, जिसका कार्य उन्होंने परिश्रम के साथ दफ्तर में काफी घंटों तक बैठकर सुचारु रूप से सुसंपन्न किया था। जब बनारस म्युनिस्पल बोर्ड तोड़ा गया तब लिंच साहब के आने के पूर्व पंडित जी के बोर्ड संबंधी कार्यों से संतुष्ट होने के कारण, सरकार ने उनके सामने बोर्ड सम्बंधी पूर्ण अधिकार देने का प्रस्ताव रखा था। सिद्धांततः पंडित जी ने इसको स्वीकार नहीं किया क्योंकि यह प्रस्ताव लोकतंत्र के विरुद्ध था।

श्रद्धाञ्जलि

(राय गोविन्द चन्द्र, एम० ए०, भूतपूर्व चेयरमैन, म्यु० बो० बनारस)

आदरणीय पण्डित इकबाल नारायण गुर्टू जी के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ इसे मै अपना परम सौभाग्य समझता हूँ। सेवा-व्रत धारण करके आपने अपना सम्पूर्ण जीवन जनता के हितसाधन में ही व्यय किया है। ऐसे कर्तव्यपरायण और निष्ठावान व्यक्ति इस बृहत् भारतवर्ष में भी कम हैं। इस देश के सभी सार्वजनिक कार्यकर्ताओं पर कोई न कोई दोष मढ़े गये; परन्तु आज तक किसी ने भी पण्डितजी पर किसी प्रकार का दोषारोपण करने का दुःसाहस नहीं किया। मैं बाल्यकाल से पण्डित जी का अनन्य भक्त रहा, इस कारण नहीं कि वे मेरे पिता के शिक्षक थे अपितु इस कारण कि आपका जीवन हम सब के हेतु आदर्श रहा। मुझे पण्डित जी को बहुत पास से भी देखने का अवसर प्राप्त हुआ है और मै कह सकता हूँ कि मनुष्य को किस लगन से अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिये यह इनसे कोई सीखे। कठिन से कठिन परिस्थिति में भी मैंने इन्हें अपने कर्तव्य से विमुख होते नहीं देखा। पण्डित जी भारत की एक विभूति हैं। इनका जितना हम आदर करें वह थोड़ा है।

जहाँ भी आपने कुछ कार्य किया वहीं आपने अपनी छाप छोड़ी, चाहे वह सचिवालय में हो अथवा काशी नगरपालिका में हो अथवा प्रयाग विश्वविद्यालय में हो अथवा हिन्दू विश्वविद्यालय में हो। आज भी आपके लिखे हुए मन्तव्य कार्यकर्ताओं को सहायक हो रहे हैं। भगवान आपको दीर्घायु करे जिससे हमें आपसे और शिक्षा लेने का अवसर प्राप्त हो सके।

चाचा जी

(श्री ब्रजकृष्ण जुत्शी, एम. ए., रजिस्ट्रार, म० स० विश्वविद्यालय, बड़ौदा)

• पचास वर्ष से ऊपर की बात है जब चाचाजी म्योरसेण्ट्रल कालिज में पढ़ते थे। तब से ही कालिज की सभाओं में व्याख्यान देने का उन्हें शौक था और बड़ों से सुना है कि वे अच्छे वक्ताओं में गिने जाते थे। एक मर्तबा डाक्टर सैयद महमूद इलाहाबाद पधारे और जस्टिस करामत हुसैन के यहाँ ठहरे। चाचाजी 'ला सोसायटी के मन्त्री होने की हैसियत से मुन्शी ईश्वर शरण के साथ डाक्टर महमूद के सामने व्याख्यान देने के लिए बुलाए गए। जस्टिस करामत हुसैन इन दोनों नौजवानों को जानते थे। उन्होंने चाचा जी का परिचय कराते हुए डाक्टर महमूद से कहा कि यह एक होनहार युवक हैं और व्याख्यान अच्छा देते हैं। डाक्टर महमूद ने जज-साहब की तरफ देखा और बोले "यह बोलते अच्छा हैं?" फिर चाचा जी की ओर मुड़ कर बेसाख्तगी से कहा "बोल बेटा।" मुंशी जी बताते थे कि इसपर चाचा जी सकपका गए और उनसे कुछ कहते न बना।

(२)

वकालत छोड़ बनारस आए हुए कुछ ही दिन हुए थे। दिल में जोश था सेवा का। मिसेज बेसेण्ट से दोचार मर्तबा मिल चुके थे और चाहते थे कि वह कोई काम करने को दें। एक दिन वह चाचाजी से बोलीं कि दफ्तर में समय समय पर बहुत से लोगों के पत्र आए हैं कि वे लोग सेण्ट्रल हिन्दू कॉलिजमें काम करना चाहते हैं, सो उन सब लोगों की फेहरिस्त बन जावे और उनकी डिग्रियों, योग्यता आदि का भी पूरा हवाला हो। चाचा जी ने बड़ी तत्परता से यह कार्य शुरू किया। यद्यपि यह काम बेकार सा मालूम होता था। बहुत सी पुरानी फाइलें उलट डालीं, पुराने पत्रों को पढ़ा। करीब महीने भर में बड़ी मेहनत से पूरा रजिस्टर तय्यार किया और वह मिसेज बेसेण्ट के सामने रक्खा गया। उन्होंने उस रजिस्टर को एक मर्तबा सरसरी निगाह से देखा और उठाकर किनारे रख दिया। चाचा जी शायद समझते थे कि उनसे सवाल किए जायेंगे और इस काम को करने के सिलसिले में उनको कुछ शाबाशी मिलेगी; परन्तु वहाँ कुछ भी न हुआ। कदाचित् इनके चेहरे पर खिंचता देखकर वह देवी बोलीं, "I just wanted to see if you could bear the drudgery of hard work". तब यह समझ पाए कि उनकी परीक्षा हो रही थी, जिसमें वह उत्तीर्ण हुए।

झाँका, पर शक दूर न कर सका। उसने धीरे से अदब से बाबा जी से पूछा "आप कहाँ से आ रहे हैं और कहाँ जाएँगे!" बाबाजी उसकी इन हरकतों पर कुछ नाराज और उलझे हुए तो थे ही उसके सवाल करते ही भल्ला कर बोले, "मैं खाकसार नहीं हूं।" यह नौजवान फिर निहायत नर्मी से बोला "नाराज न हों, हुजूर खाकसार तो मैं हूं।" उसकी इस हाजिरजवाबी पर बाबा जी मुस्करा दिए और अपना नाम वगैरह सब उसको बता दिया।

सादर श्रद्धाञ्जलि

(श्री राजाराम गो. भागवत, अध्यापक, सें. हि. स्कूल, काशी)

इस लेख की पार्श्वभूमि का सूत्रपात उस समय से होता है जब कि मैं सरोरुह के सुमधुर परिमल से आकृष्ट भ्रमर की भाँति हिन्दू स्कूल के गौरव और सुनाम से प्रभावित होकर शिक्षा ग्रहण के हेतु इस अनुपम विद्यालय की नवम कक्षा में सन् १९०७ में प्रविष्ट हुआ। उस समय इस संस्थाका संचालन प्रधानाध्यापक के रूपमें हमारे श्रद्धास्पद श्रीमान् गुर्टू जी के तत्वावधानमें हो रहा था। इसके पहले इसी पदको ख्यातनामा श्री अरंडेल सुशोभित कर रहे थे किन्तु उनकी नियुक्ति सेंट्रल हिन्दू कालेज के आचार्य (Principal) पदपर हो जाने से उनको कालेज विभाग में जाना और इस रिक्त स्थान का सारा बोझ गुर्टू जी को सौंप देना पड़ा। वाग्विभव तथा सरस्वती निष्यंद से सम्पन्न वाग्मी, धनाढ्य परिवार में प्रसूत होने से जन्मजात कुलीनता व गांभीर्य से युक्त मानी पुरुष, ओजस्वी विद्वान् और तारुण्यावस्था-जन्य उमंग व कर्मनिष्ठा से प्रेरित उत्साही नवयुवक श्री अरंडेल जैसे चतुरस्त्र व्यक्ति के अधिकार-काल में सुचारु रूप से संचालित विद्यालय की धुरा किसी उत्तराधिकारी को संभालना टेढ़ी खीर थी। किन्तु इतना गुरुतर कार्यभार जीवन के प्रारंभ काल के नव यौवन में कंधे पर पड़ने पर जिस कुशलता, युक्ति व अच्छे ढंग से गुर्टू जी ने निभाया उसको देख कर किसी को भी दाँतों तले अंगुली दबाना पड़ता था।

आश्विन पौर्णिमा के षोडश कलापूर्ण दीप्तिमान् शीतल नवोदित चन्द्रमाके समान अपने पार्षदगणों के सहित जब श्री गुर्टू जी काशी नरेश हाल में प्रवेश कर ऊँचे मंच पर विराजमान होते थे तो उस समय की शोभा तथा महिमा का वर्णन शब्दों के परे है। तदनन्तर उनके सहयोगी संस्कृत के अध्यापक स्वनाम-धन्य स्वर्गीय श्री रामचन्द्र कोटिभास्कर का प्रार्थना-पठन सुमधुर कंठसे जब

प्रारंभ होता था तो सारा प्रार्थना-भवन उनकी श्रवण सुभग ध्वनि से गूँज उठता। श्री गुर्टूजी के व्यक्तित्व की गंभीरता से अनुप्राणित तथा श्री कोटिभास्करजी के श्रुतिमनोहर स्वरमाधुर्य से प्रभावित विद्यार्थी-गण और अध्यापक वर्ग अपने को भूलकर एकाग्रता से प्रार्थना पढ़ने में लवलीन हो जाते। प्रार्थना की समाप्ति के पश्चात् श्री गुर्टूजी सारे भवन का चक्कर लगाकर देखते कि सब विद्यार्थी अपनी कक्षा में उपस्थित होकर अपने वर्गाध्यापक की आज्ञाओं का पालन कर पढ़ाई में दत्तचित्त हो गए हैं। विद्यालय में दो विश्रामकाल (Reccsses) होते थे। प्रत्येक विश्रामकाल के अन्त में निश्चितरूप से और अन्य समय भी कर्तव्यवश वे सारे विद्यालय की नित्य परिक्रमा कर निरीक्षण करते; जैसे ईश्वर-परायण कोई भक्त किसी पवित्र मंदिर की प्रदक्षिणा भक्तिभाव से करता है।

श्री अरंडेल के उत्तराधिकारी के रूपमें पदस्थ होने पर उनके सद्गुणों, सद्भावों तथा विद्वत्ता का श्री गुर्टूजी में प्रादुर्भाव होना दायभाग की भाँति क्रमप्राप्त हो गया इसमें कोई आश्चार्य नहीं है क्योंकि दोनों में अनेकों बातों का सादृश्य विद्यमान है। दोनों हैं एम. ए. एल.-एल. बी. दोनों महलों में पले हैं और उच्चकुलावतंस तथा समृद्धिशाली हैं। प्रयाग विश्वविद्यालय के दोनों "फेलो" भी थे। दोनों हैं सदय व त्यागशील और दोनों ने कई संस्थाओं का आजन्म अवैतनिक निष्ठापूर्ण सेवा की है। एक पहलू से दोनों में बड़ा अन्तर है। श्री अरंडेल थे मृगमुख तथा श्री गुर्टूजी व्याघ्र मुख परंतु पके आम की तरह दोनों का हृदय है कोमल, रसाल, उदार और समदुःखी। श्री गुर्टूजी हैं गौरवर्ण और श्री अरंडेल थे श्वेताङ्ग। श्री गुर्टूजी यदि युरोपियन पहनावा पहनकर अंग्रेजी बोलना आरंभ करें तो कोई भी बिना भ्रमके उनको एक अंग्रेज समझेगा।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में, आज से ४५ वर्ष पूर्व, देश को स्वतंत्र करने के आन्दोलन ने बड़ा ही उग्ररूप धारण कर लिया था और उसी मात्रा में शासकों द्वारा अत्याचार और दमन प्रबल हो उठा था। श्वेताङ्ग युरोपियन को देखकर लोगों के चेहरे का उन दिनों फीका पड़ना और उनके मनमें आतंक छा जाना स्वाभाविक था। युरोपियनों का जनसाधारण पर अतिशीघ्र प्रभाव पड़ता था क्योंकि उसमें दण्डविधान के भय का बीज निहित रहता था। हिन्दू स्कूल या कॉलेज की इस बात में बिलकुल भिन्नता थी। क्योंकि यहाँ भयजन्य वातावरण का पूर्णतया अभाव था। हिन्दू स्कूल में शारीरिक दण्डदान का सर्वथा निशेध था। शेरवानी-चूड़ीदार पैजामा-फ़ेल्ट कैप के वेश में जब श्रीगुर्टूजी विद्या भवन के देखभाल के लिये, चक्कर काटते तब सर्वत्र सन्नाटा छाया हुआ रहता और पूर्णशांति विराजमान रहती। छात्रवृन्द, सहयोगी वर्ग तथा अन्यान्य संसर्गियों पर आपका समान रूपसे ऐसा प्रभाव पड़ता था जैसा कि किसी तत्कालीन युरोपियन अध्यापक का नहीं। आपके अनुशासन का बन्धन ऐसा कठोर था कि वैसा किसी युरोपियन में कठिनाई से पाया जाता हो। ईश्वर ने श्रीगुर्टू

विचारमग्न गुर्टू जी
(१९३५)

गुर्टू दम्पति (१९३९)
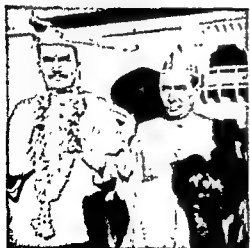
डा० काटजू के साथ

उप-कुलपति के रूप में
मालवीयजी के साथ

जी के मुखपर गंभीरता तथा ओज का एक ऐसा स्वाभाविक पुट लगा दिया था कि उनको देखते ही कोई भी विद्यार्थी भयभीत होकर धृष्टता या उच्छृंखलता दिखाने का साहस न करता। आपमें एक ऐसी सहज नैसर्गिक प्रतिभा थी कि जिसके बलसे दूसरों से अनुशासन पालन कराने के लिए उन्हें कोई मानसिक या शारीरिक प्रयास न करना पड़ता। संयम और विनयन के अनुशीलन में आप सदा आग्रहपूर्वक सतर्क रहते थे। यही कारण था कि आप जब कभी निरीक्षण के लिये गश्त लगाते तो कोई भी बालक कक्षा के बाहर न फटकता था। अनुशासनात्मक कार्य करते समय आप किसी प्रकार का इंगित, हस्तादि चालन स्वरूप, अंगविक्षेप, हावभाव या अपशब्द का प्रयोग न करते किन्तु उनका ओजस्वी व्यक्तित्व तथा अनुपम मर्मभेदी दृष्टि अनायास ही कार्य सिद्ध कर लेती।

कठोर अनुशासन के कट्टर पुरस्कर्ता होते हुए भी आपका हृदय सद्गुणों का रत्नाकर था। निर्धन विद्यार्थियों को सहायता पहुंचाना, उनके दुःख में सम वेदना प्रगट करना, देशभक्त तथा देशसेवक एवं राष्ट्रीय भावों से उत्प्रेरित किन्तु अंग्रेज शासक के कोपभाजन विद्यार्थियों को प्रश्रयदान, संसदीय (Parliamentary) तथा वादविवादात्मक प्रथाओं की विधिवत् शिक्षायोजना, प्रभृति आपके अधिकार-कालकी उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। कठोर अनुशासक होने के नाते यह समझना भूल होगा कि आपमें हास्यरस का पूर्ण अभाव था। परन्तु इसके विपरीत आपमें रसिकता प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी। जब आप अपनी मित्र गोष्ठी में बैठकर हँसीठट्ठा करते थे तो आप हास्यरसके अक्षय उत्स प्रतीत होते और आपकी विनोद प्रियता का कौतुक होता था, आपके रसिक वार्तालाप से पार्षद्गणों का मुखकमल खिल उठता था और स्वयं आपका वदन हास्योदक से उल्लसित तथा अरुण हो जाता था।

दो वर्ष पूर्व घटित एक घटना का उल्लेख कर स्थल-सकोच तथा विस्तार भय से इस लेखको समाप्त करना है।

एक दिन काशीके विवेकानन्द रोड पर पैदल जाते हुए श्री गुरूजी का दर्शन आपके ४५ वर्ष के इस पुरातन छात्र को अकस्मात होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

आपने विनोदपूर्ण वाणी से संबोधित कर मुझसे कहा—"तुम मुझसे अधिक वृद्ध तथा जराजीर्ण प्रतीत होते हो। मैं इस अवस्थामें भी अपने को तुमसे अधिक तरुण तथा कार्यक्षम पाता हूँ।"

मेरे गुरुजी के मुखारविंद से इन मधुमय शब्दों का क्षरण होते ही मैंने विनय पूर्वक उत्तर दिया—"पौराणिक राजा ययाति की भाँति आप यदि अपने नव यौवन का मेरे वार्धक्य से विनिमय करने के लिये तत्पर और समर्थ हैं तो अविलम्ब इस कार्य का सम्पादन हो जाना चाहिये।"

श्री रामचन्द्रजी के अनुज श्री भरतजी ने उनकी अनुपस्थिति में उनकी पवित्र पादुकाओं का वैराग्य तथा श्रद्धासे पूजन करते हुए अयोध्या के राज्य को उनकी पावन धरोहर समझकर निःस्वार्थभाव से संभाला था। श्री गुर्टूजी की त्यागमय स्वार्थहीन सेवाओं से अनुप्राणित होकर आपके पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए आपके कतिपय छात्रोंने इसी विद्यामंदिर में अध्ययन और अध्यापन का कार्यकर अपने उत्सर्गमय जीवनकाल का अधिकांश यहीं व्यतीत कर अवकाश ग्रहण करने तथा सेवा-निवृत होने में सफलता प्राप्त की है। जो जो शिक्षा-संस्थाएँ आपके त्यागमूलक संसर्ग से सिंचित तथा कुशल आदर्श कार्यप्रणाली से अंकुरित हुईं, आपके अदम्य उत्साह से पनपीं, फलीं फूलीं और अटूट लगन से फूलके समान खिलकर अपनी सुरभि अविच्छिन्न रूपसे सारे भारत में फैलाने में सफलीभूत हुईं, वे सब आपके पुण्यमय संपर्क में आने से अपने को आज भी धन्य, गौरवान्वित, सौभाग्यशाली और कृतकृत्य समझती हैं।

अन्तमें मैं इस शुभ अवसर पर आपके चरणकमलों में सादर श्रद्धा सुमनाञ्जलि समर्पित कर भगवान् भूतभावन से नम्र हार्दिक प्रार्थना करता हूँ कि आपको मानसिक स्वास्थ्य, शारीरिक आरोग्य तथा चिरायु प्राप्त होकर आप भारतीय शिक्षासंस्थाओं को धर्म-प्रेम-त्याग-शील के मंत्रसे संजीवित कर चिरकाल तक उनका अमोघ मार्ग प्रदर्शन करते रहें। वन्दे मातरम।

"सेन्ट्रल हिन्दू कालेज" का आदर्श तथा श्री गुर्टूजी।

(श्री साँवलजी नागर, अध्यापक, से० हि० स्कूल, बनारस)

सन् १८९९-१९१४ का काल "सेन्ट्रल हिन्दू कालेज" के नाम से विख्यात रहा। इस काल में स्कूल और कालेज विभाग पृथक् रहते हुए भी एक थे। उनका ध्येय, उनका आदर्श, उनकी कार्य प्रणाली, उनकी व्यावहारिक प्रणाली एक थी। श्री इकबालनारायणजी गुर्टू ने इसी संस्था के द्वारा अपने त्याग के प्रयोग नव युवकों द्वारा भावी पीढ़ी के सम्मुख उपस्थित किए थे। वे वास्तव में सत्य के प्रयोग रहे और भारत के हित के लिए वे सदा अमर हैं और अमर रहेंगे।

प्रथम ध्येय रहा **'धार्मिक शिक्षा'** जिसका प्रयोग यहाँ की प्रथम विशेषता रही है। सम्प्रदाय और पंथ के अनुयायी, निर्गुण और सगुण के कट्टर उपासक, एक मंत्र पर एकही स्तुति क्योंकर कर सकेंगे—परंपरा की इस गुत्थी को सुलझाने का प्रथम सार्वजनिक प्रयास इस कालेज में श्री अरंडेल और श्री गुर्टू के समय में

हुआ और पूर्ण रीति से सफल सिद्ध हुआ। भारत के विभिन्न प्रान्तों की अनेक शिक्षा-संस्थाओं ने इसे अपनाया। अखिल भारतीय रिलिजस परीक्षा में प्रथम आने वाले छात्र को स्वर्ण पदक मिलना एक गौरव की बात समझी जाने लगी।

संस्कृतशिक्षा

संस्कृत के ज्ञान-दान का सार्वजनिक प्रसार हो, भारतीय संस्कृति की अपूर्वताओं की वाहक भाषा का प्रेम विद्यार्थी मात्र में प्रस्तरित हो जाय इस हेतु से इस संस्था में उसे अनिवार्य रूप में पढ़ाना निश्चय किया गया। स्पेशल क्लासकी व्यवस्था भी की गयी जिसमें सभी श्रेणियों को इसके ज्ञान-प्राप्ति का सुअवसर प्राप्त हो। आज ५३ वर्षों बाद होम मिनिस्टर काटजू जिसके सार्वजनिक प्रचार की राय दे रहे हैं उसका सफल प्रयोग इसी संस्था की देन है।

पूर्व और पश्चिम का समन्वय

इस विद्यालय का पवित्र आदर्श रहा है। पश्चिमीय ज्ञान को पूर्वीय साँचे में ढालकर, उसे भारतीय संस्कृति में पवित्र कैर के छात्रों को अर्पण करना इसका अनुपम प्रयोग रहा। पौरुष, कर्मण्यता, स्फूर्तियुक्त कार्यतत्परता तथा वैज्ञानिक आविष्कारों की तुलनात्मक व्यवस्था यहाँ दी जाती थी। नम्रता, सुशीलता, सात्विकता तथा आत्मोद्धार की जरूरत यहाँ बताई जाती थी। अंग्रेज अध्यापक भारतीय गुणों को तथा भारतीय शिक्षक आँग्ल विशिष्टताओं को यहीं स्पष्ट करते नजर आते थे।

दैवी-प्रेम

अध्यापक और छात्रों में दैवी प्रेम का उद्भव यहीं प्रत्यक्ष हुआ। विद्यार्थी गुरू को अपना सर्वस्व हितचिन्तक समझते और गुरू उसे अपना वात्सल्यभाजन पुत्र मानते थे। कमजोर छात्रों को वे घर पर बुलाकर उन्हें विशेष शिक्षा देते। अंग्रेज महिलाएँ जो कविता पढ़ाती थीं छात्रों को घर पर एक घंटा बोलने की शिक्षा देती थीं। बदले में वे प्रेम की भिक्षा माँगती थीं। पैसा उनका आकर्षण न रहा। एक दूसरे को अपने हृदय में रख लेना चाहता था।

विशेष शिक्षा (सार्वजनिक ज्ञानकी शिक्षा)

आर्थिक, सामाजिक, व्यापारिक, सैनिक व्यवस्था का उचित और सही ज्ञान छात्रों में हो जाय इस भावना से यहाँ विशेषक्लास लगते थे। होम-रूल के जमाने में ये क्लास सायंकाल शहर में भी लगने लगे थे। आन्दोलन बाद में परन्तु सद्ज्ञान पहिले प्राप्त हो यह सुन्दर आदर्श मनमुग्ध करने वाला सिद्ध हुआ था। इस समय की पार्लमेण्ट में जिज्ञासु भाव की प्रबलता थी। सत्याग्रह और अनशन उसके सामने टिक नहीं सकते थे।

खेल का मैदान

सी० एच० सी० में खेल का मैदान शारीरिक गठन, मानसिक विकास तथा विशुद्ध प्रेमके प्रचार का केन्द्र रहा। केवल मनोरंजन उसका ध्येय नहीं रहा। इसकी प्रथम रिपोर्ट में लिखा है। "कानून के ढेरों से किसी कौमकी स्थायी उन्नति नहीं की जा सकती, जब तक वह कौम संयमहीन और आचरणभ्रष्ट है"। अतएव खेलका मैदान सदाचार सम्पन्न बलवान नागरिक बनाने के लिए था। संगठन और सहकारिता इसका आदर्श रहा। जो सैनिक शिक्षा यहाँ आरंभ हुई थी उसका इस समय सार्वजनिक प्रयोग किया जा रहा है। सी० एच० सी के लिए यह गौरव और संतोष की बात है।

त्याग और सेवा

श्री एनी बेसेंट, श्री अरंडेल, डा० भगवानदास, पं० छेदालाल, प्रो० उनवाला, श्री इकबाल नारायण गुर्टू, मिस अरंडेल, श्री श्यामाचरण दे आदि का आदर्श था त्यागपूर्वक सेवा। इसका प्रभाव समस्त अध्यापकों पर पड़ता गया। निर्वाह मात्र के लिए ही वे यहाँ वेतन लेते थे। न कभी वेतन-वृद्धि के हेतु झगड़ा हुआ न सत्याग्रह। अतएव यहाँ के छात्रों में भी वही आदर्श उतर आया। अनेकों ने सरकारी नौकरियों को तिलाञ्जलि दी, विशुद्ध सेवा ही उनका आदर्श बना। जिसने सरकारी पद स्वीकार किया उसने सेवाभाव अपनाया। वहाँ भी सार्वजनिक हितके लिए आत्मत्याग उनका आदर्श बना। यही आदर्श महात्मा गांधी का भी था जिससे हम स्वतंत्र बने।

श्री इकबाल नारयण जी गुर्टू ने अपना जीवन इन्ही आदर्शों के लिए समर्पण कर दिया। देशके उत्थान के इतिहास में उनका नाम स्वर्णाक्षरों से अंकित किया जायगा। ईश्वर करे देश के संचालकों में इसका प्रचार और प्रसार हो जावे। सी० एच० सी० के दो महान आदर्श यहाँ अंकित हैं।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥
नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तनाशनम्॥

"गुर्टू जी के म्युनिसिपल-अध्यक्ष-काल की झाँकी"

(श्री पं० जानकीशरण त्रिपाठी, सूर्य — संपादक, काशी)

आज एक महान् आदर्श पुरुष के जीवन की कुछ झाँकी से हृदय आनन्द में निमग्न हो रहा है। जिनमें सदाचार, शिष्टाचार के साथ ही साथ नैतिकता ने भी अपना निवास स्थान बना लिया है। ऐसे पुरुष-रत्न संसार में दुर्लभ होते हैं। सचमुच में भारतमाता के लिये यह महान् गौरव है जिसने ऐसे पुरुष-पुंगव को जन्म देकर अपनी महानता का परिचय प्रदान किया है। सत्यता, नैतिकता, न्यायप्रियता, सदाचारयुक्त जीवन ही वास्तव में जीवन है। पर इस विज्ञापन-प्रधान युग में इसकी झाँकी कहाँ ?

इस युग में जिसका विज्ञापन नहीं हुआ और जो विज्ञापनों से ऊब कर भागता फिरा उसकी सची झाँकी जनता को नहीं मिली तो आश्चर्य ही क्या ? इस दलबन्दी के काल में दल को ही सबसे उच्च स्थान प्राप्त है। यद्यपि यह भी पाश्चात्य जगत् की देन है, पर भारत ने तो इस काँच के टुकड़े को अमूल्य जवाहिरात ही समझ लिया है। इसके भ्रम में पड़कर यह अपना सब कुछ भूल गया है। अपने दल का काँच का टुकड़ा कबूल पर उसके बाहर का जवाहिरात नहीं। यही कारण है कि यह आज स्वतंत्रता के उज्ज्वल प्रकाश में भी घोर अन्धकार की तरफ बढ़ता जा रहा है, और यही पुराना राग ठकुरसोहाती अलापने वालों की ही शासन प्रबन्ध में पूछ है। अभी भी हमारे देश में वयोवृद्ध, अनुभवी और दूरदर्शी पुरुष-सिंहों की कमी नहीं है, पर "गुण न हेरानो, गुण ग्राहक हेरानो है" कहावत चरितार्थ हो रही है।

आज हमें उदारमना पं० इकबाल नारायण गुर्टू महोदय को श्रद्धाञ्जलि अर्पण करते हुये यह अपना उद्गार प्रगट करना पड़ा है, जब हम अध्यापक थे, उस समय तो नहीं, पर जब हमने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया तब हमें गुर्टू महोदय की यह झाँकी प्राप्त हुई। एक बार स्थानीय म्युनिसिपैलिटी की दशा और उसकी स्थिति डावाँडोल हो गई थी। सदस्यों की अकुशलता, स्वार्थान्धता और बदनीयती से भ्रष्टाचार ने उसमें अपना स्थान दृढ़ रूप से जमा लिया था। तत्कालीन सरकारी जाँच के फलस्वरूप भी उसकी पुष्टि हुई। ऐसी अवस्था में नागरिकों ने गुर्टू महोदय को चेयरमैन बनने के लिये प्रार्थना की, जिसके उत्तर में उन्होंने सर्व सम्मति से चुने जाने की इच्छा प्रगट की। वे संघर्ष में पड़ना नहीं चाहते थे और धींगाधींगी से अलग रहना चाहते थे। किन्तु जब हमने कुछ सदस्यों की प्रेरणा से जाकर उनके निवास-स्थान पर भेंट कर उनके समक्ष यह प्रस्ताव रक्खा तो फिर उन्होंने वही सदस्यों की धींगाधींगी, अकुशलता, स्वार्थान्धता

खेल का मैदान

सी० एच० सी० में खेल का मैदान शारीरिक गठन, मानसिक विकास तथा विशुद्ध प्रेमके प्रचार का केन्द्र रहा। केवल मनोरंजन उसका ध्येय नहीं रहा। इसकी प्रथम रिपोर्ट में लिखा है। "कानून के ढेरों से किसी कौमकी स्थायी उन्नति नहीं की जा सकती, जब तक वह कौम संयमहीन और आचरणभ्रष्ट है"। अतएव खेलका मैदान सदाचार सम्पन्नं बलवान नागरिक बनाने के लिए था। संगठन और सहकारिता इसका आदर्श रहा। जो सैनिक शिक्षा यहाँ आरंभ हुई थी उसका इस समय सार्वजनिक प्रयोग किया जा रहा है। सी० एच० सी के लिए यह गौरव और संतोप की बात है।

त्याग और सेवा

श्री एनी बेसेंट, श्री अरंडेल, डा० भगवानदास, पं० छेदालाल, प्रो० उनवाला, श्री इकबाल नायरण गुर्टू, मिस अरंडेल, श्री श्यामाचरण दे आदि का आदर्श था त्यागपूर्वक सेवा। इसका प्रभाव समस्त अध्यापकों पर पड़ता गया। निर्वाह मात्र के लिए ही वे यहाँ वेतन लेते थे। न कभी वेतन-वृद्धि के हेतु झगड़ा हुआ न सत्याग्रह। अतएव यहाँ के छात्रों में भी वही आदर्श उतर आया। अनेकों ने सरकारी नौकरियों को तिलाञ्जलि दी, विशुद्ध सेवा ही उनका आदर्श बना। जिसने सरकारी पद स्वीकार किया उसने सेवाभाव अपनाया। वहाँ भी सार्वजनिक हितके लिए आत्मत्याग उनका आदर्श बना। यही आदर्श महात्मा गांधी का भी था जिससे हम स्वतंत्र बने।

श्री इकबाल नारयण जी गुर्टू ने अपना जीवन इन्ही आदर्शों के लिए समर्पण कर दिया। देशके उत्थान के इतिहास में उनका नाम स्वर्णाक्षरों से अंकित किया जायगा। ईश्वर करे देश के संचालकों में इसका प्रचार और प्र जावे। सी० एच० सी० के दो महान आदर्श यहाँ अंकित हैं।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥
नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तनाशनम्॥

"गुर्टू जी के म्युनिसिपल-अध्यक्ष-काल की झाँकी"

(श्री पं० जानकीशरण त्रिपाठी, सूर्य — संपादक, काशी)

आज एक महान् आदर्श पुरुष के जीवन की शुद्ध झाँकी से हृदय आनन्द में निमग्न हो रहा है। जिनमें सदाचार, शिष्टाचार के साथ ही साथ नैतिकता ने भी अपना निवास स्थान बना लिया है। ऐसे पुरुष-रत्न संसार में दुर्लभ होते हैं। सचमुच में भारतमाता के लिये यह महान् गौरव है जिसने ऐसे पुरुष-पुंगव को जन्म देकर अपनी महानता का परिचय प्रदान किया है। सत्यता, नैतिकता, न्यायप्रियता, सदाचारयुक्त जीवन ही वास्तव में जीवन है। पर इस विज्ञापन-प्रधान युग में इसकी झाँकी कहाँ ?

इस युग में जिसका विज्ञापन नहीं हुआ और जो विज्ञापनों से ऊब कर भागता फिरा उसकी सच्ची झाँकी जनता को नहीं मिली तो आश्चर्य ही क्या ? इस दलबन्दी के काल में दल को ही सबसे उच्च स्थान प्राप्त है। यद्यपि यह भी पाश्चात्य जगत् की देन है, पर भारत ने तो इस काँच के टुकड़े को अमूल्य जवाहिरात ही समझ लिया है। इसके भ्रम में पड़कर यह अपना सब कुछ भूल गया है। अपने दल का काँच का टुकड़ा क़बूल पर उसके बाहर का जवाहिरात नहीं। यही कारण है कि यह आज स्वतंत्रता के उज्ज्वल प्रकाश में भी घोर अन्धकार की तरफ़ बढ़ता जा रहा है, और वही पुराना राग ठकुरसोहाती अलापने वालों की ही शासन प्रबन्ध में पूछ है। अभी भी हमारे देश में वयोवृद्ध, अनुभवी और दूरदर्शी पुरुष-सिंहों की कमी नहीं है, पर "गुण न हेरानो, गुण ग्राहक हेरानो है" कहावत चरितार्थ हो रही है।

आज हमें उदारमना पं० इकबाल नारायण गुर्टू महोदय को श्रद्धाञ्जलि अर्पण करते हुये यह अपना उद्गार प्रगट करना पड़ा है, जब हम अध्यापक थे, उस समय तो नहीं, पर जब हमने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया तब हमें गुर्टू महोदय की यह झाँकी प्राप्त हुई। एक बार; स्थानीय म्युनिसिपैलिटी की दशा और उसकी स्थिति डावाँडोल हो गई थी। सदस्यों की अकुशलता, स्वार्थान्धता और बदनीयती से भ्रष्टाचार ने उसमें अपना स्थान दृढ़ रूप से जमा लिया था। तत्कालीन सरकारी जाँच के फलस्वरूप भी उसकी पुष्टि हुई। ऐसी अवस्था में नागरिकों ने गुर्टू महोदय को चेयरमैन बनने के लिये प्रार्थना की, जिसके उत्तर में उन्होंने सर्व सम्मति से चुने जाने की इच्छा प्रगट की। वे संघर्ष में पड़ना नहीं चाहते थे और धींगाधींगी से अलग रहना चाहते थे। किन्तु जब हमने कुछ सदस्यों की प्रेरणा से जाकर उनके निवास-स्थान पर भेंट कर उनके समक्ष यह प्रस्ताव रक्खा तो फिर उन्होंने वही सदस्यों की धींगाधींगी, अकुशलता, स्वार्थान्धता

को प्रगट करते हुये अनिच्छा प्रगट की, इस पर हमने उन्हीं के बनाये हुये म्युनिसिपल विधान की ओर जब उनका ध्यान आकर्षित किया (क्योंकि इस विधान को उन्होंने ही, जब वे स्वर्गीय जगतनारायण मल्ल। मिनिस्टर के सभा-सचिव थे, तब बनाया था।) और कहा कि या तो आप इस लोकतांत्रिक विधान की गलती स्वीकार कीजिये या उसके अनुसार बोर्ड की अध्यक्षता स्वीकार कर उसे सुधारिये। उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया, और चुनाव की बैठक में पहले ही उन्हें इतने अधिक मत प्राप्त हो गये कि फिर दूसरे नाम के प्रस्तावित होने का अवसर ही नहीं आया और वे बहुमत से अध्यक्ष चुन लिये गये। यद्यपि उस समय उनकी उम्मेदवारी के विरुद्ध खड़े हुए सज्जन की प्रेरणा से एक प्रसिद्ध कांग्रेसी महाशय कुछ समय तक के लिये एक समाचार पत्र निकाल कर अपनी लेखन-कला का जौहर दिखलाते हुये उनकी निन्दा का ढोल खूब ही पीट रहे थे। पर उसमें वे सफल नहीं हुये।

अस्तु, बोर्ड में, जिसकी हालत वर्षों से बहुत खराब चली आ रही थी, श्री गुर्टू महोदयने अपने छः माह के कार्य-काल में बहुत बड़ा सुधार किया, क्योंकि उन्होंने अपनी स्मरण-शक्ति, लोकतांत्रिक ढंग पर योग्यता, कार्य-कुशलता, परिश्रम, अनुभव, नेकनीयती और नैतिकता आदि के बल पर तत्कालीन सदस्यों में नूतन जीवन-संचार किया और साथ ही साथ बोर्ड के कर्मचारी और नागरिक दोनों में विश्वास उत्पन्न किया। किन्तु उसी समय के वे प्रयाग विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर चुन लिये गये और वहाँ भी जाकर कार्य-भार सँभालना उनके लिये बड़ा आवश्यक था। अतः फिर योग्य अध्यक्ष के अभाव में बोर्ड जब्त होगया और सरकार की तरफ़ से एक ऐंग्लो इन्डियन कर्मचारी प्रबन्धक (ऐडमिनि-स्ट्रेटर) नियुक्त हुये।

एक बार भेंट करने पर उस प्रबन्धक महाशय ने गुर्टू महोदय के प्रति अपना यह उद्गार प्रकट किया कि मुझे नहीं मालुम था कि इण्डियनों में भी ऐसे योग्य पुरुष हुआ करते हैं। यदि आज वे अभागे भारत में पैदा न होकर, इंग्लैण्ड में पैदा हुये होते तो प्रधान मन्त्री होते। फाइलों पर उनके योग्यतापूर्ण नोटों को पढ़कर इच्छा होती है कि वे मिलें तो उनके चरण की धूलि सर पर लगाऊँ। कहने का तत्पर्य यह है कि आज हमारे देश में ऐसे योग्य अनुभवी पुरुष-रत्न मौजूद हैं जिनकी योग्यता से हम लाभ न उठायें तो हमारा और हमारे देश दोनों ही का महान् दुर्भाग्य है।

आज हम ऐसे उदारमना पं० इकबाल नारायण गुर्टू महोदय के जीवन की एक झाँकी द्वारा अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करते हैं।

संस्मरण

(श्रीविश्वनाथ लाल श्रीवास्तव, बेसेन्ट कालेज, राजघाट, बनारस)

श्रद्धेय श्रीमान् पंडित इकबाल नारायण गुर्टू जी का प्रथम दर्शन मुझे सन् १९१३ ई० की १० जुलाई को हुआ। उस समय मैं कक्षा ८ में नाम लिखाने के लिए भटक रहा था, और पंडित जी कमच्छा स्थित ज्ञानगेद स्कूल बिल्डिंग में प्रातः-स्मरणीय तेलंग साहब—श्री पंढरीनाथ काशीनाथ तेलंग जी—के साथ बैठे हुए स्कूल के दाखिला में सहारा दे रहे थे।

दोनों महान् मूर्तियों को देखकर मेरे हृदय में आस्था उत्पन्न हो आई। प्रसन्नता से हृदय भर आया और श्रद्धा से मस्तक आपसे आप देवतुल्य व्यक्तियों के सामने आदर पूर्वक झुक गया। यद्यपि यह घटना आज से ४० वर्ष पुरानी है फिर भी ताजी बन कर मेरे सामने आ खड़ी होती है। जब श्रद्धेय तेलंग साहब ने मुस्कराते हुए मुझसे पूछा कि क्या चाहते हो, तब उत्तर देने में विलंब होते देख पूज्य गुर्टू साहब ने मुझे ढाढस बँधाते हुए कहा, हाँ हाँ बोलो क्या चाहते हो। तब हिम्मत बटोरते हुए मैंने दबी जबान से उत्तर दिया कि एडमीशन चाहता हूँ। किस क्लास में ? फिर उसी सहमी जबान से उत्तर दिया कि ८वीं कक्षा में। कौन क्लास पास हो, और किस स्कूल में पढ़ते थे ! एक बार उत्तर दे देने के बाद कुछ हिम्मत बंध गई थी। कुछ खुश होते हुए मैंने उत्तर दिया, सेकेन्डियर पास हूँ और स्पेशल इंगलिश स्कूल में पढ़ता था।

साधारणतः सेकेन्डियर माने कालेज का एफ० ए० क्लास होता है। उसको पास करने के बाद ८वीं कक्षा में पढ़ना कैसा ? श्रद्धेय गुर्टू जी ने मुस्कराते हुए कहा, ठीक है। हिन्दी मिडिल पास होने पर अंग्रेजी पढ़ने वाले लड़कों को फर्स्टइअर याने सिक्स्थ क्लास में भरती करते हैं और ऐसे स्कूलों को जो ऐसे विद्यार्थियों को अँग्रेजी पढ़ाते हैं स्पेशल स्कूल कहते हैं। तब यह निश्चय हो गया कि सेकेन्डियर पास माने मैं सेविन्थ क्लास पास हूँ और एट्थ क्लास में नाम लिखाने के लिए उम्मीदवार हूँ। इस रहस्योद्घाटन पर एक बार बड़ी हँसी हुई। फिर मुझे नाम लिखाने का फार्म मिल गया, और मैं ८वीं कक्षा में भर्ती हो गया।

और एक बार की ऐसी घटना है जिससे यह बिलकुल स्पष्ट हो जायगा कि पूज्य गुर्टू जी कितने महान् और विशाल हृदय के हैं। जब सन् १९१६ ई० में अम्मा (श्रीमती डा० ए० बेसेंट) ने तेलंग साहब को होमरूल के लिए काम करने के हेतु अड्यार (मद्रास) बुला लिया और कुछ ही दिनों के बाद जब वे उन्हीं के साथ विलायत चले गये तब पूज्य गुर्टू जी अपने स्कूल—थियोसोफिकल हाई स्कूल—के प्रधानाचार्य हुए। मैं उन दिनों टेन्थ क्लास में पढ़ रहा था। स्कूल के वाताव-

रण ने मेरे ऊपर जो प्रभाव डाला उससे प्रेरित होकर मैंने दो पत्र लिखे, एक पत्र पूज्य गुट्टू जी के पास लिखा और दूसरा श्रद्धेय तेलंग साहब के पास। उसमें मैंने अपने बाल विवाह की चर्चा की। और यह प्रार्थना की कि मैंने इतने दिनों तक यह घटना गोप्य रखी थी। इसका मैं दोषी हूँ। मैंने स्कूल में नाम लिखाने के पहले इस बात को छिपा रखा था। इसका मैं अपराधी हूँ। आज आप लोगों के सम्पर्क में आने के कारण मुझको सत्य आचरण की प्रेरणा मिली है, इसी से आप लोगों के पास स्पष्ट लिखने का साहस हुआ है। आप जो उचित समझें दंड दें। मैं सहर्ष उसको स्वीकार करूँगा। दोनों गुरुजनों को एक ही पत्र था। केवल लिफाफे अलग अलग थे। पत्र लिखने के कई महीने बाद एक दिन स्कूल के सब विद्यार्थी और सब अध्यापक अम्मा का स्वागत करने के लिए बनारस कैण्ट स्टेशन पर गये हुए थे। मैं भी उन्हीं विद्यार्थियों में से एक था।

स्टेशन पर बड़ी चहल पहल थी। सबके मन में अम्मा के स्वागत के लिए बड़ा आह्लाद था। मैं भी स्टेशन के प्लेटफार्म पर टहल रहा था। एकाएक किसी ने मेरा हाथ पकड़ लिया और जोर से हाथ को दबाते हुए कहा, सुनो, मैं भौचक्का रह गया देखा कि सामने पूज्य गुट्टू साहब हैं। मैं डर सा गया। उन्होंने मुझको अपने साथ टहलने का संकेत किया। टहलते टहलते उन्होंने मुझसे कहा कि तुम्हारा पत्र मुझको मिला है। तुम्हारी सच्चाई और निर्भीकता पर मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ। इसमें तुम्हारा विशेष दोष नहीं है। यह तुम्हारे माता-पिता का दोष है। तुम चिन्तारहित होकर पढ़ो। पंडित जी यह कह ही रहे थे कि गाड़ी आ गई। सब अध्यापक अम्मा के डिब्बे की ओर दौड़े और सब विद्यार्थी प्लेटफार्म पर खड़े हो गये। अम्मा उतरीं और उन्हीं के साथ श्रद्धेय तेलंग साहब भी थे। स्वागत बड़ी धूम धाम से हुआ। सब लोग शान्तिकुंज में आकर ठहरे। तीन दिनों के बाद श्रद्धेय तेलंग साहब ने मुझको बुलवाया और मेरे पत्र की चर्चा करते हुए हँस कर मेरी पीठ ठोंकी और कहा कि मैं तुम्हारी सचाई से बहुत प्रसन्न हूँ। कुछ चिन्ता मत करो। जाओ मन लगा-कर पढ़ो। आजभी उस घटना का स्मरण कर आँखों में आँसू आ जाते हैं और प्रसन्नता से हृदय भर जाता है।

एकबार अखबार में हम लोगों ने देखा कि अम्मा बनारस के स्कूल को धना-भाव के कारण बन्द करना चाहती हैं ज्योंही गुट्टू साहब को यह बात मालूम हुई वे शीघ्र बंबई पहुँचे और श्रद्धेय तेलंग साहब को लिवाकर अम्मा के पास गये। उन दिनों अम्मा बंबई में ही थीं। और प्रयत्न करके उन्होंने विद्यालय की रक्षा कर ली। पूरे देश में भ्रमण कर इन्होंने धन संग्रह किया और अम्मा की सब शिक्षा संस्थाओं को सम्हाल लिया।

गवर्नमेन्ट में नौकरी और इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के कुलपति पदको पंडित

जी ने इसीलिए स्वीकार किया था कि वे धन द्वारा काशी और प्रयाग स्थित संस्था के विद्यालयों को सींचते रहें। अभी केवल तीन चार वर्ष का समय होता है अपने विद्यालयः (बेसेन्ट कालेज, राजघाट) की आर्थिक दशा अत्यन्त दयनीय हो गई थी, परन्तु पंडित जी ने इतनी अधिक उम्र होने पर भी अपने अथक परिश्रम द्वारा विद्यालय की आर्थिक दशा को सुदृढ़ कर दिया।

• एक बार की घटना है कि पंडित जी के घर पर यहाँ के डिप्टी कलक्टर और कमिश्नर साहब मिलने के लिए आने वाले थे। उन लोगों का आतिथ्य भार मुझ पर सौंपकर पंडित जी स्नान करने चले गये। कमिश्नर साहब अपने साथियों के साथ ठीक वक्त पर आ गये। मैंने उन लोगों का समुचित स्वागत किया। कुर्सी पर बैठते ही कमिश्नर साहब ने पूछा 'पंडित जी कहाँ हैं'। मैंने उत्तर दिया अभी आ रहे हैं। पाँच मिनट के बाद पंडित जी आ गये और सभी उपस्थित सज्जन पंडित जी के सम्मानार्थ उठकर खड़े हो गये। पंडित जी ने नम्रतापूर्वक सबको बैठने के लिए प्रार्थना करते हुए मजाक किया कि भारी भारी मेहमानों को देखकर मेजबान ने जब यह समझा कि मुझसे खातिरदारी न निभेगी तो उसने घर ही छोड़ दिया। इस बात को सुनकर सब लोग खूब प्रसन्न हुए और हँसे और कमिश्नर साहब ने मुस्कराते हुए कहा, परन्तु यह कहावत तो आपके लिए लागू नहीं हो सकती आपने तो हम लोगों की दावत का ऐसा बढ़िया इन्तजाम किया है कि घर पर दो दिनों तक खाने की जरूरत ही नहीं पड़ेगी।

ऋषि वैली ट्रस्ट के सर्व मान्य स्वतन्त्र विचारक श्री जे० कृष्ण मूर्ति जी हैं। ट्रस्ट द्वारा संचालित सब विद्यालयों का संवर्धन और उन्नयन उन्होंने श्री संजीव राव जी श्री माधवाचारी जी, श्री अच्युत पटवर्धन जी और श्री पंडित इकबाल नारायण गुर्टू जी के हाथों में सौंप दिया है। पंडित जी ऋषि वैली ट्रस्ट के इन दिनों प्रेसिडेन्ट (कुलपति) हैं। उनकी देखरेख में संस्था दिनों दिन उन्नति कर रही है।

श्रद्धेय तेलंग साहब के निधन पर संस्था को क्रियमाण रखने का सारा श्रेय पूज्य गुर्टू जी को है। तन मन धन यह वाक्यांश अक्षरशः पूज्य पंडित जी के लिए लागू है। तन से कार्य, मन से चिन्तन, धन से सहायता. यही गुर्टू साहब का बाना हो गया है। ऋषि वैली ट्रस्ट द्वारा संचालित शिक्षा संस्थाओं की अभिवृद्धि ही इनकी तपस्या है।

जीवन में कार्य करने की क्षमता, हृदय की विशालता, मस्तिष्क की प्रतिभा, नियम पालन की दृढ़ता, भविष्य की दूरदर्शिता, संयम की संलग्नता, मन की उदारता और आचरण की पवित्रता हमारे पूज्य गुर्टू साहब में शत प्रतिशत विद्यमान है। आज ७६वीं जन्म तिथि के शुभ दिन हम भगवान् से प्रार्थी हैं कि वे पंडित जी को शतायु करें जिससे वे अपने आशीर्वाद से हमारे भीतर जीवन

ज्योति भरते रहें और जिसमें उनकी तपःपूत वाणी से हमें उत्तम नागरिक बनने की प्रेरणा मिलती रहे।

श्रद्धा के फूल अंजलि में लेकर नतमस्तक मै पूज्य पंडित जी का अभिनन्दन करता हूँ।

श्रद्धेय पंडित जी का आदर्श

(श्री रामेश्वर जोशी, काशी)

सांसारिक झंझटों में व्यस्त रहने वाले जीव के लिये कब संभव है कि वह विशिष्ट आत्मा की महानता का पता पा सके ! शिष्य कभी अपने आचार्य की महिमा को बखानने में समर्थ हो सकता है ? अतः मैं भी अपने गुरु पंडित इकबाल नारायण गुर्टू के विषय में कुछ लिखने में संकोच का अनुभव करता हूँ।

पूज्य गुर्टूजी के पूर्वज काश्मीर से आकर मुगल बादशाहों के जमाने में कानपुर में बस गये। उनके पिता राय इन्द्रनारायण जी प्रख्यात जमीन्दार रहे और जज रहते हुए भी देशभक्त थे।

श्री गुर्टू जी ने एम. ए. और एल्-एल्. बी. परीक्षायें पास कीं और वकालत आरंभ की। सौभाग्य से श्री मोतीलाल जी नेहरू के गुरू श्री पृथ्वीनाथजी चक के तत्वावधान में कार्य आरंभ किया और यदि वकालत करते रहते तो हाईकोर्ट में सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त कर लेते, पर उनकी अन्तरात्मा उनके द्वारा देशोद्धार का कार्य कराना चाहती थी और उनकी धर्मपत्नी के अपूर्व त्याग ने उन्हें आत्मसमर्पण करने के लिये प्रोत्साहित किया। फलतः वे काशी आये और थियोसॉफिकल सोसाइटी के त्यागवीर-दल में उन्होंने अपना जीवन अर्पण कर दिया। इस प्रकार २० अक्तूबर, १९०५, संतगुर्टू जी के कारण उज्वल और पवित्र तिथि बन बैठी।

सी. एच. सी. में आपका आदर्श था प्रेम और सेवा—अन्धा व उन्मत्त बनाने वाला प्रेम नहीं, वरन् वह प्रेम जो भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों से आए हुए विद्यार्थियों के जीवन में ऐक्य स्थापन कर सके, जो उनमें प्राचीन व अर्वाचीन विद्या के प्रति, भारतीय संस्कृति और आदर्शों के प्रति, श्रद्धा और जातीय गौरव स्थापित कर सके। अपने शासन में वे कठोर तथा भयकारी से प्रतीत होते थे परन्तु उनका हृदय वात्सल्य का आकर था। शान्ति और सहिष्णुता का

उनका व्यवहार शायद एक कृतघ्न भी भूल नहीं सकेगा। दुर्बल अशक्त तथा गरीब छात्रों के उत्थान की ओर उनका सदा ध्यान रहा। सेवा-भाव से ही कमजोर विद्यार्थियों के लिये स्पेशल क्लास लगता था और अंग्रेज अध्यापिकायें वार्तालाप के बहाने एक घंटा बोलने की शिक्षा देती थीं। C. H. C में जितने नये प्रयोग किये गये उनकी सफलतामें श्री गुर्टू जी का प्रधान हाथ रहा है। आज ४६ वर्ष के बाद स्वराज्य मिलने और अपनी सरकार हो जाने पर भी हम उन प्रयोगों से १० इंच आगे नहीं बढ़ सके हैं।

जब C. H. C. हिन्दू यूनिवर्सिटी काउंसिल के सिपुर्द हुआ तो कतिपय त्यागवीर सदस्य रहने लगे परन्तु पूज्य पण्डितजी ने धन संग्रह के कार्य में महामना मालवीय जी का साथ दिया और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आरंभ में पूर्ण सहायता प्रदान की। उन्होंने इतिहास के मानद-प्रोफेसर रूप में भी श्री प्रो. पी. के. तेलंगजी को इतिहास-विभाग के संगठन में सहायता दी। वे सभी कमेटियों में सभासद चुने गये और प्रो-वाइस-चान्सलर तथा ट्रेजरर के रूपमें भी प्रशंसनीय कार्य किया। काशी विश्वविद्यालय ने उन्हें डी॰ लिट् की उपाधि प्रदान कर अपनी कृतज्ञता प्रगट की।

जब होम-रूल का जमाना आया तब श्री गुर्टूजी देशभक्ति से प्रेरित होकर उस कार्य में अग्रसर हुए। सरकारी कोप उनको ध्येय से डिगा न सका। भारत के मामले की वकालत करने लंदन जा रहे थे परन्तु तत्कालीन सरकार ने जहाज को जिब्राल्टर में रोककर आपको आगे बढ़ने की इजाजत न दी।

प्रयाग विश्वविद्यालय के सभासदों पर आपके अपूर्व त्याग का प्रभाव पड़ा और आप कुलपति चुन लिये गये। प्रायः ६ वर्षों तक आपने उसके कार्य को त्यागपूर्ण भावसे सम्हाला। विश्वविद्यालय ने एल्. एल्. डी. की डिग्रीसे आपको विभूषित कर कृतज्ञता प्रगट की।

सन् १९१९ का शासन-सुधार कार्यरूप में परिणत होने लगा तो पण्डितजी धारा सभा में चुने गये और श्री जगतनारायण मल्ला के सभासचिव नियुक्त हुए।

जब प्रिन्सिपल संजीवरावजी "ऋषि वैली ट्रस्ट" के कार्य से विरत हुए तो आपकी पुकार हुई और पूज्य पण्डितजी ने उस कार्य को हाथ में लिया। लाखों रुपया एकत्र करने में श्री गुर्टूजी के प्रभाव ने विलक्षण कार्य किया जिसको इस पंक्तिके लेखक ने स्वयं देखा है। उन्होंने अपनी निजी निधिको भी अर्पण कर दिया।

आज जब पण्डितजी को अभिनन्दन ग्रंथ समर्पित हो रहा है, मैं अपने प्राचीन छात्र-परिवार और व्यापारिक परिवार की ओर से उनके चरणों में श्रद्धाञ्जलि समर्पित करने में अपना सौभाग्य समझता हूँ।

परमात्मा आपको दीर्घायु देवे और आपके वरद हस्त द्वारा देश का मंगल हो।

श्रद्धेय पण्डित जी

(श्री रविशरण वर्मा, वकील, काशी)

श्रद्धेय पण्डित इक़बालनारायण गुर्टू से मेरा सम्पर्क सन् १९०७-८ के लगभग हुआ जब मैं सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल में निम्नतम वर्ग का विद्यार्थी था। उस समय से लेकर आजतक पण्डितजी मेरी श्रद्धा, प्रेम, पूजा तथा सम्मान के भाजन रहे हैं। उनके समीपस्थ होने पर मेरे हृदय में वे ही भावनायें आज भी उदय हो आती हैं जो मेरी छात्रावस्था में उमड़ती रहती थीं।

मेरे हृदय में पण्डित जी आदर्श शिक्षक, आदर्श नेता, आदर्श गुरु, आदर्श मित्र एवं आदर्श सज्जन सदा से ही रहे हैं। शराफ़त के तो वे मुजस्सिम रूप हैं। अपने विरोधियों के प्रति भी वार्तालाप एवं व्यवहार में लोगों ने उन्हें हमेशा शराफ़त से लबरेज़ पाया है। पण्डित जी सदा प्रसन्नचित्त, हँसमुख, सुशिष्ट हास्य और विनोद में हाज़िरजवाब प्रसिद्ध रहे हैं। सुशिष्ट मज़ाक और हास्य की परिभाषा तो यह है कि जिस पर हास्य के गुलाबी छींटे उड़ाये जायँ, या जिसके प्रति फबतियां कसी जायँ कसने वाले से अधिक कसे जाने वाले व्यक्ति के दिल में अधिक आनन्ददायक गुदगुदी, पैदा हो जाय।

पण्डित जी सन् १९२१ में कौंसिल की सदस्यता के लिये ग्रैजुयेट क्षेत्र से खड़े हुए थे। उनके प्रतिद्वन्दी थे स्व० डा० गणेश प्रसाद, गणित के जगत-विख्यात विज्ञाता, सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के तत्कालीन सुप्रसिद्ध प्रिंसिपल। मैं डा० गणेश प्रसाद के विरुद्ध, पण्डित जी के पक्ष में वोट संग्रह का काम कर रहा था। मुझे मिला था बनारस स्टेट के अन्तर्गत सभी ग्रैजुयेटों के मत-संग्रह का भार। इसी सिल-सिले में एक दिन एक जगह पण्डितजी तथा डा० गणेश प्रसाद का आमना सामना हो गया। एक दूसरे के मत-संग्रह के प्रयत्नों की सफलता की जब चर्चा चली तो डा० गणेश प्रसाद ने हँसते हुए कहा कि आपके गोरे चिट्टे और सुन्दर रूप को देख कर मुझ काले कलूटे को कौन वोट देगा। पण्डित जी ने हँस कर अत्यन्त विनोदपूर्ण लहजे में कहा कि आपके इस साँवले सलोनेपन के सामने क्या मजाल है कि आपको वोट देने के लिये मतदाताओं की लार न टपक पड़े। शब्द वस्तुतः ये न थे। किन्तु भाव यही थे जो इन शब्दों में व्यक्त किये गये हैं। वे दोनों स्वयं तथा सुनने वाले सभी इस सुशिष्ट हास्य से खिलखिला उठे।

पण्डित जी विनय, विनोद, औदार्य, शील और अनुशासन-प्रियता के एक अत्यन्त सुन्दर सम्मिश्रण हैं। आपका व्यक्तित्व एक ऐसे सुन्दर सुस्वादु एवं सर्वो-पयोगी मनमोहक फल के सदृश है जिसमें सुन्दर, सुमधुर, एवं सुस्वास्थ्यकर एवं रस भरा हो परन्तु ऊपर से वह एक बारीक परत ज़रा कठोर आवरण से, छिलके

रूप में ढका हो। जब पण्डित जी सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल के हेडमास्टर थे उस समय के छात्रों में अवसर पड़ने पर प्रायः पण्डित जी के लिये 'बादाम' की उपमा का प्रयोग किया जाता था। स्वर्गीय काली प्रसन्न चक्रवर्ती को लोग "जामुन" या "बदरी" (बेर) कहा करते थे। क्योंकि वे ऊपर से सुन्दर एवं सुस्वादु जामुन या बेर के गूदे के समान विनम्र, विनयी और मधुरभाषी थे किन्तु जामुन या बेर के कठोर बीज के समान अन्तर हृदय में उनके कर्तव्य भावना की दृढ़ कठोरता सदा ही पायी जाती थी। डा० अरण्डेल को लोग "अंगूर" की मिसाल दिया करते थे जो ऊपर और भीतर दोनों ओर मधुर और मुलायम थे, बीच में केवल एक सो बीज रूप में कर्तव्य निष्ठा रहती थी। पण्डित जी को जैसा ऊपर लिख आया हूँ, हमलोग बादाम की उपमा दिया करते थे। ऊपर से बादाम के छिलके की तरह उनका रोषयुक्त अनुशासन प्रियता का एक तह कठोर आवरण देखने में आता किन्तु भीतर सब मेवों का बादशाह मीठा पौष्टिक मगज बादाम, जो केवल आपको में सुस्वाद ही नहीं आपको बल, ओज, उत्साह, एवं स्वास्थ्य भी प्रदान कर सके।

निस्वार्थ सेवा भाव तथा आत्मत्याग के तो पण्डित जी सदेह रूप हैं। मुझे यह दृढ़ विश्वास है कि पण्डित जी को जो लोग किञ्चित भी जानते हैं उनमें कोई भी ऐसा नहीं कह सकता कि पण्डित जी ने कभी भी जबसे उन्होंने स्वर्गीय डा० एनी बेसेन्ट के आवाहन या प्रोत्साहन पर सार्वजनिक सेवा क्षेत्र में पदार्पण किया है, निजी स्वार्थ, पद, प्रभाव या प्रभुता की प्राप्ति के लिये तनिक भी कभी इधर से उधर किया हो। जब कि हम आये दिन देखते हैं कि लोग प्रत्येक सार्वजनिक सेवा क्षेत्र में, चाहे वह राजनीतिक हो चाहे सामाजिक, चाहे शिक्षण क्षेत्र हो, चाहे धार्मिक या आध्यात्मिक ही क्यों न हो, स्वार्थ साधन, अथवा कम से कम पद, प्रभाव और प्रभुता की प्राप्ति, अथवा येनकेन प्रकारेण यह अगर प्राप्त हो गयी हो तो उसे अधिक से अधिक समय तक स्थायी बनाये रखने के लिये किस गहराई तक नीचे उतर आते हैं। लोकसेवियों के भाव, भेष, भूषा के आवरण में स्वार्थसेवियों का जिस क्षेत्र में एक बार पदार्पण हो जाता है वह अपने लिये, अपने कुटुम्बियों के लिये, अपने जाति-भाइयों तथा समान भाषा भाषियों के लिये, उचितानुचित का विचार छोड़ कर सर्व भावेन अपने पृष्ट पोषक समर्थकों के लिये उस क्षेत्र को एक गोत्र अर्थात् मौरूसी चरागाह बना लेते हैं।

पण्डित जी का अधिकांश जीवन अवैतनिक सेवा में ही बीता है। वैधानिक व्यवस्था के अनुसार किसी सार्वजनिक सेवा के लिये वेतन-ग्रहण अनिवार्य हो, तो उसकी बात अलग है किन्तु इसके अतिरिक्त पण्डित जी की सेवायें सदा केवल अवैतनिक ही नहीं रही हैं; लोकसेवा के कामों में उनकी मुट्ठी सदा खुली हुई भी पायी गयी है।

पण्डित जी अनुशासन, और औदार्य, नियम-पालन सिद्धान्त-प्रेम और सहानुभूति का, जैसा हम ऊपर कह आयें हैं, एक सुन्दर सामंजस्य हैं। विशेषतः

अनुशासन और व्यवस्थाप्रियता के लिये पण्डित जी सदा से ही प्रसिद्ध रहे हैं। मानव स्वभाव है कि लोग अपने प्रति औदार्यपूर्ण कृत्यों को सरलता से भूल जाते हैं, किन्तु अपने प्रति किये गये अनुशासनात्मक कृत्यों को सहज में भूल नहीं पाते। अस्तु, ऐसे लोगोंमें जीवन भर जिनका सारा काम रियायतों शिफ़ारिसों एवं पक्षपातपूर्ण कार्यों के भरोसे चला करता है, 'उनके बीच में पण्डित जी प्रायः अखर जाते रहे हैं। ऐसे लोगों की कमी प्रायः प्रत्येक सार्वजनिक क्षेत्र में होती नहीं, विशेष कर आज कल। अस्तु, सभी संस्थाओं में जहां कहीं भी पण्डित जी रहे, वह प्रायः ऐसे लोगों के लिये परेशानी के बायस रहे हैं।

पक्षपात हीन न्यायशीलता के कभी कभी पण्डित जी के जीवन में अत्यन्त सुन्दर उदाहरण मिले हैं। जब वे सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल के हेडमास्टर थे तो उनके सम्बन्ध की ऐसी कहानियां प्रायः सुनने में आती थीं कि अमुक छात्र के वार्षिक परीक्षा में अनुतीर्ण हो जाने पर प्रोमोशन के लिये छात्र के अभिभावक ने जब बहुत आरजू मिन्नत की तब उन्होंने उसे यह कहा कि यह छात्र के भविष्य के लिये हितकर है कि वह एक बर्ष और उसी कक्षा में रह कर अपने कमज़ोर विषयों को मजबूत बनाले ताकि उसे आगे युनिवर्सिटी की परीक्षाओं में बुरी तरह फेल होने की नौबत न आवे। जब उसने यह कहा कि वह गरीब है और एक वर्ष फिर अपने बच्चे की पढ़ाई के खर्चे का बोझ कैसे उठा सकेगा; तो उन्होंने यह कहा कि अगर यही बात है तो एक वर्ष वह स्वयं उसके खर्चे का भार वहन करेंगे किन्तु बच्चे को एक वर्ष फिर उसी दर्जे में रहना पड़ेगा। सिद्धान्त-प्रेम, उदारता और सहानुभूतिका कितना सुन्दर सम्मिश्रण है।

जब पण्डितजी बनारस नगरपालिका के चेयरमैन थे तो उस समय भी एक ऐसी ही मनोरंजक घटना की बात कही जाती है। पण्डित जी अपने पक्षपातहीन न्याय एवं सिद्धान्त-प्रियता के लिये प्रसिद्ध तो थे ही नगरपालिका के कर्मचारी यह भी जानते थे कि पण्डितजी एक पक्के थियॉसॉफिस्ट हैं जो प्रायः अपनी सिद्धान्तप्रियता के लिये बदनाम रहते हैं। उनलोगों ने मिलकर उनकी न्यायप्रियता तथा सिद्धान्त की दृढ़ता को परीक्षा की कसौटी पर कसना चाहा। काशी के अनेक अभिमानी प्रभावशाली लोगों के जिम्मे जल-कर (वाटर टैक्स) बकाया में पड़े रहते थे। साधारण नागरिक निर्धारित अवधि के भीतर यदि जल-कर प्रदान करदें तो विला रू व रेयाअत उनके घर के पानी का कनेक्शन काट दिया जाता था। किन्तु नगर के प्रभावशाली धनीमानी व्यक्तियों की बात और थी। काशी की थियॉसॉफिकल सोसाइटी का जल-कर कभी किन्ही कारणों से बकाया में पड़ा रह गया था। नगर पालिका के कर्मचारियों ने नगर के सब छोटे बड़े बाकीदारों की फेहरिस्त इस नोट के साथ पण्डितजी के सामने पेश की कि करों की अदायगी निर्धारित समय के भीतर न होने से नियमानुसार कलों के कनेक्शन तत्काल

काट दिये जाने की व्यवस्था है। कहा जाता है कि इस सूची में सोसाइटी का नाम सर्व प्रथम रक्खा गया था। पण्डितजी ने फौरन उसपर हुकुम लिख दिया कि नियमानुसार कनेक्शन काटने के पूर्व अगर जल-कर अदा न हो जाय तो बिना पक्षपात कनेक्शन सबके काट दिये जायें। इधर यह हुकुम दिया उधर अपने निजी एकाउन्ट से एक चेक काटकर नगरपालिका के दफ्तर में सोसाइटी का बकाया जमाकर दिया, क्योंकि वे जानते थे कि नगर-पालिका के कर्मचारी सबसे पहले प्रातः होते ही कनेक्शन काट देंगे। न्याय, सिद्धान्त और नियम तथा अपनी सर्वप्रिय संस्था के सम्मान की रक्षा सब एक साथ ही किस सुन्दरता से हो गयी ?

पण्डित इकबाल नारायण गुर्टू को नर-रत्न के रूपमें नर-रत्नों की मर्मज्ञा स्वर्गीय डा० एनी बेसेन्ट ने खोज निकाला था, जब उनके अलौकिक व्यक्तित्व के प्रकाश में पण्डितजी के हृदय में निहित उनका मानव-प्रेम, देश-प्रेम एवं संस्कार रूपमें अप्रगट आध्यात्मिकता एकाएक चमक उठी थी। उन्होंने अपनी चमकी हुई वकालत को ठीकरों की तरह क्षण मात्र में ठुकरा कर अपने आपको डा० एनी बेसेन्ट के चरणों में सदा के लिये समर्पित कर दिया। वे पाँचवीं अप्रैल सन् १९०८ को थिऑसॉफिकल सोसाइटी जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के सदस्य बन गये। तबसे वे बराबर डा० एनीबेसेन्ट के नेतृत्व में उनके स्थापित सभी कार्य-क्षेत्रों में उनके दाहिने हाथ बने रहे। प्राचीन हिन्दूधर्मके मूल सिद्धान्तों पर आधारित इस देशमें सदियों से विस्मृत, शिक्षण-संसार में युगान्तर उपस्थित करने वाले जिस शिक्षण-सिद्धान्त की नींव उन्होंने सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना करके रक्खी थी, उस नवनिर्मित भवन के पण्डित जी जीवन भर एक अत्यन्त सुन्दर, सुदृढ़ एवं अविचल स्तम्भ बने रहे। वैसे तो डा० एनीबेसेन्ट के नाम के सहारे चलने वाली देश में अनेक शिक्षण-संस्थायें हैं, परन्तु उनके द्वारा प्रतिपादित एवं स्थापित शिक्षण पद्धति के मर्मज्ञ आज इने गिने ही रह गये हैं और उनमें पण्डित जी निर्विवाद रूप से अग्रगण्य समझे जाते हैं। डा० एनी बेसेन्ट के नेतृत्व में पण्डित जी राजनीतिक क्षेत्र में भी एक प्रमुख स्थान रखते थे किन्तु मेरी दृष्टि में पण्डित जी सर्व प्रथम एवं प्रधानतः एक सच्चे थिऑसोफिस्ट रहे हैं। उनके अन्यान्य रूप केवल लाक्षणिक ही समझे जा सकते हैं। थिऑसॉफिकल सोसाइटी का मूलाधार विश्वबन्धुत्वके रूप में भेद रहित मानव प्रेम है। परन्तु ऐसा प्रायः हर जगह और हर संस्था में हुआ करता है कि लोग संस्था के मूल सिद्धान्त को छोड़ कर उसकी शाखाओं के ही सिद्धान्त में अपने को खो देते हैं। फलस्वरूप शाखायें मोटी होती होती मूल तने से विलग हो जाती हैं और मूल तना शुष्क होकर उकठा कुकाठ ही रह जाता है। पण्डित जी थिऑसॉफिकल सोसाइटी के मूलाधार के ही अनन्य पुजारी रहे। शिक्षा-क्षेत्र की उनकी चिरस्मरणीय सेवायें सोसाइटी के मूलाधार मानव-प्रेम से उद्भूत एक निरन्तर अखिल स्रोत के ही सदृश है।

मानव-प्रेम का प्रसार, जितना विद्वत्तापूर्ण भाषणों से नहीं हो पाता, उससे कहीं अधिक सद्-शिक्षा द्वारा आने वाली पीढ़ियों को उदार मनोवृत्तियों की शिक्षा प्रदान करके सहज ही में किया जा सकता है। डा० एनीबेसेन्ट ने भी भारत में आते ही इसी मार्ग का अवलम्बन किया था।

पंडित जी की थिऑसॉफिकल सोसाइटी की सेवायें भी कुछ कम नहीं हैं। उन्होंने सात वर्षों तक भारतीय सोसाइटी के सर्वोच्च पद पर प्रधान मंत्री के रूप में उसकी सेवा की है। अन्यान्य रूप मे भी जो उन्होंने सोसाइटी की सेवा की है उन्हें विस्तार के साथ लेखवद्ध करना एक बृहद् कार्य है। हम इस समय इन्हीं कतिपय शब्दों में अपनी कृतज्ञता, श्रद्धा और प्रेम उन्हीं के एक साधारण छात्र के नाते उनके चरण-कमल में अर्पित करके सन्तोष कर लेते हैं। और ईश्वर से तथा थिऑसॉफिकल सोसाइटी के संस्थापक ऋषियों से यह करवद्ध प्रार्थना करते हैं कि उन्हें चिरायु करके भारतवर्ष तथा लोक की सेवा के लिये उत्तरोत्तर बल प्रदान करे।

निष्काम सेवक

(प्रो. मुकुट बिहारीलाल, अध्यक्ष, राजनीति विभाग, हिं० वि० बनारस।)

धर्म और उदारवाद डा० इकबाल नारायणजी गुर्टू के जीवन के मूल सिद्धांत हैं। उन्हीं की प्रेरणा और प्रभाव से पंडितजी के जीवन का विकास हुआ और उन्होंने आजीवन समाजकी सेवाकी है। वे धर्म और आध्यात्मिक शक्तिपर पूरा विश्वास रखते और नैतिक मूल्यों को धर्मका महत्वपूर्ण अंग समझते हैं। उनका निश्चित मत है कि नैतिक जीवन ही धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन हो सकता है। वह मनुष्य जिसका जीवन नैतिक नहीं, चाहे वह कितना ही विद्वान् और आध्यात्मवादी क्यों न हो, उनकी दृष्टि में छोटा है जिसकी सचाई और नेकनीयती पर उन्हें विश्वास होता है वे उससे मतभेद रखते हुए भी उसका आदर करते हैं, प्रेम भाव रखते हैं। धर्म के साथ उदारवाद गुर्टूजी की नैतिकता का आधार है। उन्होंने जहाँ धर्मसे निष्काम सेवा की शिक्षा ली, वहाँ उदार-वाद से नागरिक चेतना और सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना के पाठ पढ़े। पंडितजी का सार्वजनिक जीवन इन तीनों सिद्धान्तों को बड़ी खूबी से चरितार्थ करता है। आपने युवावस्थामें ही वकालत छोड़ आजीवन समाज-सेवा का व्रत लिया और तबसे अबतक निरन्तर उस व्रत का पालन कर रहे हैं। उनके सार्व-जनिक जीवन में स्वार्थ का नितान्त अभाव है। सार्वजनिक जीवन को निजी

व्यापार में बदलने की बात तो वे स्वप्न में भी नहीं सोचते और जो सार्वजनिक कार्यकर्ता ऐसा करता है उसे वे बड़ा ही निन्दनीय समझते हैं।

पद और प्रशंसा की लालसा के वे कट्टर विरोधी हैं। लिबरल पार्टी के सदस्य होते हुए भी उन्होंने दो चार लिबरल फेडरेशन का अध्यक्ष बनने से इन्कार कर दिया। प्रशंसा का विचार उन्हें कभी भी अपने कर्तव्य से विचलित नहीं कर सका। इस वजह से समाजकी अच्छी सेवा करते हुए भी उन्हें निरर्थक कटाक्ष का सामना करना पड़ता है। इससे उन्हें दुःख होता है। कभी कभी तीव्र वेदना और विह्वलता भी होती है। पर वे अपनी बात पर डटे ही रहते हैं। जब उन्हें कोई अधिकारी और कार्यकर्ता अपयश या झंझट के भयसे अपने कर्तव्य पालन में आनाकानी करता दिखाई देता है तब वे उनकी इस कमजोरी के लिए भर्त्सना करते हैं। उनका तो निश्चित मत है कि कर्तव्यपरायणता ही सार्वजनिक सेवा की पवित्र प्रेरणा है और आत्मतुष्टि ही सेवा का सर्वोत्तम पुरस्कार है।

पंडित गुर्टूजी अधिकार और उत्तरदायित्व के घनिष्ट सम्बन्ध पर विश्वास करते हैं। उनकी धारणा है कि सार्वजनिक अधिकार अधिकारी के उपभोग के लिए नहीं बल्कि सामाजिक कामों का संचालन करने के लिए है, जहाँ तक उसके संचालन के लिए अधिकार का प्रयोग आवश्यक हो वहाँ तक उसका प्रयोग अधिकारी का हक़ ही नहीं कर्तव्य भी है। पर इसके अलावा अधिकार का प्रयोग दुरुपयोग है, अन्याय है। जिस पद या अधिकार को वे स्वीकार करते हैं उसकी मान-मर्यादा की रक्षा वे अपना परम कर्तव्य समझते हैं। वे पदके अधिकार में जरा से अनुचित हस्तक्षेप को बर्दाश्त करने को तैयार नहीं।

पंडितजी में सार्वजनिक उत्तरदायित्व की भावना बड़ी प्रबल है। जिस कामको वे अनिच्छा पूर्वक ग्रहण करते हैं उन्हें वे उनलोगों से भी अधिक उत्तरदायित्व के साथ करते हैं जो उस प्रकार के कामको स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं। जो सामाजिक भार उनके कंधों पर आ जाता है उसे ठीक तौर पर उठाना वे अपना परम कर्तव्य समझते हैं। कर्तव्य-पालन में तत्परता और दृढ़ता उनके सार्वजनिक जीवन की एक बड़ी भारी खूबी है। पर अकसर यह खूबी विह्वलता और कट्टरता का स्वरूप धारण कर लेती है और तब उनके साथ काम करना कठिन हो जाता है।

पंडित गुर्टूजी वैधानिक जनतन्त्र के पक्षपाती हैं। सब बात कायदे करीने से करना उन्हें पसन्द आती है। कानूनी ढंगपर अन्याय का विरोध और मानव अधिकारों और हितों की रक्षा और वृद्धि वे आवश्यक समझते हैं। पर गैर-कानूनी विरोध का वे सदा विरोध करते रहे है। हुल्लड़बाजी से उन्हें चिढ़ है। पंडितजी जनतन्त्र के समर्थक हैं और चुनावको जनतांत्रिक प्रथा का अनिवार्य अंग मानते हैं। पर चुनावों की हुल्लड़बाजी और उम्मीदवारों की गैर जिम्मेदारी के

कारण चुनाव प्रथाके व्यापक विस्तार से वे घबराते हैं। वे स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व के अविच्छिन्न सम्बन्ध पर जोर देते हैं और उनके विचार में उत्तरदायित्व के विकास के साथ साथ ही जनतन्त्र का विकास हितकर है। वे अधिकारों के साथ कर्तव्यों पर जोर देना आवश्यक समझते हैं उनकी दृष्टि में कर्तव्य, हकों और अधिकारों से कहीं अधिक महत्वकी चीज है। उनका निश्चित मत है कि कर्तव्यपरायण नागरिक ही जनतन्त्र की रक्षा कर सकता है, जनतांत्रिक व्यवस्था को चला सकता है और जनतांत्रिक परम्पराओं को प्रतिष्ठित कर सकता है। कर्तव्य-विहीन नागरिक तो जनतन्त्रको हुल्लड़बाजी में बदल डाल सकते हैं। राजनीतिक पन्डे तो जनतन्त्र के लिए खतरा हैं। उनसे जनतन्त्रको बचाना हर जिम्मेदार नागरिक का कर्तव्य है। जनतन्त्र सबसे उत्तम पर सबसे कठिन राज्य व्यवस्था है। उसे सुचारु रूपसे चलाने के लिए नागरिकों को स्वस्थ जनतांत्रिक शिक्षा देने की बड़ी जरूरत है। उन्हें दुःख है कि जनताकी क्षमता पर ध्यान दिये बगैर भारतमें वयस्क मताधिकार चालू कर दिया गया। उनके विचार में उचित यही होता कि श्रीमती एनी बेसेन्ट के सुझावके अनुसार गांव पंचायतों का चुनाव वयस्क मताधिकार के जरिये होता और केन्द्र तथा राज्योंकी विधान सभाओं के प्रतिनिधियों का चुनाव सीमित मताधिकार पर किया जाता। पंडित जी को इस बात का भी बड़ा क्लेश है कि जनता को जनतांत्रिक नागरिकता के सिद्धान्त समझाने के बजाय उन्हें हुल्लड़बाजी सिखाई जा रही है, जनतन्त्र पर कायम सरकारें भी स्वस्थ जनतांत्रिक परम्पराओं को प्रतिष्ठित करने के बजाय प्रशासकीय मनमानी (ऑटोक्रैसी) को प्रोत्साहित कर रही हैं और बड़े बड़े जिम्मेदार नेता भी अपने व्यवहार में जनतांत्रिक कायदे करीने की कोई परवाह नहीं करते और राजनीतिक पंडों जैसा व्यवहार करते हैं। आजके जनतंत्रवादी के लिए वयस्क मताधिकार के सम्बन्ध में उनके विचारों का समर्थन करना कठिन होगा। वह तो वयस्क मताधिकार को जनतन्त्रका क्रांतिकारी सिद्धान्त मानता है और उसे जनतंत्र का बुनियादी उसूल समझता है। पर उस जनतांत्रिक को भी पंडितजी की भारतीय जनतन्त्र की समीक्षा माननी ही होगी और उनके आक्षेपों को ध्यान में रखते हुए त्रुटियों का प्रतिकार करने की चेष्टा करनी ही होगी और जनता में जनतांत्रिक चेतना और शऊर पैदा करना ही होगा।

पंडित गुर्टूजी आजकी दशासे असन्तुष्ट हैं और सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में सुधार जरूरी समझते हैं। उन्होंने स्वयं भी बहुत से क्षेत्रों में काम किया है। धार्मिक क्षेत्र में थियॉसॉफिकल सोसाइटी के एक सदस्यकी हैसियत से वे धार्मिक असहिष्णुता और साम्प्रदायिकता तथा संकीर्णता का विरोध करते हैं और धर्म के व्यापक तत्वों और नैतिक सिद्धान्तों पर जोर देते हैं। उन्होंने १९१६ में श्रीमती एनी बेसेन्ट के नेतृत्व में होमरूल आन्दोलन में भाग लिया और आगे

चलकर प्रान्तीय विधान सभा के सदस्य की हैसियत से ब्रिटिश साम्राज्यशाही का वैधानिक विरोध किया। कुछ दिनों पार्लिमेन्टरी सेक्रेटरी की हैसियत से मांटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों के द्वारा देश को आगे बढ़ाने की कोशिश की। उन्होंने एक वर्ष तक बनारस म्यूनिस्पल बोर्ड के चेयरमैन की हैसियत से काशी के नागरिकों की सेवा की। उन्होंने और भी बहुत से सार्वजनिक कार्य किये। पर पंडितजी उन्नीसवीं शती के उन बुजुर्गों में से हैं जो धर्म और देशभक्ति के आधार पर राष्ट्रीय शिक्षा के द्वारा देश के नवयुवकों को शिक्षित करना राष्ट्र के उत्थान का सबसे अधिक आवश्यक और ठोस रचनात्मक काम समझते हैं। इसी लिए उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में ही अपना सारा जीवन लगा दिया और बिना किसी पुरस्कार के आजीवन विद्यार्थियों की सेवा की। प्रयाग विश्वविद्यालय के वाइस-चान्सलर की हैसियत से जो कमाई की वह भी सबकी सब ज्युबिली ट्रस्ट को शिक्षा प्रसार के निमित्त अर्पण कर दी।

पंडित गुर्टूजी साम्प्रदायिक असहिष्णुता पर आश्रित धार्मिक राष्ट्रीयता तथा आधिपत्य-भावना पर आधारित संकीर्ण आक्रमणकारी राष्ट्रीयता को मानव-समाजके लिए घातक और आध्यात्मिक मानवता पर आश्रित उदार राष्ट्रीयता को मानव-समाज के लिए हितकर समझते हैं। उनका निश्चित मत है कि जहां भारत जैसे बड़े देश में समान धार्मिक विश्वास और व्यवहार असम्भव है, वहां सब मनुष्यों और सबधर्मों की आध्यात्मिक एकता पर अटल विश्वास हो जाने पर भिन्न भिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के हिन्दुस्तानी अपने में राष्ट्रीय एकता कायम कर सकते हैं। उनके विचार में मनुष्यों की तरह राष्ट्र भी आध्यात्मिक शक्ति का अंश है और प्रत्येक राष्ट्र को अपने जीवन के विकास और भविष्य के निर्माण में स्वतन्त्र होना चाहिए ताकि वह मानव-समाज के विकास में भाग ले सके। पंडित जी को भारत की आध्यात्मिक संस्कृति के प्रति विशेष अनुराग है और वे योरप के सांस्कृतिक आधिपत्यको सहन करने को तैयार नहीं। पर वे भिन्न भिन्न राष्ट्रों के सांस्कृतिक सहयोगके पक्षमें हैं तथा योरप और एशिया की संस्कृतियों के समन्वय का समर्थन करते हैं। वे चाहते हैं कि योरप भारत की आध्यात्मिक संस्कृति के मर्म को समझे और भारत योरप के विज्ञान और सामाजिक आदर्शों का अध्ययन करे। पूर्व और पश्चिम के बीचमें सांस्कृतिक सम्बन्धों की वृद्धि वे विश्व-विद्यालयों के विद्यार्थियों का एक कर्तव्य समझते हैं।

पंडित गुर्टूजी को भारत की आध्यात्मिकता पर गर्व है और वे उसे सुरक्षित रखना चाहते हैं पर वे भावी उन्नति में बाधक परम्परावाद को अपनाने के पक्ष में नहीं हैं। उनके विचार में सामाजिक ढाँचे की कड़ाई ने भारतीय जनता को "मुर्दा" बना डाला है, "सामाजिक जीवन और विचार-क्षेत्र दोनों में मनुष्य की स्वतन्त्रता को बुरी तरह खतरे में डाल दिया है", "शब्द प्रमाण और परम्परा

पर पूर्ण आश्रय की मनोवृत्ति पैदा कर दी है।" जनता "स्वाभिमान और आत्मविश्वास खो बैठी है।" उनका निश्चित मत है कि "सामाजिक दासता और बौद्धिक जड़ता की दुखद परिस्थितियों ने हमारे राष्ट्रीय जीवन का पतन किया है और राष्ट्रके जीवन-तत्वों को खा डाला है।" सामाजिक अन्याय और जड़ता के कारण हमें परतन्त्रता और अपमान का जीवन व्यतीत करना पड़ा है और इनसे छुटकारा पाकर ही हम अपने राष्ट्रको ऊंचा उठा सकते हैं। इसलिये "हमें अपनी सामाजिक कुरीतियों से मुक्त होना होगा, रीतिरिवाज और अंध विश्वास (superstition) के मुर्दा बोझ को फेंकना होगा और यह जानना होगा कि परिवर्तन और गति जीवन और विकास का नियम है। सामाजिक न्याय और स्वतन्त्रता के दावों के प्रति प्रबल भावना (sensitiveness) ही नये प्रयत्नों के लिये आवश्यक रचनात्मक शक्ति पैदा कर सकती है।"

पंडित गुट्टूजी के सामाजिक विकास के सिद्धान्तों पर उदारवाद और आध्यात्मिक मानवता की छाप है। उन्नीसवीं सदी के अंग्रेज उदारवादियों की तरह वे भी सुधारों को उपयोगितावाद की कसौटी पर रखते हैं और क्रान्तिकारी ढंगके बजाय वैधानिक ढंगपर सामाजिक, राजनीतिक आर्थिक ढाँचे में आवश्यक परिवर्तन करना चाहते हैं। वे धीरे धीरे क्रमिक विकास की अनिवार्यता पर विश्वास रखते हैं, क्रान्तिकी बातसे घबड़ाते हैं और अवैधानिक आन्दोलन का विरोध करते हैं। उन्नीसवीं सदी के अंग्रेज उदारवादियों के विचार ही, उनके राजनीतिक और आर्थिक विचारों के मूलाधार हैं। पर उनका उदारवाद आध्यात्मिक मानवता से प्रभावित है। इसी लिये स्वार्थ के बजाय जनकल्याण उनके जीवन का मूलमन्त्र है। उनका निश्चित मत है कि "यदि हम गन्दे स्वार्थ के घोर अन्धकार में काम करें तो मानव सम्बन्ध आनन्द देने वाले नहीं हो सकते।" निजी स्वार्थ के मुक्त व्यापार से जनकल्याण की सम्भावना पर इस तरह उन्हें विश्वास नहीं है। जनकल्याण के निमित्त आर्थिक व्यवस्था के नियन्त्रण की आवश्यकता वे अनुभव करते हैं और इस तरह उनके उदारवाद ने किसी हदतक सामाजिक उदारवाद का रूप धारण करलिया है पर वे निजी सम्पत्ति की व्यवस्था की उपयोगिता पर विश्वास रखते हैं और उसके उन्मूलन के विरुद्ध हैं। वे वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त के भी कट्टर विरोधी हैं। आर्थिक नियन्त्रणकी आवश्यकता मानते हुए भी वे आर्थिक नियन्त्रण को काफ़ी शककी निगाह से देखते हैं। और जिस गति से कांग्रेसी सरकारें आर्थिक क़ानून बना रही हैं उसे वे भयावह एवं हानिकर समझते हैं। उनपर बातचीत करते करते वे अकसर रुष्ट हो जाते हैं। ऐसा लगता है मानों वे तेजी की तेज आलोचना को छोडकर सब प्रकार की तेजी को गलत समझते हैं।

पंडित जी के ये सिद्धान्त उन विद्वानों को मान्य होंगे जो अध्यात्मवादी

मानवता, धीरे-धीरे वैधन क्रमिक विकास और निजी सम्पत्ति पर आश्रित आर्थिक व्यवस्था पर विश्वास करते हैं। पर बहुत से समाज विज्ञान के विद्वानों को उनके सिद्धान्त मान्य नहीं होंगे। इन विद्वानों के विचार में वर्ग-संघर्ष एक ऐसी वास्तविकता है जिसे भुलाया नहीं जा सकता, क्रान्ति विकास का आवश्यक अंग है और शक्तियों के संगठित संघर्ष के द्वारा ही आधिपत्य और शोषण का अन्त कर शोषण-विहीन स्वतन्त्र मानवीय समाज बनाया जा सकता है। भारत में भी बहुत से अनुभवी विचारकों का निश्चित मत है कि देश के आर्थिक निर्माण के लिये मौजूदा आर्थिक व्यवस्था में बुनियादी तब्दीली की ज़रूरत है और कांग्रेस की ढुलमुल नीति और मन्द गति से देश की आर्थिक दशा सुधारी नहीं जा सकती।

पंडित गुर्टू जी के वैयक्तिक सामाजिक, आध्यात्मिक और धार्मिक विचारों और विश्वासों से मतभेद हो सकता है। नैतिकता को धार्मिकता के बजाय सामाजिकता के स्वाभाविक आधार पर प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता समझी जा सकती है। पर नैतिकता, कर्तव्यपरायणता और नागरिक शिक्षा पर उनका आग्रह तो सभी को मानना होगा। उनके वर्णन से सामाजिक विचारों को भी मान्यता देनी ही होगी। निष्काम सेवाभाव, सामाजिक चेतना और सामाजिक उत्तरदायित्व के बल पर ही जनतांत्रिक समाज का निर्माण किया जा सकता है और सामाजिक व्यक्तित्व का विकास हो सकता है। पंडित गुर्टू जी के शब्दों में हमें द्वेष और कलह के बजाय मानवता और सौहार्द्र की भावना से प्रेरित सब सुखी राष्ट्र में अपने को बदलना है, जीवन के निम्नस्तर और भयंकर गरीबी को दूर करना और जनता के स्वास्थ्य और ज्ञान के स्तर को उठाना है। इस पवित्र काम को पूरा तभी किया जा सकता है जब हम अपने में समाज-हितैषी गुणों का विकास करें और सबल सुन्दर वैयक्तिक चरित्र को बनायें। पंडित जी ने यह भी ठीक कहा है कि "सामाजिक न्याय और स्वतन्त्रता के दावों के प्रति प्रबल भावना (sensitiveness) ही नये प्रयत्नों के लिए रचना शक्ति पैदा कर सकती है और संयमी उत्साह ही सफलता की ओर ले जाने वाली गतिशील शक्ति है।" यह भी कहा जा सकता है कि सामाजिक न्याय और स्वतन्त्रता पर अटल विश्वास और अचल श्रद्धा ही हमारे वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के नैतिक स्तर को ऊँचा बनाये रख सकती है और उनके आधार पर ही सच्चा मानवीय जीवन और मानवीय संसार का निर्माण किया जा सकता है। हमारी शक्तियाँ हमारे अधिकारों के बजाय हमारे कर्तव्यों का मापदण्ड हैं। समाज और जीवन को ऊँचा उठाने के लिए इसका ज्ञान और व्यवहार नितान्त आवश्यक है। डा० इकबाल नारायण जी गुर्टू का धवल चरित्र और सार्वजनिक जीवन हमें इसका पाठ पढ़ाता है।

गुर्टू-अभिनंदनम्

(प्रेषित)

यज्जातानन्तजन्तुप्रकरकरुणाया जन्म संम्प्राप्य लीला,—
खेलैर्मत्स्यादिरूपैरवति जगदिदं धाम नारायणाख्यम् ।
तं पाथस्यप्रमेये प्रलय-जलनिधेः शायिनन्त्वेक वालम् ,
कः स्तोतुं वेदवेद्यं प्रभवति पुरुषो मादृशो ह्यल्पमेधाः ॥ १ ॥

विद्यावित्त-बहुश्रुते श्रुतिशतोद्भूत-क्रियाकर्मठे
काश्मीराभिजने जनेषु विदिते वंशेऽवतंसेऽशठे ।
कम्रे कर्णपुरे पुरा द्विजगृहे यस्याद्भुतः संभव—
स्तं स्वादृष्ट विंशेष संश्रित गुणं कःस्तोतुमीशः पुमान् ॥ २ ॥

यत्प्राक् संभृत संस्तुतातुलधिया पाश्चात्यविद्याविधाः
वाकीलत्वकला कुलाखिलनय न्यायागमे हेतुकाः ।
आयासेन समाप्य दीनजनताऽशेषापदो धूनयन् ,
लोके मानमवाप मानमहतामग्रेसरैर्वाञ्छितम् ॥ ३ ॥

योऽप्युच्चैरपि शासकाग्रपदवीं पितृक्रमादाप्तये,
संभाव्यां भवनादपोह्य जनतातापापनोदादृतः ।
वाकीलाग्रवरो विरोधिवचसां मूकी क्रियासूद्भटः,
मानं धर्ममवाप सम्पदमपि प्रत्यर्थिप्रत्नेतराम् ॥ ४ ॥

यस्मिन् पूर्ण कलानिधौ विकिरति प्राकाम्यतो गोगणं,
सर्वाण्येव विनेय संघ सुमनांस्यासादयन्ते मुदम् ।
का तत्र द्विजराजराजमुकुटे राजोपमा संगता,
स्वान्तं क्लान्तमतोऽस्य साम्यकलना न क्वापि संदृश्यते ॥ ५ ॥

यो भास्वानिव सद्गुणाद्भुतकरः कर्षन् धनान्युच्चकै
र्लोकेभ्यः प्रददौ सहस्रगुणितं लोकोपकाराकुलः ।
तं तिग्मद्युति तेजसं धनजनप्राणक्रियाकोविदं,
दुर्धर्षं नमत प्रकाममवनावुद्यन्तमेतं रविम् ॥ ६ ॥

प्रयागे कलाभागसर्मोलिः पुरे यः,
ययौ विश्वविद्यालये कौलपत्यम् ।
सदानिष्ठनाऽस्येककार्यानुकारः,
पुरो नः स इकबालनारायणाख्यः ॥ ७ ॥

योऽधुनाऽपि सम्हे यस्यप्रणाशो,
नयत्येव शिष्टां शिशून् मंगलात्मा ।
स जीयाच्चिरं विश्वसंस्थापनेन,
मनोऽस्तुःपदेयस्य पूर्णं प्रसादान् ॥ ८ ॥

इति प्रार्थयन् लक्ष्मणाख्यः सहायो
भवानीपतिं सर्वदाभावगम्यम् ।
चिरायाय भक्ते प्रियं वाक्-प्रसूनं,
किमाशंसताऽस्मारतं प्राप्तकामे ॥ ९ ॥

श्री इक्बाल नारायण गुर्टू जी

[श्री उमाशंकर लाल श्रीवास्तव, अध्यापक, पब्लिक इण्टर कालेज, फेराकत]

श्रीमती डा. एनी बेसेण्ट एक आयरिश महिला थीं किन्तु उनका कार्य-क्षेत्र भारतवर्ष था। वे भारतीय संस्कृति की पोषक थीं। भारतीय-हित उनका हित था, वे अपने को इस देश पर वार चुकी थीं। देश-सेवा ही उनके जीवन का लक्ष्य था। वे इस देश की सेवा कर निहाल थीं। उन्हें अपने विचारों के अनुरूप ही सुयोग्य व्यक्ति मिले जिन्होंने डा. एनी बेसेण्ट के विचारों पर मनन कर उसे कार्यान्वित करने का दृढ़ संकल्प किया। श्री इक्बाल नारायण गुर्टू जी भी उन्हीं कृतसंकल्प व्यक्तियों में से एक हैं। व्यक्ति विशेष की गुरुता का माप उसकी वाणी तथा कार्य की एकरूपता द्वारा होता है। संवत् १५०० में संत कबीर ने 'कथनी' तथा 'करनी' का माप दण्ड स्थापित करते हुए कहा था 'कथनी से करनी प्रबल, जासों हो भव पार।' हिन्दी-कुल-कमल-दिवाकर तुलसी ने भी 'कर्म प्रधान विश्व करि राखा' की उक्ति प्रगट की थी। हमारे राष्ट्रपिता बापू ने कार्य-वाणी के

सामंजस्य की अमोघ शक्ति द्वारा मानव के जन्मसिद्ध अधिकार स्वतंत्रता की प्राप्ति सहज ही में की।

इन्हीं संतों, महात्माओं की स्निग्ध सुमधुर वाणी को पूज्य गुर्टू जी ने अपने जीवन में चरितार्थ किया। मानव जीवनोदधि का सर्वोत्तम रत्न उसकी सरल स्वाभाविक मानवता ही है। मानवता का अर्थ है—प्रत्येक व्यक्ति को सुख शान्ति का अधिकारी मानना तथा उसे इनके प्राप्त करवाने के निमित्त आजीवन अनवरत प्रयत्न करना। श्री इकबाल नारायण जी का जीवन इस उक्ति का जागरूक प्रतिरूप है। आज जब कि भारतीय दरिद्रता-द्रोह, कटुता-कुटिलता, का बाना धारण किये समाज के प्रति अमानवता, अमानुषिकता का घृणित स्वरूप धारण किये हुए हैं, उस समय श्री इकावल नारायण गुर्टू पूर्णेन्दु बने मूर्छित, कान्तिहीन देश वासियों पर मानवता की पीयूष वर्षा कर रहे हैं। ऐसे मनीषियों, संस्कृति-पोषकों, अमृत-पुत्रों के देदीप्यमान चरित्र को देख, प्रत्येक सहृदय का मस्तक श्रद्धा से नत होता है, तथा हृदय परमानन्द में विभोर हो, झूम उठता है। आपने शिक्षण का कार्य सेण्ट्रल हिन्दू स्कूल काशी से प्रारम्भ किया। सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय हो गया। पूज्य पंढरीनाथ काशीनाथ तैलंग ने, जो थियॉसॉफिकल कालेजियट स्कूल के प्रथम प्रधानाध्यापक थे, जब हिंदू विश्वविद्यालय में इतिहास के अध्यक्षपद को स्वीकार किया तब सन् १९१६ में पं० इकबाल नारायण गुर्टू ने उपर्युत विद्यालय का कार्य-भार (प्रधानाध्यापक पद) स्वीकार किया। श्रीगुर्टू जी थियॉसॉफिकल कालेजियट स्कूल के द्वितीय प्रधानाध्यापक हुए। परिश्रम, अनुशासन तथा प्रेम द्वारा आप अध्यापक तथा विद्यार्थियों की श्रद्धा तथा आदर के पात्र हुए। अवैतनिक प्रधानाध्यापक पद पर रह कर आपने शिक्षा का मुक्तहस्त दान इस विद्यालय द्वारा करना प्रारम्भ किया। अवैतनिक पद के साथ उन्होंने स्कूल को अपना लिया, वे उसे अमर बनाने के निमित्त धन संचय करने लगे। अपने निजी धन से भी स्कूल की सेवा करने में उन्होंने कुछ उठा नहीं रक्खा। इतने परिश्रम, सेवा, त्याग के होते हुए भी १९१८ में अम्मा (डा० एनी बेसेण्ट) ने धनाभाव के कारण स्कूल बन्द करने का निश्चय कर लिया था; किन्तु शिक्षा-सेवा की दीक्षा लेने वाले, पण्डित इकबाल नारायण गुर्टू ने अथक परिश्रम तथा अटूट सेवा-संजीवनी द्वारा विद्यायल को सशक्त तथा सबल बनाया। विद्यालय की अधिकाधिक सेवा करने का अवसर प्राप्त करने के हेतु प्रधानाध्यापक पद श्री दामोदर प्रसाद जी के सुयोग्य करों में दे, पंडित गुर्टूजी प्राण-पण से विद्यालय की आर्थिक सहायता करने में जुट गये। गुर्टूजी स्कूल को कॉलेज बनाना चाहते थे, अतएव उन्होंने इसके लिए अनवरत प्रयत्न करना प्रारम्भ किया। सन् १९३२ में आपने प्रयाग विश्वविद्यालय के कुलपति पद को सुशोभित किया। छः वर्ष तक आप उसकी सेवा

करते रहे किन्तु इन दिनों भी इन्हें अपने प्रिय स्कूल की स्मृति बनी रही, और वे उसकी आर्थिक सहायता करते रहे। गोस्वामी तुलसीदास जी की उक्ति 'जाकर जापर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु सन्देहू' पण्डित गुर्टूजी पर अक्षरशः चरितार्थ हुई। उनका स्वप्न सत्य हुआ और स्कूल, इण्टरमिडिएट कॉलिज में परिणत हो गया। आज उनकी हार्दिक इच्छा है कि इस विद्यालय-उद्यान के बाल-कुसुम सुरभित और सुरक्षित हों, गन्धवाही वायु उनकी कीर्तिसुरभि सारे संसार में फैला दे, लोग कह उठें कि ये स्नातक सेण्ट्रल कॉलिज काशी के हैं। आज भी वयोवृद्ध, तपोवृद्ध श्री इकबाल नारायण गुर्टू जी स्कूल की सुख शांति का शुभ संकल्प ले, सेवा, त्याग, तप का अनुष्ठान लिए बैठे हैं; आज भी बालकों के प्रति स्नेह, युवकों के प्रति प्रोत्साहन तथा वृद्धों के प्रति समयोपयोगी सूझ उनकी वाणी द्वारा प्रगट हो रही है। भारतीय आदर्शों के ज्ञाता! मनीषि!! भगवान तुम्हें चिरंजीवी बनावे, भारतीय युवक तुम्हें आदर्श मानें, आकाश कुसुम तुम्हारे ऊपर न्योछावर हैं, तुम इस विराट के विराट-स्वरूप सेवा और सुख-शांति के सम्पन्नार्थ इस धरा धाम पर अवतरित हुए हो, तुम चिरंजीवि हो, हम तुम्हारी ७५ वीं वर्ष-गाँठ के उपलक्ष में श्रद्धा के सुमन सादर समर्पित करते हैं, उन्हें सहर्ष स्वीकार करो।

गुर्टू जी एक चित्र

(श्री शंकर दयालसिंह छात्र, सेंट्रल कालेज, काशी)

न तो मोटा न पतला, सुघर शरीर, नाटा कद, पके बाल, छँटी मूँछ और गौर-वर्ण! यही हैं हमारे डा० इकबाल नारायण गुर्टू जी।

शरीर पर एक विचित्र आभा—जो देखने वालों को प्रभावित करती है, बातों में अनोखा माधुर्य जो सुनने वालों को मोह लेती है और छोटा हो या बड़ा अमीर हो या गरीब और मूर्ख हो या विद्वान सब से खुलकर मिलना, यही है इनका गुण।

छोटे से शरीर में ज्ञान की नीरधि भरी हुई है और नीरधि है ऐसी जो कभी खाली होती ही नहीं, सदा भरती ही जाती है।

सेवा इनके जीवन का ध्येय रहा है, त्याग मूलमंत्र और सादगी उद्देश्य। सेवा की वायु में ही इनके काले बाल सफेद हुए हैं, त्याग की लहर में ही शरीर पर झुर्रियाँ पड़ गई हैं और सादगी का नमूना केवल एक धोती और कुरते से ही ज्ञात हो जाता है। न आडम्बर, न अभिमान और न घमंड।

आप पाइयेगा इनमें एक साथ बच्चों वाली चंचलता, बूढ़ों वाली गंभीरता और युवकों वाली मस्ती। इस उम्र में भी तनी छाती नवयुवकों के लिए एक चुनौती है, रोबदार चेहरा बच्चों के लिए एक प्रेरणा और कामयाब शरीर बूढ़ों के लिए एक अभिमान।

अपरिचित देखता है तो देखता ही रह जाता है और परिचित देखता है तो श्रद्धा से सर नवा लेता है।

आज भी इस चढ़ी उम्र में जब तक नित्य दो-तीन मील का सुबह-शाम चक्कर नहीं लगाते कल नहीं पड़ती है। शिक्षा के क्षेत्र में हो या श्रम के क्षेत्र में दोनों ओर बिरले ही इनसे हाथ मिलाने की क्षमता रखते हैं। विद्यार्थियों से यत्र-तत्र बातें करना और उन्हें शिक्षा देना तथा अपने हाथ से फूल-पौदों की सेवा करना दोनों में ये पटु हैं। पाटल का रंग और पाटल का सुगन्ध दोनों इनमें मौजूद है।

ये मानव नहीं—मानव से परे हैं। इन्होंने जिस ज्ञान-गंगा को प्रवाहित किया उसके तीर पर कितने नगरों की रचना हो गई जिसकी चमक आज भी आंखों को चमका देती है। घोर अन्धकार में भी इन्होंने प्रकाश की लौ जलाई है।

भारत-माँ ऐसे-ऐसे बरद पुत्रों को पाकर अपने को धन्य समझती है और हमारी संस्कृति ऐसे-ऐसे तेज-पुंज से ही प्रकाशवान है। इनमें उषा की लाली है, जो जगत के लिए प्रकाश भी है और सन्देश भी, ज्योति भी है और जीवन भी।

ऐसे ज्योति पुंज को नमस्कार है, एक बार नहीं, सौ बार !
ऐसे बरद पुत्र को प्रणाम है, एक बार नहीं, सहस्त्र बार !!
और ऐसे महामानव का अभिनन्दन है, एक बार नहीं, कोटि बार !!!

"माता-बसन्त-वाटिका के माली के प्रति"

(*श्री मैथिली वल्लभ, कक्षा ११, बेसेंट कालेज, काशी*)

संसार में कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनके एक इशारे पर विश्व सर्वस्व-समर्पण को उद्यत हो जाता है। वे पुरुष जो समाज में कुछ नवीनता लाते हैं वीर कहलाते हैं। वीर पुरुषों की कर्मठता ही दूसरे लोगों के लिये प्रेरणा बनती है।

वीर पुरुषों की माला के एक फूल श्रद्धेय पं० इकबाल नारायण गुर्टू जी हैं। कर्तव्य शिक्षा-रूपी मकरन्द से सनी हुई समीरण के प्रत्येक गुन-गुन में सुन पड़ता है आज उनका यश-गान !

श्रद्धेय !

आज का प्रातः जाने किस अतीत की याद दिला रहा है। वह अतीत जिसमें तुम्हारा एक एक क्षण निर्माण में केन्द्रित था ! जिसके पहल-पहल में तुम्हारे जीवन की पहचान, हाँ बस एक पहचान—'शिक्षा का विकास' अन्तर्हित है। आज उस अतीत की मौन-भाषा हृदय की नाड़ी में सुन्दरता और नवचेतना पिरो देती है। जिस अतीत की भाषा में इतनी शक्ति है कि वर्तमान को जागरूक बना दे; तो जाने उस वर्तमान में कितनी शक्ति रही होगी जिसने इस अतीत का निर्माण किया।

पुजारी !

सरस्वती माँ के अनन्य उपासकों में तुम्हारा एक भिन्न स्थान है। माता की पूजा में एकाग्र हो कर ही तुमने गौरव प्राप्त किया। वस्तुतः तेज या प्रताप का कारण शुष्क वीरता नहीं, सरस्वती प्रदत्त बुद्धिमत्ता है। निरीह विद्यार्थियों को सक्षम बनाने के लिये, शिक्षा के सर्वाङ्गीण संविधान के लिये, तुमने अपना समस्त जीवन लगा दिया। तुम्हारा मन-तन-धन समर्पित हो माँ की सेवा में अभिभूत है। माता सरस्वती की अर्चना के साथ-साथ माता वसन्त की लगाई हुई विद्या-वाटिका को चिर-हरित बनाये रखने के लिये तुमने अपना सर्वस्व श्रम न्योछावर कर दिया। श्रम के कण-कण बूँदों से तुमने इस फुलवारी को सींचा है।

दानवीर !

तुम्हारे इस महान दान के दर्पण में तुम्हारा वह दानी हृदय झलक रहा है जिसमें सुन्दरता, उदारता, एवं कोमलता छलक पड़ना चाहती है। दान आँखों में दिखाई देता है किन्तु उदारता हृदय के भीतर छिपी रहती है जो दान को मूर्त रूप प्रदान करती है।

माता वसन्त के लगाये हुये बाग को—माली ! तुमने अपने तन के एक एक पर्व को, मन की सम्पूर्ण शक्ति से, और धन की अनन्त राशि से सींचा और तुम्हारे जीवन का अन्तिम क्षण भी इस बगीचे की सेवा में ही बीतेगा।

तपस्वी !

शिक्षा की अभिवृद्धि के लिये तुमने कठिन तपस्या की और वह आज वरदान का रूप भी पाने को प्रस्तुत है।

जीवन-पथ के वीर पथिक !

तुम्हारे हृदय में अटूट साहस है, हाथों में दान की अगाध शक्ति है, विनय तुम्हारा अमोघ अस्त्र है ! शिक्षा ही प्रशस्त पुण्य पंथ है, और पथिक ! कर्मठता ही तुम्हारी गति है।

आज वायु मुखरित है श्रद्धेय ! तुम महान हो, पुजारी ! तुम्हारी पूजा निष्काम है, दानी ! तुम उदार हो और जीवन पथ के वीर सेनानी तुम धन्य हो।

माली !

माता-वसन्त के उपवन को आज तुम अपने पचहत्तरवें बसन्त से सजा रहे हो। देखो ! आज वह किस प्रकार लहलहा रहा है। सुमन तुम्हें इच्छा भरी निगाह से देख रहा है। अर्ध मीलित पुष्प वृन्त-वृन्त पर किलक रहे हैं। निमीलित पुष्पों की यह स्यात् अर्चना है कि तुम उन्हें सतत सींचते रहो। और तुम ! आधे जीवन के पार खड़े हो कर उन्हें अपनी प्रशान्त गम्भीरता की वाचाल भाषा में कह रहे हो—'एवमस्तु'

प्रातःस्मरणीय !

तुम्हारी सुखद, स्निग्ध एवं सस्मित छाँव में हमारा विकास हो, कर्मठ ! तुम हमें अपनी कर्मठता प्रदान करो जिससे 'हम' एक अकिंचन् भी माता बसन्त की क्यारी को निरीह श्रम-कण दे सकें। प्रातः की प्रथम रश्मि के समान तुम्हारी गम्भीर कान्ति आज भी उसी रूप में विद्यमान है ! ओ काश्मीर के समीरण ! तुम चिर सुखदाई हो !

चिरस्मरणीय ! तुम्हें बसन्त-विद्या-वाटिका की कली कली का, प्रसून-प्रसून का कोटि कोटि नमन !!!

चिकित्सक डा० श्री इकबाल नारायण गुर्टू

(श्री अंबिकाप्रसाद कक्कड़, राजघाट स्कूल, काशी)

श्रद्धेय पंडित इकबाल नारायण गुर्टू जी के जीवन के उस क्षेत्र की ओर आज मैं ध्यान दिलाना चाहता हूँ जो जन साधारण की दृष्टि से प्रायः गोप्य सा है। हम में से बहुतों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि पंडित जी होमियोपैथी चिकित्सा के एक परम कुशल चिकित्सक हैं। उनके हाथों में यश है। सैकड़ों नर नारी उनकी दवा से लाभ उठाकर उनका यश गाते हैं। पंडित जी यों तो रात में या दिन में जब कोई भी पहुंचे जरूरी दवा हर समय दे देते हैं, परन्तु नियम पूर्वक नित्य प्रातःकाल ७ बजे से ९ बजे तक अमीर गरीब सबको मुफ्त दवा देते हैं।

पंडित जी हैज़ा ऐसे संक्रामक और भयानक रोग के भी सफल चिकित्सक हैं। इस रोग से आक्रान्त कई प्राणियों के प्राण आपने बचाये हैं। अभी गत जून

के माह में जब पूरा शहर इस भयंकर रोग से घबड़ाया हुआ था और जिसके उपचार के लिये अधिकारी गण तक चकित थे, हमारे यहां भी एक माली को इस रोग ने धर दबोचा। मैं उस समय घबड़ाया तो बहुत परन्तु पंडितजी का सहारा और उनपर अपना विश्वास था। उन्होंने उसकी चिकित्सा की, वह माली स्वयं निराश होकर अपने घर जाना चाहता था परन्तु मैंने रोक रक्खा। ईश्वर की कृपा से वह बिल्कुल चंगा हो गया। अपने विद्यालय के बालक, बालिकायें, अध्यापक, अध्यापिकायें और नौकर चाकर ही नहीं, नरायनपुराना और कोठ्या गांव तक के अनेक व्यक्ति आ आकर नित्य पंडितजी से मुफ्त दवा ले जाते हैं।

पंडितजी जिस किसी को दवा देते हैं उसकी पूरी पूरी खबर रखते हैं। अभी मई महीने में जब मैं भयंकर मलेरिया ज्वर से पीड़ित था पंडितजी नित्य स्वयं आकर मुझे देख जाते थे। आप हमारे कुटुम्बियों के लिये धन्वन्तरि ही हैं। कोई बच्चा बीमार हुआ, कि झट वह आपके पास अपनी मां के साथ पहुंच जाता है। मेरा छोटा बच्चा तो आप और पूजनीया माता जी का इतना प्रेम-भाव देखकर हिल गया है कि मामूली सी चोट लग जाने पर बाबा बाबा कहकर पंडितजी के पास ले चलने के लिये संकेत करता है और वहां पर पहुंचते ही प्रसन्न हो जाता है।

पंडितजी अपनी चमकती हुई वकालत छोड़कर अपने भविष्य के सारे सपनों को तिलांजलि देकर चले आये। आपका सारा जीवन ही दूसरों की सेवा में व्यतीत हो रहा है। वकील, अध्यापक, प्रधानाचार्य, जेनरल सेक्रेटरी थियोसोफिकल सोसायटी, विश्वविद्यालयों के कुलपति इत्यादि अनेक पदों पर रहकर जिस तल्लीनता, कार्यदक्षता और संलग्नता से पंडितजी ने काम किया है वह श्लाघनीय है। सभी व्यक्ति आपकी कार्यपटुता की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं। आज कल पंडितजी Foundation for New Education (ऋषी वैली ट्रस्ट) के सभापति हैं जिसकी सेवा आप तन, मन, धन से बराबर करते आ रहे हैं।

आज इस देवर्षि की ७६ वीं जन्म-तिथि के दिन सर्वशक्तिमान परमात्मा से करबद्ध प्रार्थी हूँ कि हे प्रभो! ऐसे जन्मजात परोपकारी, सहृदय महामानव को शतायु कीजिये जिससे आपकी बनाई सृष्टि का अधिकाधिक कल्याण हो।

शिक्षा का पुनः संस्कार कैसे हो ?

(श्री पं० सीताराम चतुर्वेदी, भूतपूर्व आचार्य, सतीशचन्द्र कालेज, बलिया)

सन् १८५४ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डाइरेक्टरों के आदेशसे सर चार्ल्स वुड ने जो शिक्षा का नया नियमविधान (वुड्स डिस्पैच) बनाकर भेजा उसके अनुसार प्रारंभिक तथा माध्यमिक शिक्षाकी व्यवस्था के साथ तीन विश्वविद्यालयों की, अध्यापकों की शिक्षाके लिये शिक्षण संस्थाओं की, लोकसंचालित संस्थाओं को आर्थिक सहायता देने की, संस्कृत-अरबी के देशी विद्यालयों को मान्य करने की, तथा योग्य छात्रों को छात्रवृत्ति देने की व्यवस्था की गई और अंग्रेजी शिक्षा अपने पूरे रूप के साथ जमकर बैठ गई। किन्तु इस शिक्षा प्रणालीसे पढ़े हुए जितने युवक निकलते रहे, वे उनकी व्यापक प्रवृत्ति यही होती थी कि वे भारतीय और भारतीयता से अत्यन्त दूर और असंतुष्ट दिखाई पड़ते थे। अपने देशके सब आचार व्यवहार उन्हें अशोभन लगते थे, अपने प्राचीन साहित्यमें उन्हें कोई काम की वस्तु नहीं दिखाई पड़ती थी और यह कुप्रवृत्ति यहाँतक बढ़ी कि इन अंग्रेजी पढ़े लिखे अंगरेज-प्रिय युवकों ने भारतीय शील और परिवार-मर्यादा भी तोड़नी प्रारम्भ कर दी। भारतीयता के प्रति बढ़ती हुई इन अराजकताने समाजके कान खड़े कर दिये, अनेक महापुरुषोंने इसके विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा करके गुरुकुलों की स्थापनाका प्रचार किया और यह प्रयास कुछ अंशों में सफल भी हुआ। इस प्रकार के जितने प्रयास हुए उनमें सबसे अधिक महत्वका प्रयास था महामना पं० मदन मोहन मालवीय का, जिन्होंने देश भरसे धन संग्रह करके काशी में हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना करते हुए यह आदर्श रक्खा कि यहां विद्यार्थी तो संसार भर की पढ़ाई सीखें किन्तु आचार-व्यवहार शुद्ध भारतीय रहें।

भारत के इन आन्दोलनों के साथ साथ योरप में भी उस मध्यकालीन अमानवीय शिक्षाप्रणाली के विरुद्ध आन्दोलन चल रहा था जिसमें छोटे छोटे बालक क्रूर अध्यापकों के शासन में पहुंचा दिए जाते थे, छोटे छोटे अपराधों पर बालकों की कोमल पीठपर बेंत सपसपाने लगती थी, उनका भोजन बन्द कर दिया जाता था, उन्हें काल कोठरी में बन्द कर दिया जाता था, उन्हें मुर्गा या मेढक बनाकर दिन दिनभर खड़ा रख दिया जाता था, सबसे उनकी बोल चाल बन्द कर दी जाती थी, बलपूर्वक लातिन के शब्दों और धातुओं के रूप घुटवाये जाते थे और न घोटने पर बेंत प्रहार होने लगता था, अध्यापक जो कुछ बता दे वही सीखना पड़ता था और जो भी कह दे वह मानना पड़ता था, छात्रों को न काम करने की स्वतंत्रता थी न बोलने की, न सोचने की न कुछ बनाने की। यह एक यंत्र मात्र था

जिसे विद्यालय के निश्चित घंटों के अनुसार चल फिर कर सार्थक निरर्थक सूचनाओं का भंडार बलपूर्वक अपने मस्तिष्क में तहाकर जुटाना पड़ता था।

योरप के स्वतंत्र विचारशील शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षकों की इस निर्दय कठोरताका विद्रोह प्रारम्भ किया और समष्टि रूपसे उन्होंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि "बालक की कुल-परम्परा और उसके विकास-क्षेत्रका समुचित अध्ययन करके उसकी रुचिके अनुसार उसके पूर्वार्जित ज्ञान से संबंध करते हुये ऐसे रोचक विधानों के द्वारा उसे नया ज्ञान दिया जाय कि बालक रुचिपूर्वक क्रियाशीलताके साथ अपने व्यक्तित्व का विकास करते हुए अपने को शिक्षित करता चले।"

यह पूरा सिद्धान्त जिस क्रम से विकसित होकर इस रूप तक पहुंचा है उसमें अनेक शिक्षाशास्त्रियों की साधना का हाथ है और इन सबके विभिन्न प्रयोगों ने विश्व-शिक्षाविधान को इस प्रकार प्रभावित किया है कि भारतीय शिक्षा की नई योजनाएं भी उसके प्रभाव से बच नहीं सकतीं। हम भी शिक्षा की जो नई योजना बनावें उसमें भी इन प्रयोगों का कम महत्व नहीं रह सकता।

शिक्षा के इन सब प्रयोगों का इतिहास और विवरण देनेसे पूर्व शिक्षा के कुछ मूल तत्वों का विवेचन कर लेना भी आवश्यक है। मूल विवेचन करते समय कई प्रश्न सहसा उठ खड़े होते हैं। शिक्षा किसे कहते हैं? क्या विद्या और शिक्षा समानार्थी शब्द हैं? क्या प्रत्येक व्यक्तिको शिक्षा देनी चाहिये? शिक्षा का उद्देश्य किस आधार पर निश्चित किया जाय? पाठ्य विषय कितने और किस क्रम से हों? क्या शिक्षा नीतिका निर्धारण राज्य की ओर से हो? क्या शिक्षा के लिए वर्ग भेद आवश्यक है? इन प्रश्नों की व्याख्या कर चुकने पर हम उपर्युक्त शिक्षा शास्त्रियों के महत्वपूर्ण प्रयोगों पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने में समर्थ हो सकेंगे।

बहुत से लोग समझते हैं कि किसी विद्यालय में अध्ययन करके वहां से उच्चतम कक्षा से निकलने पर हमारी शिक्षा पूरी हो जाती है, किन्तु यह बड़ा भारी भ्रम है। अध्ययन करना एक बात है, शिक्षित होना दूसरी बात है। किसी पुराने सूक्तिकार ने कहा है "शास्त्रों का अध्ययन करके भी लोग मूर्ख रह जाते हैं, विद्वान वही है जो क्रियावान हो, शास्त्रका व्यवहार भी कर सके! क्योंकि भली प्रकार निर्णय की हुई औषधि भी केवल नाम लेने भरसे रोगी को अच्छा नहीं कर सकती। अतः अनेक विषयों का अध्ययन करना, उन्हें घोंट डालना ही पर्याप्त नहीं है, उनका व्यवहार-ज्ञान भी होना चाहिए। इसी व्यवहार-ज्ञान को शिक्षा कहते हैं। किन्तु शिक्षा की परिधि केवल अर्जित ज्ञान के व्यवहार मात्र तक परिमित नहीं है। शिक्षा के भीतर व्यक्तिगत, पारिवारिक, नागरिक, राष्ट्रीय, मानवीय तथा आध्यात्मिक संबंधोंको व्यक्त करने
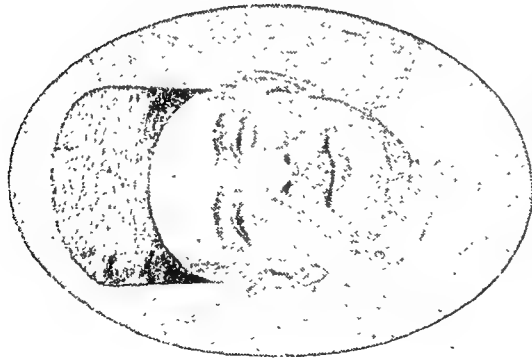
त्यागमूर्ति गुर्टूजी
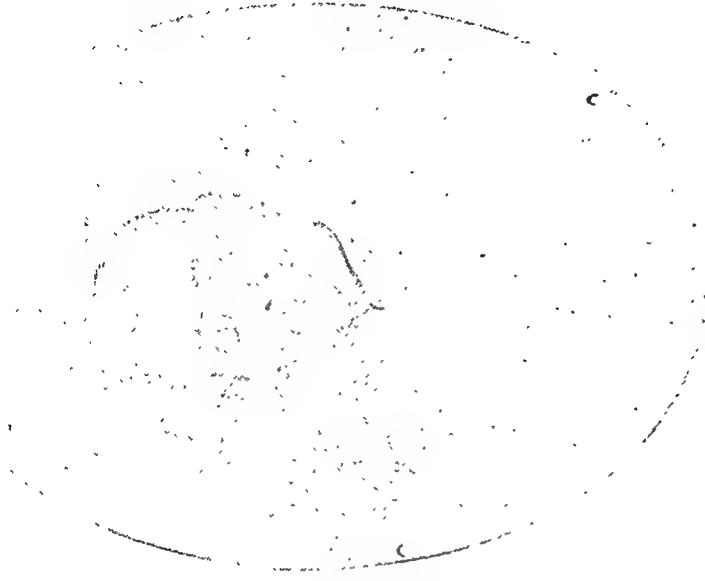
On the eve of departure to England
on the Home Rule Deputation.
(1918)

वाली हमारी सम्पूर्ण विवेकसंगत चेष्टाओंका समावेश होता है। इस परिभाषा की व्याख्या करना आवश्यक है। प्रत्येक मनुष्य एक व्यक्ति है और व्यक्ति के रूपमें उसके कुछ ऐसे कर्तव्य हैं जो उसे अपने व्यक्तिगत विकास और रक्षण के लिये करने पड़ते हैं; जैसे अपने लिये किसी प्रकार का भोजन संग्रह करना और ऋतुओं के प्रभाव से तथा अन्य आपत्तियों से बचने के लिए प्रयत्न करना। ये मनुष्य की मूल आवश्यकताएं हैं और प्रत्येक व्यक्ति इन आवश्यकताओं की पूर्ति करता रहता है। इस प्रवृत्ति में शिक्षा यह सहायता कर सकती है कि वह व्यक्ति को इस योग्य बना दे कि वह दूसरे को कष्ट दिये बिना ऐसी जीविका के द्वारा जीविका के साधन एकत्र करे जिससे वह स्वयं भी जीवनयापन कर सके और उन अन्य प्राणियोंको भी आश्रय दे सके जो अशक्त, पंगु और असमर्थ हों। शिक्षाके द्वारा वह ऋतुओं के प्रभाव से बचने के लिये केवल आड़ बनाकर न रह जाय वरन् ऐसा स्थान बनाके जहां कीट, पतंग, विषैले जीव या मच्छर न आ सकें, जो सुंदर हो और एक क्रम से बना हो। शिक्षाके द्वारा वह ऐसे रक्षा-कौशल, दांव-पेंच या शस्त्रप्रयोग जान जाय जिससे वह दूसरों को कष्ट न देकर अपनी भी रक्षा कर सके और अपने पड़ोसियों की भी। इसी के साथ साथ शिक्षा से उसके मनमें परोपकार और पर-रक्षा की ऐसी भावना भी उदित हो कि वह "पर" के लिये "स्व" का बलिदान करने में अपना गौरव समझे।

ठीक यही बात परिवार, नगर, जनपद, राष्ट्र और विश्व से व्यक्ति के संबंध की उन चेष्टाओं के विषय में भी है जिनके औचित्य या अनौचित्य पर हमारे व्यक्तिगत या सामाजिक उत्कर्षापकर्ष के नैतिक सिद्धान्त अवलम्बित हैं। अतः हमारे सब प्रकार के व्यवहारों को लोकहित की दृष्टि से संयत और विवेकशील बनाने वाली उन सब क्रियाओं की समष्टिको शिक्षा कहते हैं जो हमारे व्यक्तिगत उत्कर्ष में सहायक हो।

इस ऊपर के स्पष्टीकरण से यह सिद्ध हो गया कि शिक्षा और विद्या समानार्थी शब्द नहीं हैं। व्यायामगनक या "सर्कस" वाले अपने हाथी, घोड़े, कुत्ते, सिंह, बकरी, बंदर, तोते आदि को शिक्षा देकर ऐसा साध लेते हैं कि ये मूक जीव अपने मनुष्य शिक्षकोंके आदेश पर काम करने लगते हैं। वे उनको यह सिखा देते हैं कि अमुक शब्द की ध्वनि पर किस प्रकार की आंगिक प्रतिक्रिया उन्हें करनी चाहिए। किन्तु आप उन्हें रामायण और भागवत नहीं पढ़ा सकते, ज्योतिष और आयुर्वेद के तत्त्व नहीं समझा सकते, जीव और जगत् के रहस्यों की व्याख्या का बोध नहीं करा सकते, अर्थात् आप उन्हें सिखा सकते हैं, ज्ञान नहीं करा सकते।

हमारा सम्पूर्ण ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, साहित्य, इतिहास, पुराण सब विद्या के अन्तर्गत हैं। हमारी प्राचीन अट्ठारह विद्याओं के अतिरिक्त इस युग में विज्ञान ने

जितने ज्ञान का विकास किया है वह भी सब विद्या के ही अन्तर्गत आ जाता है। अतः विद्या उस सम्पूर्ण ज्ञान-राशि को कहते हैं जो हमारे पूर्वजों के तथा समकालीन विद्वानों के अनुभव और प्रयोग के द्वारा संचित की गई है और की जा रही है। इस विद्या का प्राप्त करना केवल संचय पक्ष है और इस विद्या का प्रयोग करना, जीवन में अवसर के अनुकूल कल्याणकारी रूप में उसका व्यवहार करना ही व्यवहार पक्ष है जो शिक्षा से आता है। विद्या और शिक्षा समानार्थी न होते हुए भी अन्योन्याश्रित हैं। इनका भी शब्दार्थ के समान नित्य संबंध है। अतः जब हम शिक्षा की बात कहते हैं तो उसमें विद्या की भावना भी अन्तर्निहित रहती है और हम आगे इसी विस्तृत अर्थ में शिक्षा शब्द का व्यवहार करेंगे।

प्रत्येक व्यक्ति के लिये शिक्षा का द्वार खुला रखना प्रत्येक विद्यालय का नैतिक कर्तव्य है। जाति, धर्म, वर्ग, सम्प्रदाय, लिंग आदि अनेक प्रकार की जो मानवीय श्रेणियां बन गई हैं उनसे शिक्षा में बाधा नहीं पड़नी चाहिए। किन्तु अनुभव से यह ज्ञात हुआ है कि प्रत्येक मनुष्य शिक्षा प्राप्त करने के लिए उत्सुक नहीं होता, उसमें सबकी रुचि नहीं होती, न सबकी बुद्धि और प्रवृत्ति ही शिक्षा के अनुकूल होती है और कभी कभी तो पारिवारिक परिस्थितियां ऐसी उपस्थित हो जाती हैं कि चाहते हुए भी और बुद्धिसामर्थ्य रहते हुए भी शिक्षा प्राप्त करने के लिये अवसर निकालना सम्भव नहीं होता। तो क्या शिक्षा प्राप्त करना बालकों की रुचि और अरुचि पर छोड़ दिया जाय ? यदि बालक पर ही यह निश्चय छोड़ दिया जाय तो सम्भवतः सौ में दस बालक भी ऐसे नहीं निकलेंगे जो स्वेच्छा से विद्यालय में जाने के लिये उत्सुक होंगे। क्या कारण है कि इतनी अधिक संख्या में विद्यार्थीगण पाठशाला में नहीं जाना चाहते। प्रयोग से यह परिणाम निकाला गया है कि पाठ्य-क्रम की बहुलता, पाठ्य-प्रणाली की नीरसता, अध्यापकों की कठोरता और पाठशाला की रूक्षता-ये सब कारण मिलकर छात्रों में विरक्ति उत्पन्न करते रहे हैं और यदि इन सब परिस्थितियों में परिवर्तन हो जाय, अध्यापक गण सदय और सहृदय हो जाँय तो बालक सिरके बल दौड़े चले आवेंगे। हाँ, यदि अन्य पारिवारिक बाधाएँ ही मार्ग रोककर खड़ी हो जांय तो बात दूसरी है।

किन्तु शिक्षा के सब क्षेत्रों में, सब श्रेणियों में इस प्रकार का वातावरण उत्पन्न नहीं किया जा सकता। भारत जैसा विशाल राष्ट्र अपनी आर्थिक-हीनता की दशा में विद्यार्थियों को इस रूप में परिवर्तित करने का व्यय-भार नहीं सँभाल सकता। अधिक से अधिक प्रारम्भिक अवस्था के बालकों के लिए ऐसी व्यवस्था सम्भव हो सकती है। किन्तु इसके पश्चात् क्या हो ?

शिक्षा के प्रश्नपर हमें कई दृष्टियों से विचार करना होगा। केवल यही नैतिक सिद्धान्त पर्याप्त नहीं है कि प्रत्येक मानव का अधिकार है शिक्षा प्राप्त करना

और प्रत्येक राष्ट्र का कर्तव्य है राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के लिए शिक्षा सुलभ करना। इस अनिवार्य शिक्षा की एक सीमा होनी चाहिए और उसका क्रम भी इस प्रकार बन जाना चाहिए कि उस अनिवार्य शिक्षा की अवस्था में बालक की रुचि, प्रवृत्ति और मनोवृत्ति इतनी परिपक्व हो जाय कि उस अवस्था को पार करने के पश्चात् वह निश्चित रूपसे अपनी भावी वृत्ति चुन सके। इसका निष्कर्ष यह निकला कि एक विशेष अवस्था तक प्रत्येक बालक को इस प्रकार शिक्षा दी जाय कि वह अपने अध्ययन के विभिन्न विषयों के आधार पर यह निर्णय कर ले कि मैं किस वृत्ति का आश्रय लेकर अपनी जीविका कमाता हुआ राष्ट्र का और समाज का उपयोगी अंग बन सकता हूँ। उपयोगी अंग बनने का तात्पर्य केवल इतना ही नहीं है कि वह देश की आर्थिक समृद्धि में ही योग दे वरन् इसका यही तात्पर्य है कि वह अपने आचरण से दूसरों को सुख भी दे और निर्भयता, सचाई, शील, आत्मत्याग तथा सदाचार के साथ अपना जीवन निर्वाह करता हुआ समाज और देश की सेवा भी करे क्योंकि धर्मशास्त्र पढ़ लेने से ही कोई दुष्ट व्यक्ति धार्मिक नहीं बन जाता और न वेद पढ़ लेने से ऋषि बन जाता है। अच्छा बुरा बनना तो स्वभाव पर निर्भर है जैसे-गऊ का दूध स्वभाव से ही मधुर होता है। इसका तात्पर्य हुआ कि हमें शिक्षा में निम्नलिखित बातों की योजना करनी पड़ेगी।

१—विद्यालय का वातावरण ऐसा हो जिसमें बालक पारस्परिक सहयोग, सेवा, उदारता, शील, सत्यता और सदाचारका महत्व समझ कर अपना स्वभाव उसी प्रकार ढाल सके।

२—इतनी अवस्था तक इतने विभिन्न विषयों से निकटतम परिचय करा दिया जाय कि उनके आधार पर वह अपनी भावी वृत्ति निश्चय कर सके।

३—अध्यापन शैली तथा अन्य साधन इतने आकर्षक हों कि बालक स्वतः प्रवृत्त होकर रुचि के साथ ज्ञान अर्जन करने लिये उत्सुक हो।

४—जिन बालकों की पारिवारिक या अन्य किन्हीं परिस्थितियों के कारण विद्यालय में शिक्षा पाना सम्भव न हो, उनके लिये ऐसी व्यवस्था की जाय कि वे छुट्टी के समय ज्ञानार्जन कर लें। इसी प्रकार की व्यवस्था कारीगरों की संतानों के लिये भी करनी चाहिए जिससे वे स्वभावतः अपने पैत्रिक व्यवसाय को बचपन से सीखते हुए घर के व्यवसाय में योग देते रहें और छुट्टी के समय ज्ञानार्जन करते रहें।

इतनी सुविधा राष्ट्र के प्रत्येक बालक के लिये होनी ही चाहिए और इस सिद्धान्त के अनुसार केवल एक ही प्रकार की अनिवार्य तथा निःशुल्क पाठशालाएँ स्थापित की जायँ। किन्तु इससे आगे की शिक्षा देने वाली संस्थाओं को यह छूट अवश्य रहे कि वे यदि चाहें तो किसी विशेष उद्देश्य के अनुसार किसी विशेष

वृत्ति या विशेष प्रयोजन के लिये शिक्षा दें और उसकी व्यवस्था करें, किन्तु राष्ट्र-कोष पर उसका भार न हो।

शिक्षा के कुछ तो सार्वभौम उद्देश्य हैं जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है जैसे-शील, सदाचार, निर्भयता, सत्यता, उदारता, आत्मत्याग, राष्ट्र के लिए स्वार्थ-त्याग, तथा सदाचार के साथ उपयोगी नागरिक बनाना। किन्तु इसके अतिरिक्त, कुछ ऐसे विशेष उद्देश्य भी होते हैं जो किसी विशेष युग में विशेष परिस्थिति के कारण निर्धारित कर लिए जाते हैं। यदि हम अपने देशकी शिक्षा योजना बनाना चाहें तो हमें पहले यह देख लेना चाहिए कि हमारे देश में ऐसी कौनसी त्रुटियाँ हैं जिनकी पूर्ति तत्काल आवश्यक है। व्यापक रूप से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमारे देशमें १. निरक्षरता, २. दरिद्रता, ३. शक्ति-हीनता, ४. रुग्णता और ५. रूढ़िवादिता-ये पाँच बड़ी भारी त्रुटियाँ हैं जिन्हें दूर करना तत्काल आवश्यक है। अतः हम अपनी शिक्षा का उद्देश्य तबतक के लिये यह रख सकते हैं कि हमारी शिक्षा इस प्रकार व्यवस्थित की जाय कि १. राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति साक्षर हो जाय, २. उसमें इतनी व्यावसायिक योग्यता हो जाय कि वह सुखी जीवन बिताने योग्य जीविका कमाने के साथ साथ राष्ट्र की व्यावसायिक उन्नति में भी योग दे, ३. वह व्यायाम तथा सैन्य शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करके समय पड़ने पर अपने राष्ट्र की रक्षा कर सकने में सहयोग दे, ४. स्वयं स्वस्थ रहकर अपने पास पड़ोस, नगर गाँव को स्वस्थ रख सके, और ५. अपने प्राचीन संस्कारों की रक्षा करते हुए भी नवीन युग के सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान के उपयोगी अंश का भरपूर प्रयोग कर सके।

शिक्षा में नियोजन

(श्री रमापति शुक्ल, एम्० ए०, काशी)

शिक्षा में नियोजन का विचार करते समय यह न भूल जाना चाहिए कि शिक्षा की कोई भी योजना देश की अन्य योजनाओं से पृथक् स्वतंत्र रूप से नहीं तैयार की जा सकती है। जीवन के अन्य क्षेत्रों से शिक्षा का घनिष्ट संबन्ध है। अतएव शिक्षा में नियोजन करने के साथ ही आर्थिक, सामाजिक एवं स्वास्थ्य-संबन्धी नियोजन की भी आवश्यकता होगी। इसी से हमारे देश की पंचवर्षीय योजना में आर्थिक एवं सामाजिक योजनाओं के साथ साथ शिक्षा को भी स्थान दिया गया है। परन्तु शिक्षा को जो महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होना चाहिये

यह उसमें नहीं मिला है। वास्तव में शिक्षा को गौण स्थान दिया गया है। अतएव शिक्षा के नियोजन पर विशेष रूप से विचार करने की आवश्यकता है।

शिक्षा की कोई भी योजना बनाने के पूर्व हमें अपने देश के शैक्षिक इतिहास पर विचार कर लेना आवश्यक है। भूतकाल में हमारी शिक्षा किस प्रकार संगठित थी? भिन्न-भिन्न कालों में उसमें क्या-क्या परिवर्तन हुए? और उन परिवर्तनों का हमारी शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ा? हमने अब तक क्या-क्या भूलें की और उनका निराकरण किस प्रकार हो सकता है? इत्यादि प्रश्नों पर विचार कर लेने के पश्चात् भविष्य के लिए जो कोई योजना हम बनाएँगें वह अधिक सफल होगी। इसके साथ ही साथ संसार के प्रगतिशील देशों की शिक्षा-योजनाओं पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। वे योजनाएं उन देशों में कहाँ तक सफल हुई हैं और उन्हें किस सीमा तक किन-किन परिवर्तनों के साथ हम अपने देश में लागू कर सकते हैं? इन प्रश्नों पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। न तो हमें किसी विदेशी योजना को देखते ही उसकी चकाचौंध से अंधे होकर उसका अक्षरशः अनुकरण कर लेना चाहिए और न उसे विदेशी समझ कर उसका सर्वथा त्याग ही कर देना चाहिए।

किसी भी योजना का निर्माण करने के पूर्व यह देख लेना चाहिए कि उसका व्यय कितना होगा। क्या यह व्यय हमारे देश की आर्थिक अवस्था के अनुकूल होगा? क्या हमारी केन्द्रीय सरकार अथवा राज्य सरकारें मिल कर योजना को कार्यान्वित करने के लिए पर्याप्त धन प्राप्त कर सकेंगी? ऐसी योजना बनाने से क्या लाभ जिसका व्यय हमारे आर्थिक सामर्थ्य के बाहर हो? वही योजना व्यवहार्य हो सकती है जिसके लिए राज्य के अन्य विभागों को आर्थिक क्षति पहुँचाए बिना पर्याप्त धन प्राप्त हो सके। इसमें सन्देह नहीं कि हमें अपना लक्ष्य ऊँचा रखना चाहिए और शिक्षा की अच्छी से अच्छी योजना बनाना चाहिए परन्तु आरंभ में योजना का स्वरूप ऐसा रखना होगा जिससे हम उसके लिए पर्याप्त धन प्राप्त कर सकें। यदि हम उस योजना को कई भागों में विभक्त करके क्रमशः आगे बढ़ सकें तो और भी अच्छा होगा क्योंकि एक चरण की सफलता पर दूसरे चरण की सफलता निर्भर रहेगी। यदि हमने किसी योजना का एक चरण सफलता पूर्वक समाप्त कर लिया तो दूसरे चरण के लिए पर्याप्त सामग्री मिल जायगी। उदाहरणार्थ, यदि हमें देश की निरक्षरता दूर करनी है तो पहले कुछ लोगों को शिक्षित कर लेने पर उनमें से भावी अध्यापक तैयार मिलेंगे और भविष्य में और भी अधिक लोगों को शिक्षित किया जा सकेगा। अतएव व्ययसाध्य योजनाओं को एकबारगी न लागू करके कई भागों में लागू करना उचित होता है।

प्रत्येक योजना के लिए कुछ तथ्यों या आकड़ों की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार आर्थिक योजनाओं के लिए आंकड़ों की आवश्यकता होती है उसी

प्रकार शिक्षा संबन्धी योजनाओं के लिए शैक्षिक आंकड़ों की अपेक्षा होती है। आंकड़ों के बिना योजना बनाना अंधेरे में टटोलना है। अतएव शिक्षा की किसी भी योजना के निर्माण के लिए अनेक प्रकार के आंकड़ों की आवश्यकता है। उन आंकड़ों का विश्वसनीय होना भी परम आवश्यक है। यदि विश्वसनीय आंकड़े नहीं प्राप्त होते तो उनका होना न होना बराबर है। उदाहरणार्थ, आजकल मानसिक परीक्षा के लिए मनोवैज्ञानिकों द्वारा अनेक प्रकार के मान-दंड तैयार किए जा रहे हैं, परन्तु इस संबंध में परीक्षणीय छात्रों की वास्तविक आयु का पता लगना आवश्यक है। उसके बिना कोई भी मानसिक परीक्षा सफल नहीं हो सकती और अशुद्ध आंकड़ों के आधार पर तैयार किया गया मानदंड विश्वसनीय नहीं होगा। हमारे देश में जैसी प्रवृत्ति है उसके अनुसार अधिकांश माता-पिता एवं अभिभावक अपने बालक-बालिकाओं की उम्र वास्तविक से कम लिखाया करते हैं। इस प्रवृत्ति के मूल में कौन सी प्रवृत्ति है हम उसकी विवेचना नहीं करना चाहते परन्तु यह प्रवृत्ति अधिक व्यापक है इसे सभी स्वीकार करेंगे। ऐसी अवस्था में किसी विशेष उम्र वालों के लिए कोई मानसिक मानदंड कैसे तैयार किया जा सकता है? अतएव यदि हम चाहते हैं कि हमारे मानसिक मानदंड विश्वसनीय और उपयोगी बनें तो हमें छात्रों की वास्तविक आयु का पता लगाना होगा। इसके लिए माता-पिताओं को अपने बच्चों की असली उम्र लिखाने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए। उनमें यह भाव भरना चाहिए कि कम आयु लिखाना उनके बच्चे के हित के लिए और उससे भी बढ़कर देश के लिए घातक होता है। बहुजनहिताय यदि हमें अपने स्वार्थों की बलि देनी पड़े तो उसके लिए भी हमें तैयार रहना चाहिए। अतएव असली उम्र छिपाना भयंकर अपराध ही नहीं वरन् पाप भी है। हमारे देश में सभी प्रकार के आंकड़ों का अभाव है। शिक्षा संबन्धी आंकड़ों का अपेक्षाकृत कम अभाव है। फिर भी हमारे आंकड़े शीघ्र संग्रह नहीं किए जाते। उनके संग्रह में बहुत बिलंब होता है। आंकड़े पुराने हो जाने पर उनकी उपयोगिता घट जाती है। वास्तव में आंकड़ों के संग्रह के लिए उत्तरदायी संस्थाओं को समय पर आंकड़े तैयार कर लेने चाहिए। उदाहरणार्थ सभी शिक्षा-संस्थाओं को सत्र के अंत में अपने सब आंकड़े केन्द्रीय शिक्षाधिकारी के पास (जैसे राज्यों के शिक्षा संचालक अथवा शिक्षामंत्री के पास) भेज देने चाहिए। यदि इसके लिए कुछ कर्मचारियों की वृद्धि करनी पड़े तो उनके व्यय का भार वहन करना उपयोगी होगा। शुद्ध आंकड़ों का शीघ्रातिशीघ्र उपलब्ध होना नियोजन के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

शिक्षा की योजना बनाते समय यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि किस-किस प्रकार की शिक्षा संस्थाओं की किस मात्रा में आवश्यकता है। प्रारंभिक शिक्षा सबके लिए अनिवार्य होना अवश्यक है। अतएव प्रारंभिक

पाठशालाओं की संख्या इतनी पर्याप्त होनी चाहिए कि स्कूल जाने योग्य छात्र शिक्षा संस्थाओं में स्थान न रहने के कारण शिक्षा से वंचित न रह जायँ। इसी प्रकार माध्यमिक विद्यालयों की संख्या भी इतनी होनी चाहिए कि माध्यमिक शिक्षा के सभी शिक्षार्थी उनमें स्थान प्राप्तकर सकें व्यावसायिक तथा क्रियाकल्पात्मक (technical) संस्थाओं की संख्या भी देश की आवश्यकता के अनुरूप होनी चाहिए। इंजीनियरिंग तथा मेडिकल कालेजों की संख्या उतनी ही होनी चाहिए जितनी इंजीनियरों और डाक्टरों की देश को आवश्यकता है। यदि इंजीनियरी और डाक्टरी पास करके हमारे युवक बेकार रहते हैं तो हमारे लिए इससे बढ़कर दुर्भाग्य की बात नहीं है। इसलिए सरकार और जनता का यह कर्तव्य है कि वे अपने इंजीनियरों और डाक्टरों से पूरा लाभ उठाने के लिए अनुकूल क्षेत्र तैयार करें। अतएव इंजीनियरों और डाक्टरों की तरह ही मिस्त्रियों, ओवरसियरों तथा कम्पाउंडरों की आवश्यकता है। उनके प्रशिक्षण के लिए भी स्कूलों की अत्यन्त आवश्यकता है। इन्जीनियरों और डाक्टरों की अपेक्षा ओवरसियर, मिस्त्री, दाई और कम्पाउंडर अधिक संख्या में अपेक्षित होते हैं। अतएव उनके लिए अधिक स्कूल खोले जाने चाहिए। खेद की बात है कि हमारे देशमें अनुपाततः पिछली श्रेणी के व्यवसायों के लिए स्कूल कम हैं। जहाँ सुई का काम हो वहाँ तलवार बेकार होती है। इसी प्रकार जहाँ मिस्त्री की या ओवसियर की आवश्यकता है वहाँ इन्जीनियर अनुपयोगी होगा। और जहाँ दाई और कम्पाउडरों का काम है वहां के लिए डाक्टर निरर्थक है। अतएव भिन्न भिन्न प्रकार की शिक्षा-संस्थाओं की संख्या उनकी आवश्यकता के अनुपात में होनी चाहिए। इस प्रसंग में यह जान लेना आवश्यक है कि शिक्षा-संस्थाओं का यह कर्तव्य नहीं है कि वे अपने शिक्षित युवकों को काम दिलावें, उनका कर्तव्य है कि वे समाज की आवश्यकता के अनुसार योग्य शिक्षित व्यक्ति तैयार कर दें। यह कार्य सरकार तथा अन्य गैरसरकारी संस्थाओं का है कि वे इन शिक्षित युवकों को काम दें और बेकारी न फैलने दें। अवश्य ही यदि देश में विभिन्न प्रकार के शिक्षाप्राप्त व्यक्तियों की संख्या देश और समाज की आवश्यकता के अनुरूप नहीं है तो शिक्षा के नियोजकों का क्या दोष है ? अतएव शिक्षा की योजना बनाते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि देश और समाज की आवश्यकता को देखते हुए किस अनुपात में भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षा संस्थाओं की आवश्यकता है।

वर्तमान काल की शिक्षामें परीक्षाओं को अत्यधिक महत्व दिया गया है। परीक्षा के दोषों के ऊपर भिन्न भिन्न देशों के अनेक विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है। यहां उसकी आवृत्ति करने की आवश्यकता नहीं है। विरला ही कोई शिक्षित होगा जो परीक्षा के दोषों से परिचित न हो। फिर भी इसे हटाने अथवा इसमें आमूल परिवर्तन करने का बहुत कम प्रयत्न हुआ है। हमारे उत्तरप्रदेश में हाई-

स्कूल और इन्टर की परीक्षाओं में इतने दोष आ गए हैं कि उनका पुनः संस्कार होना आवश्यक है अर्थात् हाईस्कूलकी परीक्षा को यदि घरेलू परीक्षा कर दिया जाय अर्थात् उसकी परीक्षा स्कूलों के अध्यापक ही ले लिया करें तो उसका परिणाम अधिक अच्छा होगा। शिक्षा का स्तर इतना अधिक नहीं गिरेगा जितना इस समय बाह्य परीक्षाओंके होने से गिर गया है। इन्टरकी परीक्षामें भी बाह्य परीक्षाओं का महत्व-कम करके कुछ अंक आंतरिक परीक्षाके लिए सुरक्षित रखना अधिक लाभकर होगा। आंतरिक परीक्षकों को निम्नलिखित विषयों पर अंक देने का अधिकार दिया जायः—स्वास्थ्य, सामान्य ज्ञान, व्यवस्था की योग्यता, त्याग, उदारता, सच्चाई, सहानुभूति इत्यादि। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त गुण शिक्षा के अभिन्न अंग हैं और इनके विना शिक्षा अधूरी रहती है। 'शिक्षा देना और अध्यापन करना' में आज-कल अन्तर नही माना जाता परन्तु वास्तवमें दोनोंमें महान अंतर है। हमारे यहां के विद्यालयों में अधिकतर अध्यापक होते हैं, शिक्षक नहीं। इसीसे हमारी शिक्षा पठन-पाठन तक ही सीमित रह जाती है। ध्यान देने की बात है कि हमने "सार्व-जनिक अध्यापन का संचालक" (Director of Public Instruction) के स्थान पर "शिक्षा संचालक" (D. E.) तो कर दिया परन्तु अध्यापन कार्य को शिक्षा में परिणत नहीं किया। स्पष्ट है कि नाम और रूप बदल देने से वास्तवि-कता नहीं आती। उसके लिए तो आत्मा का परिवर्तन आवश्यक होता है। अतएव हमें शिक्षा को वास्तविक शिक्षा बनाने का प्रयत्न करना चाहिए, तभी हमारी वर्तमान शिक्षा के दोष दूर होंगे और तभी वह शिक्षा जनतन्त्रात्मक भारत के लिए उपयुक्त होगी।

इसी प्रसंग में शिक्षा के व्यय पर भी थोड़ा विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। शिक्षा के महत्व को देखते हुए राष्ट्रीय आयका जो अनुपात उसपर व्यय होता है वह वहुत थोड़ा है। राज्यों की संपूर्ण आयका १५ से २० प्रतिशत शिक्षा पर व्यय किया जाना आवश्यक है। यदि उससे भी अधिक हो सके तो और भी उत्तम होगा। यदि शिक्षा के लिए धन का अभाव हो तो एक विशेष प्रकार का कर लगाने की आवश्यकता है जो ऐसे लोगों पर लगाया जाय जिनके बच्चे राजकीय अथवा स्वीकृत विद्यालयों में न पढ़ते हों। छात्रों का शुल्क बढ़ाने का प्रभाव केवल उन अभिभावकों पर पड़ता है जो अपने बच्चों को विद्यालयों में पढ़ने को भेजते हैं। परन्तु अनेक ऐसे व्यक्ति शिक्षा के मदमें प्रत्यक्ष कर देने से बच जाते हैं जो शिक्षा से लाभ तो उठा रहे हैं परन्तु बच्चे न होने अथवा बच्चों को शिक्षा न देने के कारण शिक्षा-शुल्क से बच जाते हैं। अतएव ऐसे लोगों पर विशेष रूपसे शिक्षा-कर लगाने की आवश्यकता है।

पिछड़े हुए राज्यों को, जिनके पास धन का अभाव है, परन्तु शिक्षा पर अनुपाततः अधिक व्यय करने की आवश्यकता है, केन्द्रीय सरकार से सहायता प्राप्त होनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि शिक्षा के लिए संघराज्य की प्रत्येक प्रजा

को समान अवसर प्राप्त होना चाहिए जिससे कोई भी अपनी इच्छा और योग्यता के अनुरूप शिक्षा पाने से वंचित न रहे।

शिक्षा पर व्यय घटाने का भी प्रयत्न करना चाहिए। यदि हमारे विश्वविद्यालयों में केवल एम. ए. की पढ़ाई तथा अनुसंधान के कार्य हों और बी. ए. तक की शिक्षा डिग्री कालेजों में दी जाय तो शिक्षा का व्यय कुछ कम हो सकता है। इसके अतिरिक्त वर्तमान परिस्थिति में विश्वविद्यालयों की संख्या बढ़ाना भी उचित नहीं है। दूसरी ओर विद्यार्थियों में स्वावलंबन की भावना भरना भी आवश्यक है जिससे वे अपनी शिक्षा का कुछ व्यय स्वयं उपार्जित कर सकें। इसके लिए अनेक प्रकार की योजनाएँ बनाई जा सकती हैं जिसका मैंने अन्यत्र उल्लेख किया है।

हमारे देश में अध्यापकों का वेतन अन्य कर्मचारियों की अपेक्षा कम है इसे प्रायः सभी जानते हैं। हम यह नहीं मानते हैं कि अधिक वेतन पानेसे अध्यापकों का अधिक सम्मान होगा। शिक्षा का कार्य करने वालों को धनका अभाव सर्वदा से रहा है। उन्हें पर्याप्त धन कभी नहीं मिलता था। लक्ष्मी और सरस्वती का विरोध प्रसिद्ध है। परन्तु शिक्षण का कार्य करने वाले धन की चिन्ता भी नहीं करते थे। वे प्रायः उसकी उपेक्षा करते थे। उन्हें केवल अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अल्प धन की आवश्यकता होती थी। आज युग बदल गया है। हम अपने अध्यापकों से वशिष्ठ और सान्दीपिन् बनने की आशा नहीं कर सकते। फिर भी उन्हें धन का लोभ तो नहीं ही होना चाहिए। यदि वे शिक्षा के समान पावन कार्य को अपने जीवन का लक्ष्य बनाते हैं तो उन्हें त्याग और उदारता का व्रत तो लेना ही होगा और ऐसा भाव आने पर ही उन्हें मानसिक शान्ति और संतोष मिलेगा, और समाज में भी उन्हें आज की अपेक्षा ऊंचा स्थान मिलेगा। जब वे अपना मूल्य रुपयों में न आँककर अपनी योग्यता और विद्वत्ता में आंकने लगेंगे तब समाज भी उन्हें ऊँचा आसन प्रदान करेगा। उधर समाज को भी देखना चाहिए कि हमने शिक्षकों के हाथ में कितना उत्तरदायित्वपूर्ण गुरु भार सौंपा है। हमारे बच्चों को बनाने और बिगाड़ने का पूर्ण अधिकार इन अध्यापकों को है। अतएव यदि हम उन्हें असंतुष्ट रखते हैं और उनका सम्मान नहीं करते तो वे हमारे बच्चों को क्या शिक्षा देंगे? उन्हें कैसे योग्य बना सकेंगे? यदि हम उन्हें अधिक धन नहीं दे सकते तो कम से कम उनकी और उनके परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त धन देना आवश्यक है। साथ ही उनके त्याग और तपस्याके लिए उन्हें सम्मान देना भी आवश्यक है। कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारे प्रारंभिक विद्यालयों के अध्यापकों का वेतन आवश्यकता से बहुत कम है। शिक्षा की कोई भी योजना बनाते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि पाँच व्यक्तियों के परिवार के लिए कमसे कम जितने रुपये की

अवशेष प्राप्त किए। इनमें पिल, रशीयन, अंग्रेज और फ्रेञ्च विद्वानों का हाथ रहा है। १९१६ ई० तक इन अवशेषों का सङ्कलन होता गया और आज यह काम पूरा हुआ है यह मानना ठीक नहीं।

मध्यएशिया में हमें एक नए प्रकार की लिपि मिली है और साथ ही साथ एक नए प्रकार की प्राकृत भाषा, जो भारत में भी बोली जाती थी, "धम्मपद" का प्राकृत रूप, मध्य एशिया में मिला है। लकड़ी पर लिखे खरोष्ठी लेखों की भाषा भी प्राकृत ही है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि या तो मध्य एशिया की राजभाषा प्राकृत थी या प्राकृतभाषा भाषी प्रजा यहाँ बसती होगी। "नीया" के पास से प्राप्त लकड़ी पर लिखे ग्रन्थों को "कोलमुद्रा" कहा गया है। किसी "महानुभाव महाराज" की आज्ञा से यह ग्रन्थ तैयार करवाया गया था।

"नीया" और "एन्देर" के पास बौद्धभिक्षुओं के चमड़े पर लिखे लेख भी उल्लेखनीय हैं। इन लेखों पर दिन और मास का तो उल्लेख है परन्तु राजा के राज्यकाल के वर्ष की बात लेखक भूल सा गया है।

लावनोर के पास लुलान के निकट चीनी और खरोष्ठी लिपि के कागज़ पर लिखे लेख मिले हैं। इन लेखों की भाषा प्राकृत है। कागजका उपयोग १०५ ई० से शुरू हुआ। इसके पहले के ग्रन्थ कपड़े पर या लकड़ी पर ही लिखे जाते होंगे। मध्य एशिया में एक प्रार्थना "आरोग्य रक्षणाय भवतु" रेशमी कपड़े पर लिखी हुई मिली है, इसकी तुलना कुशान काल के शिलालेखों से की जाती है।

पुराने मन्दिरों की दीवालों पर छोटे लेख खरोष्ठी में लिखे मिले हैं। ब्राह्मी लिपि के तीनों प्रकार यहां से मिले हैं। अश्वघोष के नाटकों की लिपि भारत की दूसरी शताब्दी की लिपि जैसी ही है। दूसरी ब्राह्मी लिपि गुप्तकाल की है। गुप्त-काल की टेढ़ी लिपि को तीसरा प्रकार कह सकते हैं। इन तीनों लिपियों के उपयोग से मालूम पड़ता है कि भारतका प्रभाव सदियों तक इस प्रदेशमें रहा। तिब्बत में ऐसी मान्यता है कि भारतीय लिपि का खोतन में ७ वीं शताब्दी में प्रवेश हुआ। परन्तु इसके बहुत पहले की भारतीय लिपि के उदाहरण हमें मध्य एशिया में मिले हैं।

अगर अश्वघोष के नाटक हमें मध्य एशिया में न मिले होते तो हम अश्वघोष को केवल कवि ही मानते। मध्य एशिया हमारे साहित्य से ही प्रभावित हुआ हो ऐसी बात नहीं। सर्वास्तिवाद मतानुयायी बौद्धों के लिखे बहुत से "उदान-वर्ग" मध्य एशिया में मिले हैं। उन्हें हम बुद्ध भगवान के मौखिक उपदेशों का सङ्कलन कह सकते हैं,

अश्वघोष के व्यक्तित्व पर एक नवीन प्रकाश डालने के बाद सुप्रसिद्ध कुमार-लात के साहित्यिक व्यक्तित्व का प्रथम परिचय हमें क्वीजिल से मिले ग्रन्थ से होता है। मध्य एशिया में हीनयान और महायान दोनों बौद्ध पक्ष के धार्मिक सूत्र

अथवा ग्रन्थों के अवतरण हमें मिले हैं। शायद मध्य एशिया में इन दोनों मतों का एक साथ ही प्रचार हुआ हो, अथवा मध्य एशिया में बौद्धधर्म के संक्रान्ति-काल की झाँकी हमें मिल रही है।

खोतन के लोग मानते हैं कि अशोक ने अपने पुत्र कुणाल को धर्म प्रचार के लिए खोतन भेजा था, इसीके साथ भारत का मध्यएशिया और चीन से सांस्कृतिक, समाजिक और व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हुआ होगा।

बौद्धधर्म की स्थापना के पश्चात् मध्य एशिया पर मङ्गोलिया की कितनी ही जातियों ने आक्रमण किया। इस आक्रमण का पहला उदाहरण "यूची" जाति है। टकला मकान के पास रहती वुनसुन को हराकर, लघुयूची ने तिव्वत के उत्तर में अपना डेरा डाला। फिर "वुनसुन" के पश्चिम में रहती शकजाति ने यूचिओं को परास्त किया। परिणाम-स्वरूप शक पहली और दूसरी शताब्दी में भारत आए। कुछ समय बाद यूचिओं की एक टुकड़ी-"कुशानों" ने भारत पर साम्राज्य स्थापित किया। कुशान बंश के सम्राट कनिष्क खोतन, काशगर और यारकन्द पर राज्य करते थे। चीनी राजपुत्रों को कनिष्क ने कपिशा (काबुल) में रक्खा था जहां पर उन्होंने नए फलों का उत्पादन शुरू करवाया। इस काल की गान्धार कला पर भारत और मध्य एशिया दोनों का असर पड़ा होगा।

गुप्तकाल में भारत और मध्य एशिया के सम्बन्ध बढ़े। परन्तु थोड़े ही समय में मङ्गोलिया से एक नई आफ़त इस प्रदेश पर टूट पड़ी। मङ्गोलों के आक्रमण से मध्य एशिया के सांस्कृतिक केन्द्र नष्ट हुए। मङ्गोलों का आधिपत्य बहुत दिन तक न चलने के कारण बौद्धधर्म का उन्मूलन न हो सका।

जब हुएनसाङ्ग भारत की ओर चला तब उसने तुरफान में बौद्धधर्म का एकाधिपत्य पाया। काराशहर का राजा बौद्ध था और "कुचा" की प्रचलित लिपि भारतीय ही थी ऐसा हुएनसाङ्ग का कथन है। कुचा के राजा सुवर्णदेव के पुरोहित मोक्षगुप्त से हुएनसाङ्ग मिला था। कुचा के स्त्री और पुरुषों के सौन्दर्य और संस्कारों से यह चीनी यात्री बहुत प्रभावित हुआ था।

हुएनसाङ्ग के यात्रावर्णन में ताशकन्द और समरकन्द का भी वर्णन मिलता है। इन बल्खी उपनिवेशों पर ईरानी संस्कृति का भी प्रभाव पड़ा होगा, परन्तु यहां के लोग बौद्ध ही थे।

लौटते वक्त हुएनसाङ्ग ने खोतन में ३०० मठ देखे, इनमें २००० भिक्षु रहते थे। महायान धर्म के केन्द्र खोतन की हुएनसाङ्ग ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। यहां की न्याय पद्धति, विद्याप्रेम, ईमानदारी और कलात्मक जीवन से हुएनसाङ्ग प्रभावित हुआ। खोतन के राजमहल में इसने चित्रकला के बहुत से नमूने देखे। आगे जाते उसने लावनोर देखा परन्तु उसके आगे के मरुस्थल में उसे बहुत सी अड़चन उठानी पड़ीं।

६६५ से ७१५ ई० तक यह मार्ग बन्द रहा। ७५१ में चीनी लोग अरबों से हारे और इस्लामधर्म का प्रचार शुरू हुआ। फलस्वरूप धीरे धीरे भारत और मध्य एशिया के सांस्कृतिक सम्बन्ध ढीले हुए, तो भी उनका सामाजिक-स्वरूप तो आजतक यहां दृष्टिगोचर होता है।

उपसंहार में मध्यएशिया के आकर्षणों का उल्लेख अयोग्य न होगा। १९ वीं और २० वीं शताब्दी में इस प्रदेश में बहुत से यात्री फिरे हैं। १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में अलेक्जेण्डर बर्न्स इस प्रदेश के दक्षिण भाग में घूमता रहा। उसका यात्रावर्णन काफी रोचक है। सर फ्रान्सिस यङ्गहसबेण्ड ने १८८७ में श्रीनगर से मुस्ताकघाटी पार करके पेकिङ्ग तक की यात्रा की। इसका यात्रावर्णन ५० वर्ष बाद "महाद्वीप के हृदय" नाम से प्रकट हुआ है, फ्रेञ्चों ने सीट्रोयन की सरदारी में इस प्रदेश का निरीक्षण किया। स्वेन हेडेन और सर आरेल स्टाइन के यात्रावर्णन प्रसिद्ध हैं ही और उनकी वैज्ञानिक पद्धति अनुकरणीय है। स्वेन हेडेनकी "तावनोर" और सर आरल स्टाइन की "सरिन्दिया" पुस्तकें पठनीय हैं। भारत के चीन में गए राजदूत के. पी. एस. मेनन का यात्रावर्णन विस्तृत न हो परन्तु कौतूहल-उत्पादक तो है ही।

मध्य एशिया आज भी एक दर्शनीय स्थान है। भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पार करके आगे बढ़ें तो हमें एक नए वातावरण का अनुभव होगा। आधुनिक यात्रियों ने काशगर की प्रशंसा की है। वहाँ पर सृष्टिसौन्दर्य देखने के सिवा बहुत कम खर्च—४०)-५०) मासिक—में आजकल भी गुजर हो सकती है। पुरातत्व की बहुत सी महत्वपूर्ण सामग्री का सङ्कलन यहां पर हो सकता है।

पर्यटन के प्रेमी तारीम में एक नया अनुभव प्राप्त करेंगे। हिमशृङ्गों को पार करके इस प्रदेश में हम समुद्र की सतह से ६०० फीट नीचे की जमीन पर जा पहुँचते हैं। यहाँ पर एक मील का फासला एक फ्रेंच यात्री ने दस घण्टे में पूरा किया था।

"गोबी" मरुस्थल का अर्थ कङ्कड़ की मरुभूमि है। यह नाम मध्य एशिया के मरुस्थल के पूर्वभाग के लिए ज्यादा उपयुक्त है। मध्यएशिया के पश्चिमी मरुस्थल के टुकड़े को "शामो" अर्थात् रेती का मरुस्थल नाम ज्यादा सार्थक होगा। इस प्रान्त में काराकोरम (शब्दार्थ : कङ्कड़ का घाट) पार करके जाते हैं। काराकोरम का मुस्ताक अर्थात् हिमपर्वत नाम ही ज्यादा सार्थक है।

मध्यएशिया जाने में भारतीय संस्कृति के अग्रदूतों को बहुत कठिनाइयाँ हुई होंगी, तब भी वे वहाँ पहुँचे थे। उनकी सफलता का इतिहास इकट्ठा करने में हमें आज उतनी अड़चनें नहीं हैं। फाहियान और हुएनसाङ्ग स्थल मार्ग से चीन से चलकर आए थे। कितने ही धार्मिक और साहसिक शोध के प्रेमी इसी मार्ग पर चले थे। उनके नाम विस्मृति के गर्भ में हैं। मानव संस्कृति का इतिहास राष्ट्रों और

व्यक्तियों की सफलता और असफलता दोनों के आधार पर बना है, नए देश देखने और नई संस्कृति की शोध की प्रेरणा से हमारे देशवासी मध्यएशिया की ओर जाएँ तो उनकी यात्रा रोचक रहेगी। उत्तुङ्ग पर्वतशृङ्गो पर हमारे देशवासी चढ़ने में दिनोंदिन ख्याति पा रहे हैं, ऐतिहासिक शोध में भी वे दिलचस्पी लें तो शताब्दियों तक फैला अन्धकार प्रकाश में परिणत हो सकता है

गीता साध्य

(*श्री करुणापति त्रिपाठी, एम० ए०, काशी।*)

उपनिषद और गीता

भारतीय दार्शनिकों ने गीता को वेद के समान पवित्र, मान्य एवं आदरणीय बताया है। आस्तिक दर्शनों के प्रधान-ग्रंथों में उपनिषदों के साथ-साथ गीता को द्वितीय प्रधान माना गया है। यह भी कहा जाता है कि उपनिषदों के मनन-पूर्ण मंथन से आविर्भूत नवनीत-सुधा ही श्रीमद्‌भगवद्‌गीता है। यह सत्य भी है। प्राचीन उपनिषदों में जो ज्ञान-भांडार हैं, जिस अध्यात्मविद्या अथवा ब्रह्मविद्या का निरूपण हुआ है, उसमें परवर्त्ती दार्शनिकों का सम्प्रदाय-गत आग्रह नहीं है। न्याय-वेदान्त-मीमांसा आदि के परवर्त्ती दर्शन-ग्रंथों और भाष्यों में परमत-खंडन और स्वमत-स्थापन का जो वादविवादमूलक आग्रह है, उपनिषदों में उनका अभाव है। उपनिषद् के तत्वचिन्तकों का ज्ञान उनके अपने मनन-चिन्तन का परिणाम है। प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में रागद्वेषादि से पूर्णतः परे रहकर ये जीव और ब्रह्म, जन्म और मरण, भौतिक संसार और अध्यात्मलोकआदि के विषय में परानुग्रहवश तत्व-चिन्तन करते रहते थे। अपने मनन, प्रयोग, परीक्षण और आत्मानुभूति के फलस्वरूप जिन तत्वों का उन्हें दर्शन होता था, उसे लोक-कल्याणार्थ संकलित कर देते थे। अतः उनका तत्व-चिन्तन 'वाद'-मूलक विवाद के आग्रह से पूर्ण उन्मुक्त है। उनमें दार्शनक संप्रदायों की आग्रहासक्ति नहीं है।

भगवद्‌गीता का तत्व-चिन्तन भी उसी भाँति दार्शनिक संप्रदायों की दल-बंदी से परे है। उपनिषदों की विवेचना का समस्त सारांश गीता में बड़ी निपुणता के साथ संकलित है। इस दृष्टि से सप्तशतश्लोकी गीता का महत्व बहुत ही अपूर्व है। सात सौ श्लोकों वाला यह ब्रह्मविद्याग्रंथ लघुकाय होनेपर भी,

केवल भारतीय दर्शन-साहित्य में ही नहीं वरन् विश्व के दर्शन-साहित्य में अनुपम अतुलनीय है। दूसरा कोई ऐसा लघुकाय महाग्रंथ अबतक न तो रचा ही गया है और न कदाचित् भविष्य में ही निर्मित हो सके।

गीता की महत्ता-समन्वयदृष्टि

इस संग्रह की सबसे बड़ी विशेषता है विभिन्न दार्शनिक दृष्टियों में समन्वयात्मक सामञ्जस्य स्थापित करना। इस उपनिषत्संहिता में सांख्ययोग में अद्वैतमत-द्वैतमत में, कर्मवाद और सन्यासवाद में, भक्तिवाद और ज्ञानवाद में सर्वत्र समन्वय स्थापित किया गया है। उत्तरकालीन मत-संप्रदायों के समान उपर्युक्त सिद्धान्त एक-दूसरे के विरोधी नहीं वरन् सहायक और पूरक हैं।

यहाँ के कर्मवाद की व्याख्या के स्थानपर जिस अनासक्त कर्माचरण की प्रतिष्ठा की गई है, दुःखवाद से प्रेरित संन्यासवाद को हटाकर जिस प्रकार कर्म-फल-संन्यास का महत्व बताया गया है—यह अत्यंत अभिनव और कल्याणकर कल्पना है। गीता अपने श्रद्धालु अध्येता को युग-युग तक अनासक्त कर्म करने की प्रेरणा देती रहेगी। यह कर्म-प्रेरणा भी अद्भुत है। जीवन के संघर्षों में संलग्न रहकर लोक-कल्याण की कामना से स्फूर्ति प्राप्तकर सत्पक्ष की स्थापना के हेतु कर्म करना, आलस्य-हीन होकर अतंद्रित रहकर विश्व में आसुरी भाव, आसुरी वृत्ति, आसुरी राज्य की स्थापना के लिए लड़नेवालों के उन्मूलन में अनासक्तभाव से प्रवृत्त होना ही कर्ममार्ग है, कर्मयोग है।

ज्ञान, कर्म, भक्ति का समन्वय

यह कर्मयोग तभी संभव है जब मनुष्य की अन्तर्दृष्टि अनन्तकोटिब्रह्माण्ड-नायक अगणितलोकाधार विराट् पुरुष के सर्वव्यापित्व का अनुभवात्मक साक्षात्कार कर ले। यह अनुभवात्मक साक्षात्कार अथवा यह बुद्धियोग, यह ज्ञानदृष्टि या ज्ञानिजनसुलभ तत्वदर्शन की क्षमता उन्हीं को प्राप्त होती है जिनपर भगवान् की महती अनुकंपा होती है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयांतिते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

श्रीमद्भागवत, अ० १०।१०–११

इस प्रकार हम देखते हैं कि गीता की भक्ति, गीता की अनन्य उपासना वस्तुतः ज्ञानमूलक है। विश्वात्मा के निखिल-अनन्तकोटिब्रह्माण्डव्यापित्वका अनुभव होनेपर ही उसके सर्वकर्तृत्व, सर्वप्रेरकत्व, सर्वसंचालकत्व की प्रतीति

होनेपर ही जब तदंशभूत मानव उसकी परम महत् सत्तापर अपने को निछावर करता है तभी वह भक्त की कोटि में आता है।

यहाँ वस्तुतः ज्ञान और भक्ति, एक दूसरे के पूरक हैं। ज्ञानभितिपर आश्रित भक्ति ही सच्ची भक्ति है और ज्ञान की प्राप्ति भगवान् की उस कृपा से ही संभव है जो अपने भक्तपर अनुकम्पाधीन भगवान् बरसाते रहते हैं। और इन ज्ञानी भक्तों को श्री गीता में कर्मसंन्यास का उपदेश नहीं दिया गया है वरन फलप्राप्तिकामना के संन्यास का उपदेश दिया गया है। गीताके मतानुसार जीवन से भागकर उसके संघर्षों से त्रस्त होकर एकान्त वैयक्तिक उपासना का, तप साधन का उतना महत्व नहीं है, जितना कर्मयोग का है।

समाज की हितचिन्ता

कर्मपराङ्मुखता वस्तुतः दुर्बल हृदय की पलायन मनोवृत्ति है। व्यक्ति वस्तुतः विश्वात्मक समष्टिका एक अंगमात्र है। अपनी समष्टि के कल्याण चिन्तन की भावनाका त्यागकर, समस्त शरीर के उपकार का विचार छोड़कर, केवल स्व-अवयव का लाभचिन्तन कदाचित् समाज की आहत-चिन्ता होगी।

ऐसा जान पड़ा है कि गीता की व्यापक दृष्टि समष्टि की ओर ही रही। महासमष्टि में व्यष्टि को गीता ने कोई महत्व नहीं दिया है, समाजहित की तुलना में वैयक्तिक लाभ की चिन्ता को गीता ने अश्रेयस्कर बताया है।

अर्जुन के प्रश्न से आरंभ में ही यह बात दिखाई पड़ती है—

"उत्साद्यंते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।"

अर्जुन कहते हैं—राज्यसुखलोभके वशीभूत होकर जो मैं यह हत्याव्यवसाय करने जा रहा हूँ वह महापातक है, उससे कुलधर्म, जातिधर्म विनष्ट हो जायँगे।

प्रश्न का केन्द्रबिन्दु

भगवान् कृष्ण अर्जुन की इसी भावना का उच्छेदन प्रायः समस्त गीता में करते हैं। वे कहते हैं कि तुम युद्ध तो करो पर राज्यसुखलोभ के वशीभूत होकर नहीं, स्वार्थ प्रेरित होकर नहीं, वरन् उस भावना से उत्प्रेरित होकर जिससे भगवान् भी विचलित होकर इस धरित्रीपर युग-युग में अवतरित होते है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे॥

वे आते हैं यहाँ के समाज की अव्यवस्था दूर करने, धरित्री को अत्याचार से मुक्त करने, धर्मग्लानि को रोकने और धर्म को प्रतिष्ठित करने।

भगवान् अर्जुन को भी समझाते हैं कि तुम अपने को कर्त्ता और प्रभु

राजघाट पर
बालिकाओं के छात्रावास का
शिलान्यास करते हुए
(१९५३)

समझ कर, विजयकामना और राज्यसुख के वशीभूत होकर युद्ध मत करो। वैसा करोगे तो तुम्हारी भी गणना आसुरीभावाश्रित लोगों में होगी।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्काम हैतुकम् ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥

....

ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंञ्चयान् ॥

गीता के १६ वें अध्याय में ७ वें श्लोक से १८-वें श्लोक तक आसुरी भाव-वालों की मनोवृत्ति का जो चित्र खींचा गया है, उसी प्रसंग में उक्त संस्कृत अंश आया है। उस प्रसंग में बताया गया है कि इस जगत् की सत्ता को ईश्वर हीन मानने वाले, इसे असत्य समझने वाले सृष्टि को काम हैतुक मात्र समझते हैं। वे वस्तुतः जगत्के अहित चिन्तक होते हैं, और अपने उग्र कर्मों से संसार का क्षय करते हैं। अपने कामोपभोग के लिए समाज की चिन्ता भूलकर समस्त संसार का हिताहित विस्मृत करके, न्याय या अन्याय—किसी भी साधन से अपने साध्य को प्राप्त करना चाहते हैं।

भगवान् अर्जुन उसी मूल प्रश्न—'राज्यसुखलोभेन' को लेकर बताते हैं कि आसुरी और तामसी वृत्ति और प्रवृत्ति को लेकर युद्ध करो अवश्य, किन्तु सत्य की, धर्म की स्थापना के लिए, जगत् कल्याण के लिए। पर युद्ध से पूर्व, कर्म करने से पहले महाविश्वात्मा की सर्वव्यापकता जान लो। उसकी सर्वप्रेरकता, सर्व-शक्तिमत्ता, सर्वकर्तृत्व आदि का ज्ञान प्राप्त कर लो। उसकी अगणनीय गुण-गरिमा, विराट् महिमा की परम मोहकता से मुग्ध हो जाओ। और तब अपने को, अपने कर्मों और आचरणों को अपनी श्रद्धा और अपने विश्वास को, उस विराट् को सर्वतोभावेन समर्पित करके अन्तर्लीन करके कर्म करो।

इससे व्यक्ति का कल्याण होगा, समाज का कल्याण होगा और विश्व का कल्याण होगा।

ज्ञानमूला भक्तिभावना से भगवदर्पित यही अनासक्त कर्माचार गीता का मूल साध्य है। गीता में इसी का उपदेश है, इसी का निर्देश है और ज्ञानभक्ति-समन्वित इसी कर्मवाद को प्रतिष्ठित किया गया है।

———

आर्यसंस्कृति का आधार कर्तव्यपरायणता।

(श्रीमाधव प्रसाद खन्ना/काशी)

संस्कृति शब्द प्राचीन संस्कृत साहित्य में नहीं मिलता। संस्कार शब्द का प्रयोग होता रहा है जिस का अर्थ है परिष्कार। १६ संस्कारों द्वारा शरीर व आत्मा सुसंस्कृत किये जाने का वर्णन है जिस से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति हो सके। धर्म-नहि सत्यात्परो धर्मः—सत्य सेपरे धर्म नहीं है। अर्थ जो धर्म से प्राप्त किया जाय। कामइच्छा व मनोरथ जो धर्मयुक्त हो। मोक्षसब दुःखों से छूटना यानी आनन्द अवस्था, निर्वाण। इनका सम्बंध जीवन पर्यंत है। संस्कारों में कर्तव्यपरायणता का उद्देश्य है जिसका साधन आचार-विचार पर अवलम्बित है। मनु ने भी 'आचारः प्रथमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मृति एव च, लिखा है। सदाचार प्रथम धर्म है। सदाचार ही जीवन है व दुराचार मृत्यु। सदाचार ही महाजनों का पथ है क्योंकि वे सदा कर्तव्य परायण रहते हैं। प्राचीन आर्य अपने कर्तव्य पालन में दृढ़ता से क्रियावान रहते थे। वे कर्तव्य साधन में हजारों कष्टों का सामना करते थे क्योंकि संस्कारों द्वारा उनके आचार परिष्कृत थे। इसीसे उनके नाम से सम्बोधित संस्कृति का आधार कर्तव्यपरायणता है। आर्य संस्कृति का अभिप्राय आत्म-बोध तक पहुँचना है। आचार-विचार सम्बंधित आर्य संस्कृति की मानवता को आत्मा व परमात्मा की धारणा का बहुत बड़ी देन हैं। जिस संस्कृति में यह धारणा होगी उसमें कर्तव्य परायणता के भाव अधिक होंगे। पशु सृष्टि व मनुष्य सृष्टि में भोजन, निद्रा, भय, मैथुन में समानता होने पर भी आचार-विचार-सम्बंधी बहुत बड़ा भेद है। पशुओं में आचार-विचार नहीं है। मनुष्य का ध्यान इस पर अधिक दिलाया गया है। जीवन का महत्व वही है जब सदाचार की मात्रा अधिक हो क्योंकि जीवन का मुख्य ध्येय सदाचार ही है। जो आचार भ्रष्ट है वह कर्तव्य विहीन है। आचार-विचार की विभिन्नता से ही जातियों को संस्कृति-भेद का पता लगता है। आचार ही कर्तव्यपरायणता की नीव है इस लिये आचार सम्बंधी विवेचन करना परमावश्यक है।

वैदिक काल।

श्रुति में आचार पर ध्यान दिया गया है। आर्य संस्कृति का स्रोत वेदों से है। वेद संसार के प्राचीनतम ग्रंथ हैं इसलिये आर्य संस्कृति भी प्राचीनतम है। मनु ने भी आचार के सम्बंध में श्रुत्युक्तः लिखा है। इस सम्बंध के कुछ वैदिक मंत्रों के भाव को जानना जरूरी है। वेदों के मानने वाले दो प्रकार के

हैं। पौरुषेय, व अपौरुषेय। दोनों ने कुछ वैदिक मंत्रों में आचार सम्बंधी प्रार्थना मानी है। वेदका मुख्य मंत्र गायत्री है। इसमें आचार सम्बंधी प्रार्थना है। स्वामी दयानन्द वेदों को अपौरुषेय मानते थे। उनके गायत्री सम्बंधी अनुवाद का सारांश यह है "ईश्वर प्रेरणा करे। बुरे कामोंमें छुड़ाकर अच्छे कामों में प्रवृत करे।" डा० विलसन का, जो वेदों को पौरुषेय मानते थे गायत्री मंत्र का अनुवाद भी आचार पर निर्भर है। "आर्य लोग मनोहर प्रकाश का ध्यान करते हैं जो हम लोगों को पवित्र कर्म में प्रवृत्त करता है" वेदों के कुछ अन्य मंत्रों में भी आचार सम्बंधी प्रमाण मिलते हैं। उदाहरणार्थ—हे सब सुखों के दाता परमेश्वर आप कृपा करके हमारे सम्पूर्ण दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को दूर कर दीजिये। जो कल्याण कारकगुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ हैं वह सब हम को प्राप्त हों। यजुर्वेद—हे सकल सुख दाता परमेश्वर आप हमलोगों को उत्तम कर्म प्राप्त कराइये और हमसे कुटिलतायुक्त पाप रूपी कर्म को दूर कीजिये।

उपनिषद काल।

उपनिषद काल में भी आचार की श्रेष्ठता मानी गई है। तैत्तिरीय उपनिषद में उल्लेख है कि जो अनिन्दनीय कर्म हैं वे ही करने योग्य हैं। यथार्थ आचरण, सत्याचार, इन्द्रियों को बुरे आचरणों से रोक के मनुष्य सम्बंधी व्यवहारों को यथा योग्य करते हुए पढ़ते पढ़ाते जांय या जो काम निष्कलंक हैं उन्हीं के करने में चित्त लगाओ। सत्यं वद, धर्मं, चर। छांदोग्योपनिषद में कहा है कि शुभ गुणों से संगत और सत्य कर्तव्य सहित ब्रह्मचारी रह कर वेदादि विद्या प्राप्त करे। राजा अश्वपति कैकेय कहते हैं कि मेरे राज्य में चोर, कंजूस, शराबी, व्यभिचारी, व्यभिचारिणी नहीं हैं।

योगसूत्र के ५ यम यानी अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तथा ५ नियम यानी शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान (ईश्वर की भक्ति) यह दसों कर्तव्य माने गये हैं।

स्मृति काल।

स्मृतियों ने आचार पर बड़ा ध्यान दिलाया है। मनु—मनः पूतं समाचरेत-मन से विचार कर आचरण करे। सर्वस्य तपसो मूलं आचारं। सदाचार से दीर्घ आयु प्राप्त होती है। सदाचार से अच्छी संतान उत्पन्न होती है। सदाचार ही अक्षय धन है। सदाचार से सब स्वभाव दोष नष्ट होते हैं। दुराचारी मनुष्य लोक निन्दा का पात्र बनता है। निरंतर दुःख भोगने वाला रोगी तथा अल्पायु होता है। सब गुणों से रहित होने पर भी अगर मनुष्य सदाचारी, आस्तिक तथा ईर्षा रहित है तो वह शतायु होता है।

रामायण काल।

रामायण काल में आचार का कितना महत्व था वह दशरथ-परिवार से पता चलता है। राम की पितृ-भक्ति तथा एकपत्नी व्रत, सीता का पति प्रेम व राम के साथ कष्ट सहना, लक्ष्मण का भ्रातृ-प्रेम व आज्ञाकारी होना, भरत का भ्रातृ-स्नेह, हनुमान की दृढ़ भक्ति आर्य संस्कृति की कर्तव्यपरायणता का उज्ज्वल उदाहरण है। वाल्मीकि नारद से पूछते हैं कि पृथ्वी पर कोई ऐसा पुरुष बताओ जो कर्तव्यपरायण, ज्ञानी, सत्यवादी हो, जिसने मनोविकार को जीता हो। नारद उत्तर देते हैं कि राम कर्तव्यपरायण व चरित्रवान हैं। इसी से राम मर्यादा पुरुषोत्तम माने गये हैं। सीता का चरित्र भी प्रशंसनीय है। हिन्दू स्त्रियाँ सीता के चरित्र को आदर्श मानती हैं। सीता रावण से कहती है कि मैं कभी भी चरित्रहीनता का पाप न करूंगी। भरत का राज्य-त्याग का आदर्श तथा लक्ष्मण का सीता के केवल पैर के आभूषण को पहिचानना कितना उच्च चरित्र है।

वशिष्ठ कहते हैं कि हे राम जो कुछ सम, स्वच्छ और निर्विकार बुद्धि से किया जाता है उससे कभी भी कोई दोष उत्पन्न नहीं होता।

महाभारत काल।

विदुर कहते हैं कि मनुष्य के लिये शील (सदाचार) ही प्रधान है जिसका यह बिगड़ जाता है उसका जीवन, धन, बांधव व्यर्थ हैं। सदाचार विहीन मनुष्य चाहे ऊंचे कुल में भी उत्पन्न हुआ हो आदरणीय नहीं हो सकता। नीचे कुल में भी उत्पन्न होने वाला मनुष्य सच्चरित्र हो तो आदरणीय है। युधिष्ठिर के प्रश्नों का उत्तर भीष्म देते हैं कि सदाचार से ही मनुष्य दीर्घायु होता है तथा लक्ष्मी को प्राप्त होता है। धर्म का मुख्य रूप सदाचार है। सदाचार ही से मनुष्य सज्जन समझा जाता है। शुद्धहृदय जो कुछ करते हैं वह सदाचार है। श्रीकृष्ण का कर्मयोग भी कर्तव्य है। उनका सारा जीवन कर्तव्यपरायण रहा है।

जैन व बौद्ध काल।

जैन धर्म में आचरण पर बड़ा जोर दिया गया है। महावीर स्वामी उपदेश देते हैं कि निर्वाण के लिये आचरण, ज्ञान ठीक होना चाहिये। जैनी गृहस्थी आनन्द बड़ा अमीर था। उसके पास ४ करोड़ स्वर्ण मुद्रा, १ हजार छकड़े तथा बहुत भूमि थी। आनन्द कहता है कि मैं ने कुव्यवहार, असत्य भाषण, चोरी का त्याग किया है। भगवान बुद्ध का साक्षात कृत धर्म सरल, अष्टांगिकमार्ग, सत्य विश्वास, सत्य कामना सत्य वाक्य, सत्य व्यवहार, जीवननिर्वाह के सत्य उपाय, सत्य उद्योग, सत्य विचार, सत्यध्यान प्रसिद्ध हैं। पंचशील में भी सदाचार पर जोर दिया है। भारत का सौभाग्य है कि अशोक की १४ सूचनाएं

चट्टानों, स्तूपों पर प्राप्य है। नालंदा विश्वविद्यालय में आचारपर कड़ा ध्यान रखा जाता था। चाणक्य-नीति प्रसिद्ध है। उसमें सदाचार का उल्लेख है। चाणक्य उत्तम कर्म से मनुष्य का मुहूर्त भर भी जीना अच्छा समझते हैं। दुष्ट कर्म से कल्पभर भी जीना उत्तम नहीं। "जिसका आचरण बुरा है; जिसकी दृष्टि पाप में रहती है तथा जो दुर्जनों की मैत्री करने वाला है वह नष्ट हो जाता है।

गुरु नानक साहब कहते हैं कि शरीर को पवित्रता व संयम का स्थान बनाओ।

मनु का यह वाक्य कि "सर्वस्य तपसो मूलं आचारं" के साक्षात् करने वाले आर्यों के उदाहरण जो संस्कृत साहित्य में भरे हुए हैं परन्तु यह ३ सर्वश्रेष्ठ तथा कर्तव्यपरायण नाम यानी मर्यादा पुरुषोत्तम राम, कर्तव्यपरायण कृष्ण तथा करुणा के अवतार बुद्ध तो हर एक हिन्दू की जबान पर सोते जागते चढ़े रहते हैं। इन ३ महान आत्माओं की जीवनी के मनन करने से आर्य संस्कृति के स्वरूप तथा आचार का पता लगता है।

भारतीय संस्कृति की वास्तविक दृष्टि

जिस रूप में भारतीय संस्कृति का प्रश्न आज देश के सामने है, उस रूप में उसका इतिहास अधिक प्राचीन नहीं है। तो भी यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के अनन्तर इस पर विशेष ध्यान गया है।

वर्तमान भारत में यह प्रश्न क्यों उठा? यह विषय रुचिकर होने के साथ-साथ मनन करने के योग्य भी है। हमारे मत से तो इसका उत्तर यही है कि, विदेशीय संघटित विचारधारा तथा राजनीतिक शक्ति के आक्रमण का प्रतिरोध करने की दृष्टि से, हमारे मनीषियों ने अनुभव किया कि सहस्रों वर्षों की क्षुद्र तथा संकीर्ण सांप्रदायिक विचार-धाराओं और भावनाओं के विघटनकारी दुष्प्रभाव को देश से दूर करने के लिए आवश्यक है कि जनता के सामने विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में एक सूत्र-रूप से व्यापक, मौलिक तथा समन्वयात्मक विचार-धारा रक्खी जाए। भारतीय संस्कृति की भावना को उन्हों ने ऐसा ही समझा। वर्तमान भारत में भारतीय संस्कृति के प्रश्न के उठने का यही कारण हमारी समझ में आता है।

संस्कृति शब्द का अर्थ

'संस्कृति' शब्द का क्या अर्थ है? इस प्रश्न के झगड़े में हम इस समय पड़ना नहीं चाहते। सब लोग इसका कुछ-न कुछ अर्थ समझकर ही प्रयोग करते हैं। तो भी प्रायः निर्विवाद रूप से इतना कहा जा सकता है कि—

"कस्यापि देशस्य सामाजस्य वा विभिन्नजीवनव्यापारेषु सामाजिकसम्बन्धेषु वा मानवीय-दृष्ट्या प्रेरणाप्रदानां तत्तदादर्शानां समष्टिरेव संस्कृतिः। वस्तुतस्तस्यामेव सर्वस्यापि सामाजिक-जीवनस्योत्कर्षः पर्यवस्यति। तथैव तुलया विभिन्नसभ्यतानामुत्कर्षापकर्षौ मीयेते। किं बहुना, संस्कृतिरेव वस्तुतः 'सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय' (छान्दोग्योपनिषद् ८/४/१) इत्येवं वर्णयितुं शक्यते। अतएव च सर्वेषां धर्माणां सम्प्रदायानामाचाराणां च परस्परं समन्वयः संस्कृतेरेवाधारेण कर्तुं शक्यते।" (प्रबन्धप्रकाश, भाग २, पृ० ३)।

इसका अभिप्राय यही है कि किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन-व्यापारों में या सामाजिक सम्बन्धों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करनेवाले उन-उन आदर्शों की समष्टि को ही संस्कृति समझना चाहिए। समस्त सामाजिक जीवन की समाप्ति संस्कृति में ही होती है। विभिन्न सभ्यताओं का उत्कर्ष तथा अपकर्ष संस्कृति के द्वारा ही नापा जाता है। उसके द्वारा ही लोगों को संघटित किया जाता है। इसीलिए संस्कृति के आधार पर ही विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों और आचारों का समन्वय किया जा सकता है।

विद्वानों का इस विषय में ऐकमत्य ही होगा कि ऊपर के अर्थ में 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग प्रायः बिल्कुल नया ही है।

भारतीय संस्कृति के विषय में विभिन्न दृष्टियाँ

संस्कृति के विषय में सामान्य रूप से उपर्युक्त विचार के होने पर भी, भारतीय संस्कृति की भावना के विषय में बड़ी गड़बड़ दिखाई देती है। इस विषय में देश के विचारकों की प्रायः परस्पर विरुद्ध या विभिन्न दृष्टियाँ दिखाई देती हैं।

इस विषय में अत्यन्त संकीर्ण दृष्टि उन लोगों की है, जो परम्परागत अपने-अपने धर्म या सम्प्रदाय को ही 'भारतीय संस्कृति' समझते हैं। संस्कृति के जिस व्यापक या समन्वयात्मक रूप की हमने ऊपर व्याख्या की है, उसकी ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता है। 'कल्याण' ने कुछ वर्ष पहले एक 'संस्कृति-विशेषांक' निकाला था। उसमें लेख लिखने वाले अधिकतर ऐसे ही सज्जन थे, जिनको कदाचित् यह भी ज्ञान नहीं था कि प्राचीन 'धर्म', 'सम्प्रदाय', 'सदाचार' आदि शब्दों के रहने पर भी देश में 'संस्कृति' शब्द के इस समय प्रचलन का मुख्य लक्ष्य क्या है ?

दूसरी दृष्टि उन लोगों की है, जो भारतीय संस्कृति को, भारतान्तर्गत समस्त सम्प्रदायों में व्यापक न मान कर, कुछ विशिष्ट सम्प्रदायों से ही संबद्ध मानते हैं। इस दृष्टि वाले लोग यद्यपि उपर्युक्त पहली दृष्टि वालों से काफी अधिक उदार हैं, तो भी देखना तो यह है कि उपर्युक्त विचार-धारा से प्रभावित भारतीय संस्कृति में वर्तमान भारत की कठिन साम्प्रदायिक समस्याओं के समाधान की, तथा साथ ही संसार की सतत प्रगतिशील विचार-धारा के साथ भारतवर्ष को आगे बढ़ाने की कहाँ तक क्षमता है। यदि नहीं, तब तो यही प्रश्न उठता है कि कहीं भारतीय संस्कृति के इस नवीन आन्दोलन से देश को लाभ के स्थान में हानि ही न उठानी पड़े ? हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ ही दिनों पहले तक सबसे सम्मानित 'भारतीय संस्कृति' शब्द उपर्युक्त विचार-धारा के कारण ही अब अपने पद से नीचे गिरने लगा है।

तीसरी दृष्टि उन लोगों की है जो भारतीय संस्कृति को देश के किसी विशिष्ट एक या अनेक सम्प्रदायों से परिमित या बद्ध न मान कर, समस्त सम्प्रदायों में एक सूत्र-रूप से व्यापक, अतएव सबके अभिमान की वस्तु काफी लचीली, सहस्रों वर्षों से भारतीय परम्परा से प्राप्त संकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओं और विषमताओं के विष को दूर करके राष्ट्र में एकात्मकता की भावना को फैलाने का एकमात्र साधन समझते हैं। स्पष्टतः इसी दृष्टि से भारतीय संस्कृति की भावना देश की अनेक विषम समस्याओं के समाधान का एकमात्र साधन हो सकती है।

दूसरी ओर, लक्ष्य या उद्देश्य की दृष्टि से भी, भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में लोगों में विभिन्न धारणाएं फैली हुई हैं। कोई तो इसको प्रतिक्रियावादिता या

पश्चाद्गामिता का ही पोषक या समर्थक समझते हैं। संस्कृति-रूपी नदी की धारा सदा आगे को ही बहती है, इस मौलिक सिद्धान्त को भूल कर वे प्रायः यही स्वप्न देखते हैं कि भारतीय संस्कृति के आन्दोलन के सहारे हम भारतवर्ष की सहस्रों वर्षों की प्राचीन परिस्थिति को फिर से वापिस ला सकेंगे। पश्चाद्गामिता की इसी विचार-धारा के कारण देश का एक बड़ा प्रभाव-सम्पन्न वर्ग भारतीय संस्कृति की भावना का घोर विरोधी हो उठा है, या कम-से-कम उसको सन्देह की दृष्टि से देखने लगा है।

दूसरे वे लोग हैं, जो भारतीय संस्कृति को देश के परस्पर-विरोधी तत्त्वों को मिलाने वाली, गंगा की सतत अग्रगामिनी तथा विभिन्न धाराओं को आत्मसात् करनेवाली धारा के समान ही सतत-प्रगतिशील, और स्वभावतः समन्वयात्मक समझते हैं। प्राचीन परम्परा से जीवित सम्बन्ध रखते हुए वह सदा आगे ही बढ़ेगी। इसीलिए उसे संसार के किसी भी वस्तुतः प्रगतिशील वाद से न तो कोई विद्वेष हो सकता है, न भय।

उपर्युक्त विभिन्न विचार-धाराओं के प्रभाव के कारण ही भारतीय संस्कृति के आधार के विषय में भी विभिन्न मत प्रचलित हो रहे हैं।

साम्प्रदायिक दृष्टिकोण

इस सम्बन्ध में जनता में सबसे अधिक प्रचलित मत विभिन्न सम्प्रदायवादियों के हैं। लगभग दो-ढाई सहस्र वर्षों से इन्हीं सम्प्रदायवादियों का बोलबाला भारत में रहा है। इन सम्प्रदायों के मूल में जो आर्थिक, जातिगत, समाजगत या राजनीतिक कारण थे, उनका विचार यहाँ हम नहीं करेंगे। तो भी इतना कहना अप्रासंगिक न होगा कि इस दो-ढाई सहस्र वर्षों के काल में भी भारतवर्ष की राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों में इन सम्प्रदायवादियों का काफी हाथ रहा है।

अपने-अपने संप्रदाय तथा परम्परा को ही सृष्टि के प्रारम्भ से ब्रह्मा, शिव आदि के द्वारा प्रायः प्रवर्तित कहने वाले, तथा अपने से भिन्न संप्रदायों को प्रायः अपने से हीन कहने वाले, इन लोगों के मत में तो 'विशुद्ध' भारतीय संस्कृति का आधार उनके ही संप्रदाय के प्रारम्भिक रूप में ढूंढना चाहिए। वैदिक, तांत्रिक, शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध जैसे संप्रदाय प्रायः इसी कोटि में आ जाते हैं।

ये लोग अपने-अपने संप्रदाय से अनन्तर-भावी या भिन्न संप्रदायों को प्रायः अपने मौलिक धर्म का विकृत या बिगड़ा हुआ रूप ही समझते हैं।

उदाहरणार्थ मनु के—

> चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
> भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति ॥ (१२।९७)
> या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।

सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ।
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥ (१२।९५-९६)

(अर्थात्, चातुर्वर्ण्य और चारों आश्रमों के साथ-साथ भूत, वर्तमान और भविष्य तथा तीनों लोकों का परिज्ञान वेद से ही होता है। वेदबाह्य जो भी स्मृतियाँ या संप्रदाय हैं, वे तमोनिष्ठ तथा नवीन होने के कारण निष्फल और मिथ्या हैं।) इत्यादि वचन, युगों के क्रम से धर्म के ह्रास की कल्पना, मनुस्मृति जैसे ग्रन्थों में शूद्रराज्य की विभीषिका, पुराणों में "नन्दान्तं क्षत्रियकुलम्" (अर्थात् नन्दों के अनन्तर वैदिक संप्रदाय के पोषक क्षत्रिय राजाओं का अन्त), धर्मशास्त्रों में चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त के साथ संकरज जातियों की स्थिति की कल्पना, इत्यादि समस्त विचारधारा उन्हीं संप्रदायवादियों का प्रतीक है, जो भारतीय संस्कृति को प्रगतिशील और समन्वयात्मक न मान कर केवल अपने-अपने संप्रदाय में ही अपनी विचारधारा को बद्ध रखते हैं।

एक मात्र शब्द-प्रमाण की प्रधानता, असहिष्णुता की भावना और भारत के वर्तमान या ऐतिहासिक स्वरूप के समझने में वैज्ञानिक समष्टि दृष्टि का अभाव—इन बातों में ही इन लोगों का मुख्य वैशिष्ट्य दीख पड़ता है।

यह विचित्र-सी बात है कि हमारे कुछ आधुनिक इतिहास लेखक तथा विचारक भी इस (बुद्धि-पूर्वक या अबुद्धि पूर्वक) पूर्वग्रह (Prejudice) से शून्य नहीं हैं। सांप्रदायिक या जातिगत पूर्वग्रह के कारण वे भारतीय संस्कृति के इतिहास के अध्ययन में समष्टि-दृष्टि न रख कर, एकांगी दृष्टि से ही काम लेते रहे हैं। केवल बौद्धों आदि पर भारत के अधःपतन का दोष मढ़ना, ऐसे ही लोगों का काम है।

ऐतिहासिक गवेषणा में हमारी एकांगी दृष्टि का प्रधान कारण यह होता है कि हम प्रायः अपनी दृष्टि को संस्कृत साहित्य में ही परिमित कर देते हैं। पर संस्कृत साहित्य में कितनी अधिक एकांगिता है, इसका ज्वलन्त प्रमाण इसी से मिल जाता है कि बौद्धकालीन उस इतिहास का भी, जिसको हम भारत का स्वर्ण-युग कह सकते हैं, संस्कृत साहित्य में प्रायः उल्लेख ही नहीं है। 'व्याकरण महाभाष्य' में पाणिनी के "येषां च विरोधः शाश्वतिकः" (२।४।९) [अर्थात् जिनमें परस्पर शाश्वतिक विरोध होता है, उनके वाचक शब्दों का द्वन्द्व समास एक वचन में रहता है] इस सूत्र का एक उदाहरण 'श्रमण ब्राह्मणम्' दिया है। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि कम-से-कम ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व से ही श्रमण (अर्थात् बौद्ध) और ब्राह्मणों में सर्प और नकुल जैसी शत्रुता रहने लगी थी। संस्कृत साहित्य की उपर्युक्त एकांगिता के मूल में ऐसे ही कारण हो सकते हैं। यही बात संस्कृतेतर साहित्यों के विषय में भी कही जा सकती है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

भारतीय संस्कृति के आधार के विषय में उपर्युक्त सांप्रदायिक तथा एकांगी दृष्टि के मुकाबले में आधुनिक विज्ञानमूलक ऐतिहासिक दृष्टि है। इसके अनुसार भारतीय संस्कृति को उसके उपर्युक्त अत्यन्त व्यापक अर्थ में लेकर, उसको स्वभावतः प्रगतिशील तथा समन्वयात्मक मानते हुए, वैदिक परम्परा के संस्कृत साहित्य के साथ बौद्ध-जैन साहित्य तथा सन्तों के साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन, मूक जनता के अनंकित विश्वास और आचार विचारों के परीक्षण और भाषा के साथ-साथ पुरातत्त्व-सम्बन्धी ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक साक्ष्य के अनुशीलन के द्वारा समष्टि दृष्टि से भारतीय संस्कृति के आधारों का अनुसन्धान किया जाता है।

उपर्युक्त दोनों दृष्टियों में किसका कितना मूल्य है, यह कहने की बात नहीं है। स्पष्टतः उपर्युक्त वैज्ञानिक दृष्टि से ही हम भारतीय संस्कृति के उस समन्वयात्मक तथा प्रगतिशील स्वरूप को समझ सकते हैं, जिसको हम वर्तमान भारत के सामने रख सकते हैं और जिसमें भारत के विभिन्न संप्रदायों और वर्गों को ममत्व की भावना हो सकती है। हम इस लेख में इसी दृष्टि से, संक्षेप में ही, संस्कृति के आधारों की विवेचना करना चाहते हैं।

भारतीय संस्कृति के मौलिक आधार

भारतीय संस्कृति के आधार के विषय में उपर्युक्त समन्वय-मूलक दृष्टि का क्षेत्र यद्यपि आज के वैज्ञानिक युग में अत्यधिक व्यापक और विस्तृत हो गया है, तो भी यह दृष्टि नितरां नवीन-कल्पना मूलक है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। भारतवर्ष के ही विद्वानों की परम्परागत प्राचीन मान्यताओं में इस दृष्टि की पुष्टि में हमें पर्याप्त आधार मिल जाता है। उदाहरणार्थ, संस्कृत के ज्ञाताओं से छिपा नहीं है कि वर्तमान पौराणिक हिन्दू धर्म के लिए निगमागम-धर्म नाम पंडितों में प्रसिद्ध है। अनेक सुप्रसिद्ध ग्रन्थकारों के लिए, उनकी प्रशंसा के रूप में 'निगमागमपारावार-पारदृश्वा' कहा गया है। इसका अर्थ स्पष्टतः यही है कि परम्परागत पौराणिक हिन्दू धर्म का आधार केवल 'निगम' (या वेद) न होकर, 'आगम' भी है। दूसरे शब्दों में वह निगम-आगमधर्मों का समन्वित रूप है। यहाँ 'निगम' का मौलिक अभिप्राय, हमारी सम्मति में निश्चित या व्यवस्थित वैदिक परम्परा से है; और 'आगम' का मौलिक अभिप्राय प्राचीनतर प्राग्वैदिक काल से आती हुई वैदिकेतर धार्मिक या संस्कृतिक परम्परा से है। 'निगमागमधर्म' की चर्चा हम आगे भी करेंगे। यहाँ तो हमें केवल यही दिखाना है कि प्राचीन भारतीय विद्वानों की भी अस्पष्ट थी कि रूप से यह भावना भारतीय संस्कृति का रूप समन्वयात्मक है।

इसके अतिरिक्त साहित्य आदि के स्वतन्त्र साक्ष्य से भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं। सबसे पहले हम वैदिक संस्कृति से भी प्राचीनतर प्राग्वैदिक जातियों और उनकी संस्कृति के विषय में ही कुछ साक्ष्य उपस्थित करना चाहते हैं।

अपने मूल रूप में एक प्राग्वैदिक देवता था, जिसका पीछे से शनैः शनैः वैदिक रुद्र के साथ एकीभाव हो गया।

वैदिक तथा प्रचलित पौराणिक उपास्य देवों और कर्मकाण्डों की पारस्परिक तुलना करने से भी हम बरबस इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि प्रचलित हिन्दू देवताओं और कर्म-काण्ड पर एक वैदिकेतर, और बहुत अंशों में प्रागैतिहासिक, परम्परा की छाप है।

प्राचीन वैदिक धर्म की अपेक्षा पौराणिक धर्म में उपास्य-देवों की संख्या बहुत बढ़ गयी है। वैदिक धर्म के अनेक देवता (ब्रह्मणस्पति, पूषा, भग, इन्द्र, मरुत्) या तो पौराणिक धर्म में प्रायः विलुप्त ही हो गये हैं या अत्यन्त गौण हो हो गये हैं। पौराणिक धर्म के गणेश, शिव, शक्ति और विष्णु ये मुख्य देवता हैं। वेद में इनका स्थान या तो गौण है या है ही नहीं। अनेक वैदिक देवताओं (जैसे, विष्णु, वरुण, शिव) का पौराणिक धर्म में रूपान्तर ही हो गया है। भैरव आदि ऐसे भी पौराणिक धर्म के अनेकानेक देवता हैं, जिनका वैदिक धर्म में कोई स्थान नहीं है।

पौराणिक देव--पूजा--पद्धति भी वैदिक पूजा--पद्धति से नितरां भिन्न है। पौराणिक कर्मकाण्ड में धूप, दीप, पुष्प, फल, पान, सुपारी आदि की पदे-पदे आवश्यकता होती है। वैदिक कर्मकाण्ड में इनका अभाव ही है।

वैदिक धर्म से प्रचलित पौराणिक धर्म के इस महान परिवर्तन को हम वैदिक तथा वैदिकेतर (या प्राग्वैदिक) परम्पराओं के एक प्रकार के समन्वय से ही समझ सकते हैं।

इसी प्रकार हमारी संस्कृति की परम्परा में विचार-धाराओं के कुछ ऐसे परस्पर-विरोधी द्वन्द्व हैं, जिनको हम वैदिक और वैदिकेतर धाराओं के साहाय्य के बिना नहीं समझ सकते। ऐसे ही कुछ द्वन्द्वों का संकेत हम नीचे करते हैं:—

१. कर्म और संन्यास

२. संसार और जीवन का उद्देश्य हमारा उत्तरोत्तर विकास है। उत्तरोत्तर विकास का ही नाम अमृतत्व है। यही निःश्रेयस है।

इसके स्थान में—

संसार और जीवन दुःखमय हैं। अतएव हेय हैं। इनसे मोक्ष या छुटकारा पाना ही हमारा ध्येय होना चाहिए।

३. ज्योतिर्मय लोकों की प्रार्थना[1] और नरकों[2] का निरन्तर भय, इन द्वन्द्वों

---

१. तुलना कीजिए :—उद्वयं तमसपरि स्वः पश्यन्त उत्तरम् (यजु० २०।२१) तमसो मा ज्योतिर्गमय। इत्यादि। २. 'नरक' शब्द ऋग्वेद संहिता, शुक्ल यजुर्वेद वा० संहिता, तथा सामवेद संहिता में एक बार भी नहीं आया है। अथर्ववेद संहिता में केवल एक बार प्रयुक्त हुआ है।

में पहला पक्ष स्पष्टतया वैदिक संस्कृति के आधार पर है। दूसरे पक्ष का आधार, हमारी समझ में, वैदिकेतर ही होना चाहिए।

हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि भारतवर्ष की प्राचीनतर वैदिकेतर संस्कृतियों में ही दूसरे पक्षों की जड़ होनी चाहिए। ऊपर संन्यासादि आश्रमों की उत्पत्ति के विषय में जो बौधायनधर्मसूत्र का मत हमने दिया है, उससे भी यही सिद्ध होता है। ऐसा होने पर भी हमारे देश के अध्यात्म-शास्त्र तथा दर्शन-शास्त्र का आधार ये ही द्वितीय पक्ष की धारणाएँ हैं। ये धारणाएँ अवैदिक हैं, यह सुनकर हमारे अनेक भाई चौंक उठेंगे। पर हमारे मत में तो वस्तु-स्थिति यही दीखती है।

इन्हीं दो प्रकार की विचार-धाराओं को बहुत अंशों में, हम क्रमशः ऋषि सम्प्रदाय और मुनि-सम्प्रदाय भी कह सकते हैं। 'ऋषि' तथा 'मुनि' शब्दों के मौलिक प्रयोगों के आधार पर हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं। 'मुनि' शब्द का प्रयोग भी वैदिक-संहिताओं में बहुत ही कम हुआ है। होने पर भी उसका 'ऋषि' शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है।

ऋषि-सम्प्रदाय और मुनि-सम्प्रदाय के सम्बन्ध में, संक्षेप में हम इतना ही यहाँ कहना चाहते हैं कि दोनों की मौलिक दृष्टियों में हमें महान् भेद प्रतीत होता है। जहाँ एक का झुकाव हिंसा-मूलक मांसाहार और तन्मूलक असहिष्णुता की ओर आ रहा है वहाँ दूसरे का अहिंसा तथा तन्मूलक निरामिषता तथा विचार-सहिष्णुता (तथा अनेकान्तवाद) की ओर आ रहा है। जहाँ एक की परम्परा में वेदों को सुनने के कारण ही शूद्रों के कान में शीशा पिलाने का विधान है, वहाँ दूसरी ओर इसने संसार भर के, शूद्रातिशूद्र के भी, हित की दृष्टि से बौद्ध, जैन, तथा सन्त सम्प्रदायों को जन्म दिया है। इनमें एक मूल में वैदिक, और दूसरी मूल में प्राग्वैदिक प्रतीत होती है।

इसी प्रकार हमारे समाज में वर्ण और जाति के आधार पर सामाजिक भेदों का द्वैविध्य दीखता है, यह भी इसी प्रकार का एक द्वन्द्व प्रतीत होता है।

पुरुषविध देवताओं के साथ-साथ स्त्रीविध देवताओं की पूजा, उपासना भी इसी प्रकार के द्वन्द्वों में से एक है।

हम एक और द्वन्द्व का उल्लेख करके अपने लेख के उपसंहार की ओर आते हैं। वह द्वन्द्व ग्राम और नगर का है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि जहाँ 'ग्राम' शब्द वैदिक संहिताओं में अनेकत्र आया है, वहाँ 'नगर' का प्रयोग हमें एक बार भी नहीं मिला। वैदिक साहित्य और धर्मसूत्रों में भी वैदिक सभ्यता ग्राम-प्रधान दीखती है। दूसरी ओर नगरों के निर्माण में मय जैसे असुरों का उल्लेख पुराणों आदि में मिलता है। नगरों के साथ ही नागरिक शिल्प और कला-कौशल का विचार संबद्ध है। यह विचारणीय बात है कि वैदिक संस्कृति के वाहक ऊपरी तीनों वर्णों में कला और शिल्प का कोई स्थान नहीं है। इन कामों को करने वालों की तो ये लोग 'शूद्रों' में गणना करते हैं। इस प्रवृत्ति की व्याख्या हमारी

समझ में उपर्युक्त ग्राम तथा नगर के द्वन्द्व में, जो कि वैदिक और प्राग्वैदिक परिस्थितियों की ओर संकेत करता है. मिल सकती है।

उपसंहार

ऊपर के अनुसंधान से यह स्पष्टतया प्रतीत हो जाता है कि भारतीय संस्कृति के मौलिक आधारों के विचार में हम उसकी प्रधान प्रवृत्तियों को, जिनमें अनेक परस्पर-विरोधी द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियाँ भी हैं, कभी नहीं समझ सकते, जब तक हम यह न मान लें कि उनके निर्माण और विकास में वैदिक संस्कृति की धारा के साथ-साथ एक वैदिकेतर या प्राग्वैदिक धारा का भी बड़ा भारी हाथ रहा है। दोनों धाराओं के समन्वय में ही हमें उन मौलिक आधारों को ढूँढना होगा।

वैदिक संस्कृति के समान ही वह प्राग्वैदिक संस्कृति भी हमारे अभिमान और गर्व का विषय होनी चाहिये। आर्यत्व के अभिमान के पूर्वग्रह से युक्त, और भारत में अपने साथ सहानुभूति का वातावरण उत्पन्न करने की इच्छा से प्रवृत्त यूरोपीय ऐतिहासिकों के प्रभाव से उत्पन्न हुई यह भावना कि भारतीय सभ्यता का इतिहास केवल वैदिक काल से प्रारम्भ होता है, हमें बरबस छोड़नी पड़ेगी। भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिकता, त्याग की भावना, पारलौकिक भावना, अहिंसावाद जैसी प्रवृत्तियों की जड़, जिनके वास्तविक और संयत रूप का हमको गर्व हो सकता है, हमको वैदिक संस्कृति की तह से नीचे तक जाती हुई मिलेगी।

वैदिक संस्कृति का बहुत ही बड़ा महत्व है, जिसके विषय में एक स्वतन्त्र लेख की आवश्यकता है, तो भी भारतीय जनता के समुद्र में उसका स्थान सदा से एक द्वीप जैसा रहा। मूक जनता की अवस्था के अध्ययन से तथा महाराष्ट्र आदि प्रदेशों में वैदिकों की अपनी पृथक् अवस्थिति से यही सिद्धान्त निकलता है।

वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृतियों का समन्वय

वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृतियों का उक्त समन्वय अदृष्टविधया बहुत प्राचीन काल से ही प्रारम्भ हो गया था। परस्पर आदान-प्रदान से दोनों धाराएँ आगे बढ़ती हुई अन्त में पौराणिक हिन्दू धर्म के रूप में समन्वित होकर आपाततः एक धारा में ही विकसित हुयीं। इस समन्वय का प्रभाव धर्म, आचार-विचार, भाषा, और रक्त तक पर पड़ा। इसके प्रमाणों की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

इसी समन्वय को दृष्टि में रख कर, जैसा हमने ऊपर कहा है, निगमागम धर्म नाम की प्रवृत्ति हुई। इसी के आधार पर सनातनी विद्वान् बहुत ही ठीक कहते हैं कि हमारे धर्म का आधार केवल श्रुति न होकर श्रुति-स्मृति-पुराण है।

पौराणिक अनुश्रुति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस समन्वय में बहुत बड़ा काम भगवान् व्यास का था। अपने समय में पुराणों के 'संग्रह' या 'संपादन' में उनका बड़ा हाथ था—यही पौराणिक प्रसिद्ध है। 'पुराण' शब्द का

अर्थ ही उपर्युक्त आर्येतर संस्कृति की ओर निर्देश करता है; उनका सहयोग उस समय के अनेकानेक 'ऋषि-मुनियों' ने दिया होगा, जिनमें से अनेकों की धमनियों में व्यास के सदृश ही दोनों संस्कृतियों का रक्त बह रहा था और प्रायः इसीलिए उनका विश्वास दोनों संस्कृतियों के समन्वय में था।

यह समन्वित पौराणिक संस्कृति जो कि बहुत अंशों में वर्तमान भारतीय संस्कृति के मेरुदण्ड के समान है, न तो केवल वैदिकेतर ही कही जा सकती है; न उसको हम यूरोपीय विद्वानों के अभिप्राय से 'आर्य-संस्कृति' या अनार्य-संस्कृति' ही कह सकते हैं। उसकी तो समान रूप से उपर्युक्त दोनों धाराओं में सम्मान की दृष्टि होनी चाहिए। यही सनातन धर्म की दृष्टि है। इसीलिए यूरोपीय प्रभाव से हमारे देश के कुछ लोगों में आर्य, अनार्य, वैदिक, अवैदिक शब्दों को लेकर जो एक प्रकार का क्षोभ उत्पन्न होता है, वह वास्तव में निराधार और अहेतुक है।

समन्वित धारा की प्रगति और विकास

गंगा-यमुना-रूपी वैदिक तथा वैदिकेतर धाराओं के संगम से बनी हुई भारतीय संस्कृति की यह धारा अपने 'ऐतिहासिक' काल में भी स्वभावतः स्थिर तथा एक ही रूप में नहीं रह सकती थी। इस लम्बे काल में भी तत्कालीन विशिष्ट परिस्थितियों और आवश्यकताओं से उत्पन्न होने वाली नवीन धाराओं से वह प्रभावित होती हुई और क्रमशः उन धाराओं को आत्मसात् करती हुई, नवीनतर गम्भीरता, विस्तार और प्रवाह के साथ आगे बढ़ती रही है।

वैदिक और वैदिकेतर संस्कृतियों का प्रारम्भिक समन्वय केवल नाममात्र में ही था। उन दोनों में अनेकानेक स्वार्थी और बद्धमूल परम्पराओं के कारण अनेक प्रकार के वैषम्य, गंगा की धारा में प्रारम्भ में बहते हुए परस्पर टकराने वाले टेढ़े-मढ़े शिलाखण्डों के समान, चिरकाल तक संयुक्त-धारा में भी वर्तमान रहे। परस्पर संघर्ष के द्वारा ही उन्होंने अपनी विषमता के रूप को धीरे-धीरे दूर किया है और भारतीय संस्कृति की धारा की महिमा को बढ़ाया है। यह क्रिया अब भी जारी है और जारी रहेगी। इसी में भारतीय संस्कृति की प्रगतिशीलता है।

उपर्युक्त वैषम्यों में एक बड़ा भारी वैषम्य उस बड़ी भारी मानवता के कारण था, जिसको उस समय की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों ने सब प्रकार से दलित कर रखा था। भारतवर्ष के आगे के इतिहास में पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं द्वारा उत्पन्न होनेवाले जैन, बौद्ध, वैष्णव और सन्त आदि आन्दोलनों की उत्पत्ति और प्रसार में उपर्युक्त विषमताओं का बड़ा भारी हाथ था। समाजगत विषमताओं ने ही भगवान् कृष्ण, बुद्ध, महावीर, कबीर, चैतन्य आदि महापुरुषों को जन्म दिया और उन्होंने उन विषमताओं के दूर करने में अपने महान् कार्य के द्वारा भारतीय संस्कृति की धारा की ही महत्ता को बढ़ाया।

भारतवर्ष के इतिहास में आने वाले इसलाम और ईसाइयत के आन्दोलनों को हम भारतीय संस्कृति की धारा के प्रवाह से बिलकुल अलग नहीं समझते। प्रथम तो इन दोनों की आध्यात्मिकता और नैतिकता का आधार 'एशियाटिक' संस्कृति के इतिहास की परम्परा के द्वारा भारतीय संस्कृति की मौलिक धारा तक पहुँच जाता है। दूसरे, इतिहास-काल में भी उनका, भारतीय बौद्ध संस्कृति का ऋणी होना कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। तीसरे उन दोनों में कम-से-कम ९५ प्रतिशत संख्या उन्हीं की है, जो प्राचीन भारतीय संस्कृति के ही उत्तराधिकारी है, और आज भी उनमें सांस्कृतिक मूल्य की वस्तुओं पर भारतीयता की काफी छाप है। हमारा तो विश्वास है कि हम सहिष्णुता से काम लेते हुए, उनकी वास्तविक धार्मिक भावनाओं को ठेस न पहुँचाते हुए, उनमें सुप्त भारतीयता को जगा सकते हैं। और वे भी भारतीय संस्कृति की धारा से पृथक् नहीं रह सकते। हमारे मत में बौद्ध, जैन, आदि धर्मों की तरह ही, भारतवर्ष की पूर्वोक्त विषमताओं से ही इन संप्रदायों के प्रसार में काफी सहायता मिली है और इनके द्वारा भारतीय संस्कृति भी प्रभावित हुई है, उसको कई प्रकार के साक्षात् या असाक्षात् रूप से लाभ भी हुए हैं।

हम उपर्युक्त सब आन्दोलनों को भी एक प्रकार से भारतीय संस्कृति का उपकारक और आधार कह सकते हैं।

आवश्यकता है कि हम भारतीय संस्कृति के विकास को समझने के लिए उपर्युक्त समष्टि-दृष्टि से काम लें। प्रत्येक भारतीय सांप्रदायिक एकांगी-दृष्टि को छोड़कर भारतीय संस्कृति के समस्त क्षेत्र के साथ अपने ममत्व को स्थापित करे और अपने को उसका उत्तराधिकारी समझे।

यह भारतीय संस्कृति स्वभावतः सदा से प्रगतिशील रही है और रहेगी। इसमें अपने जीवन की जो अबाध धारा बह रही है, उसके द्वारा ही भविष्य के देशीय या अन्तराष्ट्रिक मानवता के हित के आन्दोलनों का स्वागत करते हुए, अपनी अनन्त प्राचीन परम्परा की रक्षा करते हुए ही आगे बढ़ती जाएगी। इसी भारतीय संस्कृति में हमारी आस्था है।

डा० मंगलदेव शास्त्री, *एम, ए०, डी० फिल् (ऑक्सन)*

स्वतंत्र भारत की एक समस्या

बड़े सौभाग्य की बात है कि हमारा देश अब एक स्वतन्त्र राष्ट्र हो गया है और अब हमें स्वतन्त्र वातावरण में अपना पूर्ण विकास करने का सुअवसर प्राप्त है। हमें अभिमान है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी अब हमारा सम्मान होने लगा है। हर पन्द्रहवीं अगस्त को हम अपना स्वतन्त्रता दिवस मनाते हैं। जबकि हम झण्डा ऊँचा रहे हमारा '' '' '''जन गन मन अधिनायक''''''आदि सारगर्भित गान गाकर अपना उत्साह बढ़ाते हैं और अनेकानेक संकल्प और प्रतिज्ञायें करते हैं कि हम उन्नतिशील हों, जिसमें हमारी यह जन्म सिद्ध स्वतंत्रता चिरस्थायी रहे; किन्तु जब हम प्रस्तुत वातावरण में सिर उठाकर अपना मुखड़ा देखते हैं तो हमें ग्लानि होती है, भीतर ही भीतर एक अज्ञात टीस सी उत्पन्न होती है।

स्वतन्त्रता की प्राप्ति का महत्व एक उत्तम उद्देश्य की पूर्ति के साधन के ही रूप में है और वह उद्देश्य गांधी जी के अनुसार है देश को सम्पन्न, सबल और स्वावलम्बी बनाना जिससे प्रत्येक भारतवासी को भोजन कपड़ा और घर की सुविधा हो। और हर एक को समान रूप से अपना विकास करने का अवसर मिले। हमारे यहां जन-तन्त्र कायम हुआ और जनता ने नये विधान के अनुसार अपने शासकों का निर्वाचन स्वयं गत वर्ष किया, किन्तु उसे यह विश्वास नहीं होता कि उसी के भाई बन्धु अब देश का शासन चला रहे हैं। वातावरण वैसा ही मालूम पड़ता है जैसा अंग्रेजी शासन में रहा! चारो ओर हाय, हाय, मची है! सबको अपनी-अपनी चिन्ता लगी है, सब अपना ही तन ढकने की तथा पेट भरने की चिन्ता में लगे हैं। दूसरा कैसे है? वह सुखी है या नहीं? इसकी किसी को परवाह नहीं है। अवसरवादी कम्युनिस्ट अब भी नारा लगाते फिरते हैं:—

> आज माँगता हिन्दुस्तान,
> रोटी कपड़ा और मकान।

आश्चर्य है इस परिस्थिति पर! दानी और समृद्ध भारत की ऐसी दुर्दशा क्यों! यह दैन्य याचक-मनोवृत्ति हमसे कब दूर होगी! हम अपने स्वतन्त्रता दिवस की छठवीं वर्ष गांठ मना चुके। किन्तु आज भी हम रोटी के लिये अन्य देशों के मुँहताज हैं। जबतक अमेरिका और रूस से गेहूँ न मिले हमारा पेट नहीं भरता है। कहा जाता है हम अपना जीवन-स्तर ऊँचा कर रहे हैं। यदि जीवन-स्तर ऊँचा करने का मतलब केवल अपनी इच्छाओं को 'सुरसा' के समान बढ़ाने का है, जिनकी पूर्ति स्वदेशी वस्तुओं से न हो सके और जिनकी पूर्ति अमेरिका, रूस अथवा अन्य देशों के ही द्वारा हो तो सन्देह नहीं कि हमने एक मालिक को छोड़ा किन्तु परोक्ष-रूप से किसी दूसरे मालिक के पंजे में हम पड़ते जा रहे हैं। गांधी जी का ध्येय

प्रारम्भ ही से यही रहा कि हम सब तरह से परिपूर्ण हों, स्वावलम्बी हों, किसी दूसरे पर आश्रित न रहें! यहां तक की देश के गांव-गांव की आवश्यकतायें वहीं के उत्पादन से पूर्ण हों किन्तु हममें कोई स्वावलम्बी बनने की इच्छा नहीं रखता। जिसे देखिये वही या तो नौकरी के लिये व्याकुल है या शासन में कोई पद चाहता है। या चोर बाजारी कर शीघ्र धनी होना चाहता है। किसी को संतोष नहीं। बिना सन्तोष रक्खे और अपनी आवश्यकताओं को सीमित किये हम सुख का अनुभव कैसे कर सकते ?

आज हमारे गाँव छिन्न-भिन्न हैं, गाँव के पड़ोसियों में जो सहयोग था, प्रेम था, वह शिथिल हो गया है। गाँव के छोटे-मोटे जमीन्दार और धनिकों ने स्वार्थान्ध हो पहले मजदूर और किसानों को सताया, अब समय बदला तो उन्हें खेती के लिये श्रमिक नहीं मिलते, हलवाहे नहीं मिलते, स्वार्थवश वे खेतों को अपने अपने कब्जे में रक्खे हुए हैं। गरीबों को नहीं देते, स्वयं तो वे हल चला नहीं सकते, खेतों में परिश्रम कर नहीं सकते, तो खाद्य-पदार्थों की पूर्ति हो तो कैसे हो ? हमारे गृह जो पहले प्रेम से ओत-प्रोत थे आज क्लेश के केन्द्र बने हैं। सगे-सहोदर एक दूसरे के दुश्मन हो रहे हैं। पति-पत्नी में अविश्वास भरा है। बड़े-बूढ़े छोटों की उद्दंडता उच्छृंखलता, अनुशासनहीनता एवं अशिष्टता से अपमानित हो रहे हैं। विद्यार्थियों की मनमानी से स्कूल तथा कालेजों के अध्यापक अपना माथा हाथ पर टेके बैठे हैं। मिल मालिकों और मजदूरों में सन्देह भरा है, उनमें डाह-द्वेष की वृद्धि होती जा रही है। मजदूर उतना परिश्रम नहीं करना चाहता और मालिक अपनी गठरी से उचित पारिश्रमिक नहीं देना चाहता। हरएक समुदाय में प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि जितना वह योग्य है जितना परिश्रम कर रहा है, उससे अधिक उसे मिले, बल्कि बिना हाथ-पैर हिलाये यदि सभी वस्तुयें उपलब्ध हो जावें तो क्या ही अच्छा हो।

इन सब बुराइयों का एक मात्र कारण हमारी चरित्रहीनता और सामाजिक तथा नैतिक पतन है। हमारा कोई आदर्श नहीं रह गया है। देश का कल्याण तभी सम्भव हो सकता है जब कि हमारा चरित्र ठीक हो जाय और हमारी सन्तति चरित्रवान् हो। हमारा यह नैतिक पतन अपनी संस्कृति को विस्मृति कर देने से हुआ है। हमारी संस्कृति का उद्देश्य था कि सबको देकर जो बचे उसको खाओ, दूसरों की प्यास बुझा कर स्वयं पानी पिओ, दूसरों को स्थान देकर तब अपनी चिन्ता करो। सदा दूसरों को सुखी बनाने का प्रयत्न करो; किन्तु उपकार करने का अभिमान मन में न लाओ। और जो कोई बात व्यवहार अपनी इच्छा के अनुकूल न मालूम पड़े वह दूसरों के लिए कदापि न बरतो।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

भारतीय गृहस्थ अतिथि को देवता तुल्य मानते थे। आज स्वार्थान्धता के वश हमारी भावना ऐसी हो गई है कि यदि कोई दूर पर दरवाजे की ओर भूखा-

प्यासा आता दिखाई पड़ता है तो फाटक बन्द कर लिया जाता है। यदि वह बेहया आ ही जाता है, और दरवाजा खटखटाता है तो छोटे बच्चे से कहा जाता है कि जाकर कह दो, "बाबू जी नहीं हैं।" उसे झूठ बोलने का अभ्यास कराया जाता है। और वह अबोध बालक बाहर आकर तोतली भाषा में कह देता है कि "बाबू जी कह रहे हैं कि बाबू जी नहीं हैं।" बाबू जी नहीं सोचते कि यदि इसी रूप से उन्हें कहीं निराश होना पड़े तो उन्हें कितना दुख होगा।

हमारी संस्कृति एक सर्वव्यापी महान शक्ति पर आधारित थी। इसी महान शक्ति का नाम हमने ईश्वर, परमात्मा, परब्रह्म, जगदीश्वर आदि रक्खा था। हम अपने को उससे अलग नहीं मानते थे। उस पर हमें विश्वास था, हम उसे घट-घट व्यापी समझते थे। जीव को ईश्वर का अंश मान कर यह विश्वास रखते थे कि 'जीव' अपना उत्थान कर 'शिव' हो सकता है। इसी विकास सिद्धान्त के अनुसार भगवान स्वयं भौतिक शरीर में समय समय पर प्रकट होते रहे हैं और अपने चरित्र से जीवों के उद्धार के लिये पथ-प्रदर्शन करते रहे हैं। इसी आस्था के आधार पर हमने मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र को अवतार माना और श्रीकृष्ण को सोलहो कला का सम्पूर्ण ब्रह्म माना। रामायण और महाभारत को हम अपना धर्म ग्रन्थ अब भी मानते हैं और अपनी जीवनचर्या उनमें वर्णित कथाओं के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते हैं किन्तु उन पर से भी हमारा विश्वास हटता जा रहा है।

हमारे भौतिक शरीर की प्रवृत्ति भौतिक पदार्थों के समान अधोमुखी होती है, इस अधः पतन से बचाने के लिए बड़ी प्रबल शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। जीव-आत्मा की प्रवृत्ति जो ईश्वर का अंश है सदा ऊर्ध्वमुखी होती है, किन्तु त्रिगुणात्मक सृष्टि में बंध कर जीव-आत्मा काम, क्रोध, लोभ, मोह; मत्सर, के संसर्ग में अधोगति को प्राप्त होती है। जब हम कोई बुरा काम करने जाते हैं तो हमारी अन्तरात्मा हमें रोकती है। झूठ बोलनेवाले को यदि झूठा कहा जाय तो उसे बुरा लगता है, इसी भांति किसी अन्य दोषी को यदि उसका दोष बताया जाय तो वह बिगड़ उठता है, अर्थात् अन्तरात्मा यह नहीं चाहती कि शरीर से कोई अनैतिक कार्य हो, किन्तु अन्तरात्मा को दबाकर, उसका हनन करके हम दोष-युक्त कार्य कर ही बैठते हैं। अतः इस भौतिक शरीर द्वारा होनेवाली दुष्कृतियों को रोकने के लिए अन्तरात्मा को एक सहारा की आवश्यकता होती है, जिसकी पूर्ति ईश्वर में आस्था रखने से होती है।

ईश्वर कोई बुद्धि-जन्य वस्तु नहीं। वह तो बुद्धि से परे है। किसी के मन में ईश्वर पर विश्वास करा देना सरल नहीं, क्योंकि चैतन्य रूप ईश्वर तर्कपूर्ण युक्तिओं से परे है। उस पर प्रयोगशालाओं के भीतर परखनलियों द्वारा प्रयोग नहीं किये जा सकते। ईश्वर की सत्ता मानने पर आत्मा में दृढ़ता आती है और तभी अन्तरात्मा शारीरिक अधोगति के प्रतिकूल क्रिया करके हमें ऊपर उठाती है।

सत्य, अहिंसा, सदाचार, परोपकार, ब्रह्मचर्य, त्याग आदि का ही पालन करना धर्म है। आजकल धर्म शब्द का स्थान पुस्तकों तक सीमित है। यह एक हास्यास्पद और घृणा का शब्द माना जाता है। कहा जाता है कि धर्म से क्या लाभ है? धर्म तो केवल मूर्खों के लिए है। कारण कि झूठे, दुराचारी, अन्यायी, पुरुष, धन, मान, वैभव आदि से परिपूर्ण और सुखी दिखाई पड़ते हैं और इसके विपरीत धर्म भीरू को पेटभर रोटी नहीं मिलती। यह भी कहा जाता है कि ब्राह्मणों ने मूर्ख जनता को ठगने के लिये ईश्वर का निर्माण किया और धर्म का ढोंग रचा। मैं यहाँ उन टीकाधारी पाखण्डियों का समर्थन नहीं कर रहा हूँ जो स्वयं अधर्मी रहकर जघन्य कृत्य करते हैं, किन्तु दिखाने के लिए टीका लगाते हैं, मन्दिर में जाते हैं और दूसरों को विस्मय जनक बुद्धि से धार्मिक उपदेश देते हैं और धार्मिक प्रश्नों का सूक्ष्म विवेचन करते हैं। उनका भाषण सुनते समय तो बहुधा ऐसा लगता है कि मानों कोई शैतान दीक्षा दे रहा है। वास्तव में धर्म उस कर्तव्याकर्तव्य, विचार और व्यवस्था को कहते हैं जिसके प्रतिपालन से हम स्वस्थ्य और सुखी हों और जो अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि में सामञ्जस्य स्थापित कर सकें। धर्म हमें किसी से वैर करना नहीं सिखाता। जो मनुष्य अपना सुधार कर काम, क्रोध, लोभ, मोह अहंकार से रहित हो जाता है और सत्य के मार्ग पर चलता हुआ लोक-सेवा, जन-सेवा, परोपकार में सदा रत रहता है वह धार्मिक पुरुष है और वही ईश्वर तुल्य है जैसे कि हमारे ही जीवन-काल में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, महात्मागान्धी, डा० ऐनीबेसेन्ट, महामना मालवीयजी आदि हो गये हैं और जैसे कि अन्य कई नेता हमारे भाग्य से हमारे बीच अब भी पथप्रदर्शन कर रहे हैं। हमारी स्वतन्त्रता इन्हीं इने-गिने महापुरुषों के धार्मिक जीवन और इनकी उच्चकोटि की नैतिकता से प्राप्त हो सकी है और यदि हमें इसे चिरस्थाई बनाना है तो हमें चाहिये कि लोभ-मोह छोड़कर उन्हीं के जीवन का अनुसरण करें। ऐसे व्यक्तियों के लिए ईश्वर का मानना या न मानना दोनों बराबर है। इसके लिए किसी मन्दिर में किसी आदर्श रूप देवता-देवी का दर्शन करने जाने की क्या आवश्यकता? किन्तु हमें यह भी देखना है कि ३६ कोटि व्यक्तियों में बाकी लोगों का उद्धार कैसे हो जो मोह-माया की घोर अन्धकार में इधर-उधर भटक रहे हैं जिनकी इन्द्रियां वश में नहीं हैं जिनको आच्छादित माया के आवरण को हटाकर ऊपर उठना है। जनता के उत्थान के लिये ही महात्मा गांधी जी ने प्रार्थना सभा चलाया था जिसमें वे जनता के साथ रामधुनि करते थे और ईश्वर, अल्लाह का नाम जपते जपाते थे। उनमें तो धार्मिक भाव सभी आ चुके थे। ईश्वर में विश्वास करने अथवा अभ्यासार्थ रामनाम जपने की उन्हें कोई आवश्यकता नहीं थी; किन्तु उन्हें जनता का नैतिक स्तर ऊँचा करना था, उसका बौद्धिक विकास कराना था; इसी उद्देश्य से वे प्रतिदिन प्रार्थना सभा का आयोजन करते थे और अपना विचार जनता के समक्ष उपस्थित करते थे। आज दिन नेताओं की भरमार है, जिनमें कोई

व्यक्तित्व नहीं वे सब युद्ध के जोर से नेता बने बैठे हैं। देश में अनेक दल हैं जो एक दूसरे के छिद्रान्वेषण में संलग्न हैं जिसके कारण कोई निर्माण कार्य नहीं होने पाता। सब शासन की बागडोर अपने हाथ में लेना चाहते हैं। मेरे विचार से जब जनता का नैतिक स्तर गिरा हुआ है तो चाहे जो दल शासनारूढ़ हो वह कोई विशेष जादू नहीं डाल सकता। मैं तो उसी दल को देश का परम हितैषी समझूँगा जो पद-लोलुपता को छोड़ कर जनता के नैतिक स्तर को उठाने में संलग्न हो और सफल हो।

नैतिक उत्थान के लिये समाज के भीतर ईश्वर के प्रति आस्था का होना आवश्यक है। ईश्वर को हम चाहे जिस नाम से पुकारें, खुदा अल्लाह, गॉड, परमेश्वर, ईश्वर, नारायण सबका मतलब एक ही है क्योंकि हरएक समाज में धार्मिक भावना एक सी ही पाई जाती है चाहे स्वार्थ वश एक समाज दूसरे से भेद-भाव रखते हों। सभी समाजों का धार्मिक मूल सिद्धांत एक ही है। समाज ही नहीं बल्कि हर एक व्यक्ति के हृदय में एक समान धार्मिक विचार पाये जाते हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्तरतम हृदय से धर्म को चाहता है। पिता चाहता है कि उसका पुत्र आज्ञाकारी, सदाचारी, विद्वान, कर्त्तव्यनिष्ठ हो अर्थात् धार्मिक हो। कोई पुत्र यह नहीं सुनना चाहता कि वह एक डाकू, चोर अथवा व्यभिचारी का पुत्र है। पति धार्मिक पतिव्रता स्त्री पसन्द करता है और पत्नी धार्मिक पति चाहती है। दूकानदार धार्मिक ग्राहक चाहता है और ग्राहक भी सच्चा ईमानदार दूकानदार के हाथ सौदा लेना चाहता है। प्रजा धार्मिक राजा अथवा शासक चाहती है और शासक भी धार्मिक प्रजा चाहती है। इस प्रकार हरएक क्षेत्र में हरएक समाज में चाहे हिन्दू हो, मुसलमान हो, क्रिस्तान हो, जहाँ कहीं जिस किसी से जो सम्बन्ध है वह दूसरे को सच्चा न्यायप्रिय, मृदुभाषी, सदाचारी, त्यागी देखना चाहता है किन्तु कहता है कि धर्म कुछ नहीं है। भेद-भाव स्वार्थान्धतावश उत्पन्न होता है जिसके कारण न केवल एक समाज अपने को दूसरे से भिन्न समझता है बल्कि एक समाज के एक ही वर्ग के या एक ही परिवार के सदस्यों में अन्तर पड़ता है।

मुसलिम काल में दो समाजों के बीच झगड़ा स्वार्थवश ईश्वर और अल्लाह को लेकर रहा। उनके आक्रमण आर्थिक भावना लेकर होते थे, धार्मिक नारा केवल जोश भरने के लिये लगाया जाता था। हमारा नैतिक पतन उन आक्रमणों से उतना अधिक नहीं हुआ जितना अंग्रेजी शासन में हुआ। हमारी सामाजिक व्यवस्था पर मुसलमानों का कोई विशेष दीर्घकालिक प्रभाव न पड़ सका बल्कि लगातार संघर्ष होते रहने के कारण सामाजिक संगठन दृढ़ होता गया। उसी मुसलमानी युग में इतने अधिक सन्त, महात्मा, ज्ञानी और आचार्य हमारे देश में पैदा हुये। मीरा, सूर, कबीर, तुलसी, तुकाराम, रामदास आदि के पदों की रचना उसी समय उपलब्ध हो सकी, जिन्हें हम इस दयनीय दशा में आज भी स्मरण रखते हैं। दोनों समाज के बीच एक गहरी खाई-सी बनी थी। यदि

कोई दूसरे समाज में गया अथवा बलप्रयोग से घसीट लिया गया तो वह वापस न लौट सका।

अंग्रेजों ने तो मिलके मार मारी! यदि किसी व्यक्ति अथवा समाज को नष्ट-भ्रष्ट करना है तो उसके लिये सारी भोग-विलास की सामग्रियाँ उपस्थित कर दो, जिसमें उसे कुछ करना धरना न पड़े। जब उसे कोई काम नहीं करना पड़ेगा तो वह निकम्मा हो जायेगा। धर्म पर सीधे आघात मत पहुँचाओ नहीं तो वह भड़क जायेगा। ऐसी व्यवस्था करो जिससे वह अपने कर्तव्य एवं धर्म को भूल जाय, उसे सांस्कृतिक गुलामी में जकड़ दो फिर जो चाहो सो कर लो, अंग्रेज बड़े दूरदर्शी थे। "जो मधु दीन्हें ते मरे माहुर दीजे काहि।" उन्होंने इसी नीति को अपनाया। आज उनके जाने पर अमेरिका और रूस वाले भी एशिया के देशों पर वही नीति लगा रहे हैं। हमें आशा है कि हमारे नेता सतर्क होंगे।

दासता की जंजीर सुदृढ़ करने के लिये लार्ड मैकाले ने परोक्ष रूप से आघात पहले हमारी शिक्षा पर पहुँचाया। पाश्चात्य शिक्षा और रहन-सहन हमारे अन्दर एक मादक द्रव्य की भाँति भिनने लगी। हमारी संस्कृति में एक ढीलापन आने लगा। हमारे ही समाज में ऐसे व्यक्ति उत्पन्न होने लगे जो समाज को छिन्न-भिन्न करने लगे। हम धीरे-धीरे खोखले हो गये। हमारा जोश जाता रहा, हमारा आत्मबल क्षीण हो गया फिर हमारी नैतिकता कैसे टिक सकती है। जिस ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा और व्यवहार से हमारी आध्यात्मिक आर्थिक और सामाजिक उन्नति होनी चाहिये थी उसी से हमारी अवनति होने लगी।

आज हम अपने को 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी" न मानकर अपने शरीर को एक भौतिक यंत्र मात्र समझने लगे हैं जो एन्जिन की भाँति अन्न-जल ग्रहण करता हुआ कुछ काल तक चलता फिरता रहता है। अब हमें घट-घट व्यापी राम का डर नहीं रहा। अतः हमने अनैतिक कार्यों में उन्नति अवश्य कर ली। हमें चोरी करने में, झूठ बोलने में, विश्वासघात करने में, व्यभिचार करने में, हत्या करने में कोई हिचक नहीं रही। डर है तो पुलीस का। यदि मैं उनकी आँखों में धूल झोंककर पकड़ा न जा सकूँ तब तो बुद्धिमान हूँ, चतुर हूँ और माता-पिता भी पढ़ाई लिखाई को सफल समझते हैं। पर यदि पकड़ा गया तो मूर्ख हूँ। फिर पकड़नेवाले भी तो हमसे बढ़कर आस्थारहित हैं। उन्हें भी तो मनमानी करने में कोई रुकावट नहीं है। यदि चोरी डाका के माल में उन्हें भी हिस्सा दे दूँ तो मेरा क्या गया? घूस देकर ऊँचे पद के अधिकारियों को भी पूजा जा सकता है। सबकी अन्तरात्मा का पूर्ण हनन हो चुका है किसी को उचित अनुचित की परख नहीं। फिर अपराधों की वृद्धि में रुकावट हो तो कैसे हो। न्यायालयों में अपराधी तो निर्दोष साबित हो जाते हैं और निरपराध व्यक्तियों को सजा मिलती है। इसमें जज साहब का क्या दोष? उन्हें फाइल के अनुसार झूठी गवाहियों के

आधार पर फैसला देना पड़ता है। तुलसी-गंगा के नाम पर साफ झूठ बोलनेवाले चश्मदीद गवाहों की कमी नहीं। उन्हें सालिगराम की बटिया निगल जाने में कोई झिझक नहीं। फिर न्याय कैसे हो? पहले जब पंचायत में पंचगण ईश्वर नाम लेकर पंचपरमेश्वर के रूप में बैठते थे तो मामला अपना हो या गैर का बेईमानी के नाम पर उनके रोंगटे खड़े हो जाते थे और वे दूध का दूध और पानी का पानी कर सच्चा फैसला देते थे; किन्तु आज सरकार चाहे जो डींग मारे आधुनिक ग्रामपंचायतें कहाँ पर सफल हैं? पंच सरपंच गाँवों के वातावरण को और भी दूषित कर रहे हैं।

आजकल जनसंख्या की वृद्धि से हमीं नहीं सारा भूमण्डल घबड़ाया हुआ है। गर्भनिरोध के लिए नई नई औषधियाँ खोजी जा रही हैं। संसदों में 'स्टरलाइजेशन' के प्रस्ताव धूम धड़ाके के साथ लाये जा रहे हैं। राजा ययाति की भाँति कामवासना की वृद्धि हो रही है और उसी की दृष्टि से उपाय सोचे जा रहे हैं। आज कौन सन्तान के लिए व्रत करता है? कौन अच्छी और मनोवांछित सन्तति के लिए तपस्या करता है? आज तो हम मनोनिग्रह, स्वार्थत्याग और संयम की आवश्यकता ही नहीं समझते। सन्तति पैदा करना तो ईश्वरीय आज्ञा है किन्तु सन्तान अच्छी हो। बुरी सन्तान से तो निःसन्तान रहना ही अच्छा है।

आज जन संख्या की वृद्धि इसलिए खटकती है कि आज कुपात्र संतानों की बाढ़ है और सत्पात्र संतान दुर्लभ हैं। कश्यप-अदिति के महान तप से ही दूसरे जन्म में दशरथ कौशल्या के तन से रामचन्द्र उत्पन्न हुये। वसुदेव-देवकी की घोर तपस्या के फलस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र प्रगट हुए। आधुनिक काल के नेताओं की जीवनियाँ पढ़िये तो विदित होगा कि प्रायः सभी के माता पिता आस्तिक, धार्मिक और दृढ़ संयमी रहे। अतः इस विपन्न परिस्थिति को बदलने के लिए एक उपाय यही है कि हम सच्चे आस्तिक हों; हमारे जीवन में त्याग तपस्या सेवा, संयम, सत्य, आदि धार्मिक प्रवृत्तिओं की स्थापना हो और हम ईश्वर में आस्था और विश्वास रक्खें जब हम स्वयं इन व्रतों के सेवी होंगे तभी हमारी संतानें अच्छी उत्पन्न होंगी और तभी जन गन मन अधिनायक "" ··· ""के ३६ कोटि जनसंख्या को शक्ति का मूल्य होगा नहीं तो एक्सीडेण्टल संतानों से हम अवश्य भारत जननी का भार बढ़ा रहे हैं। जिसके फलस्वरूप हमारी सन्तति भी एक्सीडेंटल है और हमारी स्वतंत्रता भी नाम मात्र की साबित हो रही है।

हमारी इन अपराधी प्रवृत्तिओं को प्रखर करने में प्रचारित चलचित्र अग्नि में घृत की आहुति का काम कर रहे हैं। चित्रपट पर हमें और हमारे बच्चों को चोरी करने की, झूठ बोलने की, डाका डालने की शराब पीने की और हत्या और व्यभिचार करने की कलायें सिखलाई जाती हैं। प्रत्येक चित्र में चाहे उसकी विज्ञप्ति धार्मिक चित्र के ही नाम से क्यों न की गई हो वासना प्रदीप्त करने वाले दृश्य दिखलाये जाते हैं। जिससे भक्तिभाव जागरूक न होकर हमारे विचार और भी भ्रष्ट

होते हैं। पुराने समय में यहाँ लोग दिन भर के काम काज से निवृत्त होकर भजन कीर्तन में भाग लेते थे, भगवान का नाम लेते थे जिससे उनके विचार अच्छे थे। आज छोटे से लेकर बड़े, श्रमिकों से लेकर सेठ साहूकार, स्कूल के बच्चों से लेकर कालेज के उच्च श्रेणी के विद्यार्थी चलचित्रों की मोहनी आभा से मुग्ध होकर मनोरंजन के लिए सिनेमा घरों की खोज में इस प्रकार विह्वल और चंचल दिखलाई पड़ते हैं जैसे बरसात के रंग बिरंगे पतिंगे शलभ होने के लिये अनेकानेक दीप शिखाओं पर टूटते हैं। समाज के भीतर यही एक क्षेत्र है जहाँ मालुम पड़ता है कि देश में दरिद्रता नहीं है। आँकड़ों से पता लगता है कि भूमंडल पर समृद्धिशाली अमेरिका के बाद हमारा ही दुर्भिक्ष देश है जहाँ सिनेमा घरों की संख्या अधिक है। शहरों और कस्बों को कौन कहे अब तो इनका प्रसार गाँव-गाँव में हो रहा है और उसी अनुपात से देखने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है। हर एक सिनेमा घर में तीन-तीन प्रदर्शन की व्यवस्था कर दी गई है तब भी टिकट घर के सामने का दृश्य दयनीय देखा जाता है। सभी श्रेणी के व्यक्ति घंटों पंक्तिबद्ध खड़े रहते हैं। जिनके पास अधिक पैसा है वे चोरबाजारी से टिकट खरीद कर दिग्विजय का आनन्द प्राप्त करते हैं। यों तो सभी को समयाभाव है, धनाभाव है किन्तु सिनेमा के लिये सबके पास दोनों आवश्यकता से अधिक है।

आज सिनेमा सम्बन्धी साहित्य, सिनेमा के नटनटियोंकेचित्र और सिनेमा विज्ञापनों की भरमार है। अच्छे अच्छे पत्र और पत्रिकाओं में इनके लिये विशेष स्थान सुरक्षित रहता है। नटनटियों के चित्रों का उपयोग राम, कृष्ण शंकर के स्थान पर गांधी, जवाहर की बराबरी में व्यापारिक विज्ञापनों में और वस्तुओं के लेबिलों पर किया जाता है। हमारे विद्यार्थी साधारण वार्तालाप में इन नटनटियों के हाव-भाव, रूप-रेखा, तथा मुद्रा की आलोचना करते नहीं थकते। सूर, तुलसी, मीरा के पदों की जगह सिनेमा के गाने गुनगुनाते रहते हैं। उनके पहनावों को अपनाते हैं। उनके मेजों पर, कमरे में, उनकी जेब में इन्हीं के चित्र पाये जाते हैं। फिर निरन्तर वासना का चिन्तन मानसिक व्यभिचार में क्यों न परिणत हो। चरित्र और स्वास्थ्य नष्ट क्यों न हों और फिर सामाजिक पतन क्यों न हो ?

सिनेमा के दोष हम सभी पर विदित हैं किन्तु सभी विवेकहीन होकर अपने बच्चों को अपने साथ बड़े शौक से ले जाते हैं। फिर जब हमें स्वयं सिनेमा देखने का चस्का है तो हम बच्चों को कैसे रोक सकते हैं ? हम जो आज के नागरिक हैं वही निकट भूतकाल में बच्चे थे और आज जो बच्चे हैं वही कल देश के नागरिक होंगे। वही स्वतन्त्र राष्ट्र की थाती हैं। यदि बच्चों को सुधार कर देश का भविष्य उज्वल करना है तो पहले हमें अपने को सुधारना होगा परिस्थितिवश गुलामी के समय धर्महीन शिक्षा के प्रभाव से हमने सब कुछ खो दिया है किन्तु अब तो हम किसी दूसरे पर यह उत्तरदायित्व नहीं थोप सकते। सबसे पहले हमें मार्जार की नीति छोड़कर गोमाता की नीति अपनानी होगी। हम आजकल अपनेही

बच्चों के प्रेमी और हितैषी तभी तक हैं जब तक हमें कोई शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट सामने नहीं दिखाई पड़ता। यदि कोई भी ऐसी परिस्थिति आई तो जैसे डूबती हुई बिल्ली अपने बच्चे के ऊपर खड़ी होकर अपने प्राण की रक्षा करती है उसी तरह पहले हम अपना स्वार्थ देखते हैं उनका नहीं। हमें गोमाता की भांति अपने बच्चों के उत्थान के लिए सब कुछ न्योछावर करने के लिए कटिबद्ध होना चाहिए। जब हम स्वयं धार्मिक, सन्तोषी, आस्तिक और परोपकारी होंगे तभी हमारे बच्चे भी सच्चे नागरिक होंगे।

माता-पिता के बाद उन बच्चों पर अध्यापक का प्रभाव पड़ता है। हमें प्रस्तुत धर्महीन शिक्षा को बदलना है और इसे समाज के लिए उपयोगी बनाना है। हमारी शिक्षा सम्बन्धी संस्थायें एक निराली दुनियाँ सी बन गई हैं। समाज से सम्बन्ध न तो विद्यार्थी रखता है और न तो अध्यापक। घर से जो बालक पढ़ने गया वह अपने बाप-दादा के काम-धन्धों से और उनके रहन सहन से अलग हो जाता है और उसमें उपरोक्त सारी बुराइयाँ आ जाती हैं, न तो वह घर का रहता है और न घाट का। पढ़ाई का व्यय इतना अधिक बढ़ गया है कि कोई गरीब आदमी जिसके लिए कोई ठिकाना नहीं अपने बच्चों को उच्च शिक्षा के लिए कभी नहीं भेज सकता।

हमारी शिक्षा संस्थाओं का लक्ष्य यही होना चाहिए कि उनके स्नातक सच्चे धार्मिक और समाजसेवी निकलें और उनमें गरीब और अमीर के बच्चे सुदामा-कृष्ण की भांति एक भाव से पढ़ाये जाँय। वे स्वावलम्बी बनकर निकलें और धनोपार्जन करें। फिर धन का उचित व्ययकर माता पिता तथा गुरुजनों की सेवा करें और रोगी तथा पीड़ितों को सहायता पहुँचावे। वे समाज पोषक हों, शोषक न बनें। जब तक शिक्षा गरीब और अमीर दोनों के लिये समान रूप से उपलब्ध नहीं होगी समाज में समानता नहीं आ सकती और यह तब तक सम्भव नहीं होगा जब तक कि शिशुकक्षा से लेकर एम० ए० तक की शिक्षा निःशुल्क नहीं कर दी जाती और हमारे आडम्बर दूर नहीं किए जाते और साथ ही रहन-सहन में सादगी नहीं लाई जाती।

आज की विद्या अर्थकरी है, पढ़ाई जीविका के लिये की जाती है। डिग्रियां केवल नौकरी पाने की अभिलाषा से प्राप्त की जाती हैं। आज का अध्यापक अपने को शिक्षा संस्था में नौकर समझता है, संस्था को अपनी नहीं समझता! वह एक निश्चित पाठ्यक्रम के अनुसार कुछ नियमित घण्टों तक अपनी जिम्मेदारी से छुट्टी पा लेने का प्रयत्न करता है। शेष समय में वह अपनी ही उलझनों में पड़ा रहता है। वह समाज की विषमता से पीड़ित रहता है और अपने मानसिक दौर्बल्य के के कारण वह अपने को विलासमयी सभ्यता से अलग नहीं रख सकता। फिर उसे अध्ययन करने का समय कहाँ से मिले। कक्षा में गया तो इधर-उधर की बातें कर डाली! आज तो "आंधर गुरू और बहिर चेला" की कहावत चरितार्थ हो रही है।

अतः शिक्षा का स्तर कैसे ऊँचा हो सकता है ? अपना रोब बनाये रखने के लिये वह विद्यार्थियों के सम्पर्क में नहीं आना चाहता क्योंकि डर है कि कहीं उसकी पोल न खुल जाय !

पुराने काल में शिष्य अपने गुरू के नाम से प्रख्यात होते थे गुरूओं की परम्परा होती थी। गुरू के मन में अपने सच्चे शिष्य के विषय में यही भावना रहती थी कि हमारे विद्यार्थी चरित्रवान हों और विद्वत्ता में अन्य अध्यापकों के विद्यार्थियों से कम न हों। वे विद्यार्थियों के निकट सम्पर्क में रहते थे और उनकी उन्नति और उत्कर्ष में ही अपना गौरव समझते थे। इसी कारण समाज में भी उनको मान्यता थी। विद्यार्थियों पर अध्यापकों के आचरण और चरित्र का गहरी छाप पड़ती है। यदि हम चाहते हैं कि विद्यार्थी हमारे अनुशासन में रहें तो पहले हमी को अनुशासित और संयमी होना पड़ेगा। हमें शिक्षा-केन्द्रों में व्याप्त चाणक्यनीति की दूषित वायुमंडल को हटाकर सच्चे और पवित्र मन से सरस्वती देवी की आराधना करनी होगी। जब हम स्वयं संयम से विद्या के अध्यवसायी होंगे तभी हमारे विद्यार्थी भी विद्या के सच्चे प्रेमी निकलेंगे। हमें अपने रहन-सहन और व्यवहार से उनके मन में दृढ़ विश्वास पैदा करना होगा कि हमें उनके कल्याण और हित का पूरा ध्यान है। हमें अपने भीतर उन आदर्शों को जागृत रखना होगा जो हम अपने विद्यार्थियों में उनके चरित्र-निर्माण और सच्चे नागरिक बनाने के लिये आवश्यक समझते हैं। हमें विश्वास है कि इस रीति से बुद्धियुक्त और धर्मपूर्ण आदर्शों को अपने बालकों में दीक्षित कर एक सुन्दरतर युग-निर्माण करने में सफल होंगे।

मेरे विचार से पंडित इकबाल नारायण गुर्टू जी का जीवन इसी समस्या की पूर्ति के प्रयास में सफल कहा जा सकता है। वे सच्चे धार्मिक और उदारवादी हैं। उनका धवल चरित्र हम सबके लिये एक उच्च आदर्श का प्रतीक है। हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि पंडित जी शतायु हों और अपने सत्कृत्यों और सद्विचारों से हमारे तथा भावी राष्ट्रसन्तति के लिए एक जागृत आदर्श बने रहें।

आज कल विज्ञान के एक विद्यार्थी के मुख से धर्म और ईश्वर की चर्चा लोगों को खटकती है। वे सोचते हैं कि परख-नलियों में प्रत्यक्ष निरीक्षण करने वाला भला ईश्वर में कैसे विश्वास कर सकता है ? मैं तो इसे एक असंगत धारणा समझता हूँ और यदि कोई वैज्ञानिक ऐसी भावना रखता है तो वह अहंकारी है। वास्तव में वैज्ञानिक अनुसंधानों में हमें सत्य की खोज करनी होती है और विज्ञान की प्रगति सत्य ही पर आधारित है। एक सच्चा वैज्ञानिक ही अपनी सीमा जानता है जिसे प्राकृतिक लीला की एक झाँकी मिल सकी है वही प्रकृति की अपार शक्ति के सन्मुख अहंकार कदापि नहीं कर सकता और वही सत्य के मार्ग पर अग्रसर होता हुआ सच्चा आस्तिक होता है।

डा० नन्दलाल सिंह डी० एस-सी०

Gurtuji as President of the
National Geographical Society of India.
(1952)

Prime Minister's Appreciation.

Prime Minister is glad that Shri Iqbal Narain Gurtu's old students are planning to bring out a commemoration volume to show their affection, regard and appreciation of his work. As one who had the privilege of being associated with Shri Iqbal Narain Gurtu in various capacities in the course of the last forty years, Prime Minister would like to join in this appreciation and to send his good wishes to Shri Iqbal Narain Gurtu on this occasion.

Extract from the Letter of Prime Minister's Secretary.

FELICITATIONS

The Vice-President of Indian Republic.

NEW DELHI.

31st July, 53.

Dear Professor Ramápati Shukla,

I arrived here yesterday and saw your letter about Pt. Iqbal Narain Gurtu Commemoration Volume. It is not possible for me to write an article as the last date is over. But I may express to you my very deep appreciation of the great qualities of integrity, independence and selfless service to the cause of education which Pt. Gurtu has rendered for many many years. I am proud to call him my friend.

Yours sincerely,

(S. Radhakrishnan).

SIR MAHARAJ SINGH,
EX-GOVERNOR, BOMBAY.

The Manor
Simla, (W.)
Punjab.

29–7–53

"Pt. Iqbal Narain Gurtu is an old and valued friend. I have always appreciated his great contribution to higher Education and his personal integrity. His Vice-Chancellorship of the Allahabad University and Pro-Vice-Chancellorship of the Banaras Hindu University are still gratefully remembered by his colleagues and his students. In spite of his advanced years he has retained his physical and mental vigour, and I trust that he will be spared to his country for many years.

(Sd.) Maharaj Singh.

SHRI K. M. MUNSHI,
GOVERNOR,
UTTAR PRADESH.

GOVERNOR'S CAMP,
UTTAR PRADESH.
August 14, 1953.

My friend, Pandit Iqbal Narain Gurtu, is one of those who lived and worked for higher ideals. I hope his example will serve to inspire us all.

(Sd.) K. M. Munshi.

A Tribute

[Shri N. Sri Ram, President, Theosophical Society]

I have the greatest pleasure in adding my tribute to the volume which is to commemorate Pandit Iqbal Narain Gurtu's life and services to the cause of Indian Education. I have had the honour of knowing Panditji since 1913, that is for nearly 40 years. Even then he shone as a little star on the then clear pure Banaras horizon. Little as it then seemed, it has since ascended to a degree of lustre which has carried its beams to much wider horizons.

What we need in India more than anything else is right education—an observation which has long been true, but truer now than ever before. The type of education with which Panditji was identified in the Central Hindu College in the early days represented a blend of what is best in the Indian religion and in the sentiments of a renaissant India. At every step in his educational work he has brought to it the influence of the same forces but in richer and increasingly purer measure, and if one seeks an example of a person who shows in himself how broad and noble, cultured and cosmopolitan the products of these forces can be, that example is to be found in Gurtu-ji himself.

"The Mother"
(Dr. Annie Besant)

dian Section of Theosophical Society gave Iqbal-ji a room ove the buildings in which Tara Printing Works were and ll are located, though Iqbal-ji was not formally a member of S. There were very few buildings, then in Indian Section ounds too; but there was a good large garden and fresh air, th C.H.C. across road. Sometime later, a house was secured r him, on rent, to east of C.H.C., also with only a road between. It belonged to an old school-fellow of mine, had a small arden attached to it, and was sufficient for him and his family f wife and very small daughters.

Conversions of sprit, aspirations for service of God enshrind in human form, usually come into a sensitive spiritual mind uddenly; and the person to whom such afflatus comes, does not pause to think out pros and cons, but rushes straight in. Ancient Sutras of Narada and Shandilya say that the Bhakta-devotee, for service of his Beloved Deity, Vishnu, 'All-pervader,' swims across oceans (like Hanuman) and bores through mountains (like Farhad in the Persian story of Shirin and Farhad). A Persian verse (perhaps of Hafiz), repeated to me by Iqbal-ji once, comes into my mind,

Man na mí goyam,
Ke ãqil bũsh ya farzũna bũsh;
Har che bãshi bũsh, lekin
Andakè díwãna bũsh.

'I do not say be thougtful or be wise,
Be whatso'er you like, but be also
A little mad in search of what you like.'

Iqbal-ji illustrated this in his own person. He had sufficient ancestral property; so he abandoned his practice and came over to Banaras.

He had attended in A Banaras some lectures of Theosophists gradually of New India'. drove him to him,

What I have seen of Dr. Iqbal Narain Gurtu

[Dr. Bhagavan Das, M. A., D. Litt., Banaras]

While pictures of more important events that I have shared in during last seventy five years (I am now completing my eighty-fifth) stand out clearly in my mind when I try to think of them, yet memory of their years and their chronological order is often dim and confused. It is a psychological fact which any one older than 60 (barring exceptions) can verify for himself, that when memory fades, as it must, of less important events which link together more important ones, chain of chronological order breaks and times of latter become confused. Simple reason is that whole of past is present in memory at once, like whole history of a people in a book. Subject to correction, therefore, I will set down here what I have seen and known of my dear friend Iqbal Narain-ji, who is just about ten years younger than I am.

I think I saw him first in 1892 or 1893. I was in Government service in those years, as Tahsildar, in Allahabad. His father, Rai Indar Narain Gurtu, was Sub-Judge there. I heard praise of him, and called on him in one of those two years, though it was not very usual in those days for executive officers to mix much with Judicial. I distinctly remember his appearance – a small thin man with very blue eyes and long and bushy RED beard.

Iqbal-ji, then a small boy, and I were introduced to each other there. I think that Rai Indar Narain returned my call and Iqbal-ji came with him. I learnt afterwards that Rai Indar Narain's thinness was due to his constant ill-health. Ultimately that fell disease, consumption, carried him off in his fifty-fourth year, before he could formally retire after completing fifty-five and a full term of service.

I was sent away early in 1894 to Agra as Deputy Collector. Iqbal-ji and I lost sight of each other for some years after that. He became M. A., LL.B., qualified for bar, and began practice in Kanpur. I was transferred about from district to district, till I was again posted in Allahabad in 1897. My father had passed away some three months before. I had joined Government service only at his wish. My heart was in study of Philosophy and Psychology and solving the Why and Wherefore and Meaning of Life and Death, Joy and Sorrow, Good and Evil, with the help of ancient Indian and modern Western thinkers. So I resigned in March, 1898, and took up the work of Central Hindu College, Banaras.

One evening, in rains, I think, of 1905, I was lying in bed, ill with malarial fever, in my house, standing at one end of a small garden, then very recently purchased, in order to be near C.H.C. and now occupied by the belongings of my elder son Sri Prakasa-ji. Iqbal-ji turned up suddenly without any previous intimation and was brought to me. He said he had come to work in C.H.C. and asked me to tell him where he could put up. What little accommodation my place had, then, was more than fully occupied by my family—wife and sons and daughters, very young then. I referred Iqbal-ji to Pandit Chhedalal-ji—honorary Superintendent of the hostel attached to C. H. C. and part of its buildings. He was equally loved and feared by the boarders, for he was a strict disciplinarian, as well as very kind and helpful to them in all their needs. I learnt afterwards that Chhedalal-ji too could not give him any room, hostel being chokeful, and so Iqbal-ji wandered about the town in a hackney carriage, and ultimately had to put up in a small Dharmashala in the heart of the town. Banaras, premier place of pilgrimage for Hindu India with history going back to Vedic and Puranic times, has always been very dirty; so this must have been a great trial to Iqbal-ji. I was very sorry to learn all this when I got a little better. Meanwhile, at Chhedalal-ji's request, the then Assistant Secretary of

Indian Section of Theosophical Society gave Iqbal-ji a room above the buildings in which Tara Printing Works were and still are located, though Iqbal-ji was not formally a membes of T. S. There were very few buildings, then in Indian Section grounds too ; but there was a good large garden and fresh air, with C.H.C. across road. Sometime later, a house was secured for him, on rent, to east of C.H.C., also with only a road between. It belonged to an old school-fellow of mine, had a small garden attached to it, and was sufficient for him and his family of wife and very small daughters.

Conversions of sprit, aspirations for service of God enshrined in human form, usually come into a sensitive spiritual mind suddenly ; and the person to whom such afflatus comes, does not pause to think out pros and cons, but rushes straight in. Ancient Sutras of Narada and Shandilya say that the Bhakta-devotee, for service of his Beloved Deity, Vishnu, 'All-pervader,' swims across oceans (like Hanuman) and bores through mountains (like Farhad in the Persian story of Shirin and Farhad). A Persian verse (perhaps of Hafiz), repeated to me by Iqbal-ji once, comes into my mind,

Man na mí goyam,
Ke ãqil bãsh ya farzãna bãsh ;
Har che bãshi bãsh, lekin
Andakè díwãna bãsh.

'I do not say be thougtful or be wise ,
Be whatso'er you like, but be also
A little mad in search of what you like.'

Iqbal-ji illustrated this in his own person. He had sufficient ancestral property ; so he abandoned his practice and came over to Banaras.

He had attended in Allahabad and Banaras some lectures of 'Mother' Annie Besant, as all Indian Theosophists gradually learnt to call her—for she was truly 'Mother of New India'. These lighted the spiritual fire in him which drove him to Banaras. His friends and relatives remonstrated with him,

scolded him, quarrelled with him, particularly his college-fellow and life-long friend, brilliant conversationist and raconteur, popular everywhere, late Munshi Ishwar Saran, for deserting them. All this I learnt, later on, from M. Ishwar Saran himself. But Iqbal-ji was not shaken from his resolve.

In Banaras he came more and more under the spell of A. B. and became a zealous worker for C. H. C. and Theosophy. He worked for some years as Joint Secretary of the Managing Committee with me. In 1907, G. S. Arundale, Honorary Head Master of C. H. C. School, went on six months' leave, with his aunt and adoptive mother, Miss Francesca Arundale, M. A., also an honorary teacher of the small boys' classes and also of girls in C. H. C. Girls' School (opened in 1903). Then Iqbal-ji was appointed officiating Head Master. Later, when Arundale was made Principal, on Dr. Arthur Richardson being laid up with a stroke of paralysis, Iqbal-ji was again appointed Headmaster and remained such from 1908 to 1913.

Quite new to the difficult and responsible work of a large and growing school (it had about 600 students, now perhaps 1200 or more) of all sizes, from 7 or 8 years to 17 or 18 in age, he yet discharged its duties exceedingly well. He was a strict disciplinarian, but was respected by teachers and loved as well as feared by students. Of all the many Head Masters that C. H. C. School has had, I believe he was the most successful in every respect. If he was lacking in anything, it was love of sports. I think he never did any physical exercise, never developed muscles himself, though he has managed to preserve health fairly well by careful and regular habits. His lack was made up by appointment of a very efficient superintendent of sports, late Kali Das Manik. Also Arundale was strong on 'cadet corps' and used to drill 200 students at a time all in white uniform.

P. K. Telang, M. A., LL. B., Hon. Prof. of History, was a fine cricketer, E. A. Wodehouse, M. A. (Oxon), who gave up

a highly paid post in a Govt. College in Poona on the call of Theosophy, and came to work on a mere subsistence allowance, as did Misses Palmer, Herrington, Wilson and others—also joined in cricket now and then. Under their influence, and with their example and encouragment, C. H. C. produced some very fine teams of cricketers, footballers, hockey players,. who successfully held their own in many matches against teams from other local colleges and also the local police, and occasionally, teams from Aligarh M. A. O. College.

Telang, Arundale, Wodehouse, were all of the same age as Iqbal-ji—a fine company—but they have all deserted Iqbal-ji and gone on to other worlds.

He remained Head Master till 1913; then resigned, to become General Secretary of Indian Section of Theosophical Society, which has its Head Quarters in Banaras. I had held that office in 1912. He retained that office for some years. When he became General Secretary of the I. S. T. S. he shifted to A. B.'s Banaras Home 'Shanti-kunja'.

A pleasant and amusing incident comes into my mind. The year was 1912 or perhaps 1913. I can mention these years with some certainty even though my memories of chronology are hazy and cloudy. Malaviya-ji, though repeatedly requested, had refused to come on the Central Hindu College Board of Trustees until a Hindu University Society had been formed, of which he was of course a leading member. His senior by three years or more,. Sir Sundarlal, leader of the Allahabad High Court Bar had accepted a seat on it several years earlier. After that, Malaviyaji began to take an active interest in C. H. C. affairs and the Board's meetings. Princess Sigfrid of Sweden had been touring India as British Indian Government's guest and visited Banaras, and C. H. C., in due course. She was shown over C. H. C. by Malaviya-ji, and me. Then she went around on car, with her own staff and the British officers in attendance, to the C. H. C. Girls' School—about 3 furlongs

away by road. Malaviya-ji, Iqbal-ji and I cut across, through Theosophical Society Indian Section grounds, reducing the distance to one furlong. It would have been *infra dig* to actually run, but our walking was surprisingly fast. We arranged to arrive at the gate of C. H. C Girls' School a few seconds before Princess Sigfrid arrived there with her train. Headed by Miss Arundale (or was it Miss Lilian Edgar, M.A. ?) as Honorary Head Mistress, we received her, and led her into the Hall where all the girl students with their teachers were gathered. One of the Princess' staff asked me in a whisper, "Who is this blue-eyed Englishman in Indian dress ?" I smiled and said "He is a Kashmiri Pandit" and introduced Iqbal-ji to him. Iqbal-ji has inherited his father's blue eyes, but not his red hair, nor does he foster a beard.

Besides his educational and Theosophical work, Iqbal-ji was also interested in Politics. I believe even before he had come to work in Central Hindu College he was already a member of the political Liberal party under the influence of his old Allahabad colleagues. In 1914 he became an active worker in the political field with A. B., and joined her Home Rule League and worked hard for it, touring and lecturing. I must not here omit to mention one incident. As soon as news reached Banaras of the Amritsar massacre of 1919, citizens in hundreds marched bare-foot to Town Hall, to condemn that atrocious crime. Iqbal-ji and I went with them and spoke also.

After the introduction of the Montagu-Chelmsford Reforms Iqbal-ji was elected a member of the newly constituted U. P Legislative Council in 1921, and again, a second time, in 1924 Here he worked nearly the full two terms of three years each. I understand that before the completion of the second term he resigned his membership of the Council as he disapproved of the policy of severe repression adopted by the Government to suppress the Non-co-operation movement. During these years we could not meet each other as often as before, bacause most

of the time his Council and political work kept him busy at Lucknow and other places, although he kept Banaras as his permanent home, where his family used to live in Shantikunja.

He was offered the Presidentship of the Provincial Conference of the Liberal League held at Agra. I remember this because he told me jocularly one evening when I went to Shantikunja, that the Presidential address he had been composing had shortened his life by two years.

After his resignation from the Council and on his return to Banaras, it was, I believe, in Decembr 1931 that he was elected Chairman of the Municipal Board Banaras. He had hardly held that office for a year when he was elected Vice-Chancellor of the Allahabad University after the retirement of Sir Ganganath Jha. He remained there as Vice-Chancellor for two terms i. e. for six years. The Golden Jubilee of the Allahabad University was held in his time in 1937. As Vice-Chancellor of the University he asked my consent to receive an Honorary Doctorate in Literature. I of course gladly accepted and went to Allahabad and attended the Convocation. It was held in November I think. I saw a number of other recipients of the Doctorate besides me, among them the venerable Sir P. C. Roy, embodiment of self-denial, Sir C. Y. Chintamani, unrivalled Editor and Journalist and brilliant speaker, Sir Mohammad Sulaiman, Chief Justice of Allahabad High Court, Sir Kailas Nath Haksar—a well-known administrator and statesman, and several others. Sir Ganganath Jha was also there as one of the recipients of the Doctorate, though he had already won a doctorate from the University by a learned thesis on Prabhakara School of Purva Mimansa. All of these have 'gone on before'. The Allahabad University had on this occasion invited representatives of many universities of other countries. I specially remember a professor of Al-Qahera (Cairo) University of Egypt, who said his university was the very oldest on earth, having been established over nine hundred years ago. The Chancellor was Sir Harry Haig, who had been District

Magistrate of Banaras in 1919, since when we knew each other. Iqbal-ji introduced each 'recipient' to him with a brief para which he read out from a manuscript sheet. In that para he compressed most effectively and falicitously the qualifications of each 'recipient' which entitled him to the honour. These beautiful 'thumb-nail' sketches were published next day in the 'Leader'. I kept a cutting for some months.

It was, I think, about 1927 or 1928, that A.B. had purchased a site at Rajghat, adjoining Kashi Railway station, and started a Montessori School which has now become very large. Two other institutions, a Women's College and a Boys' School, were established by her in 1913. The Boys' School was later shifted to Rajghat and has now developed into an Intermediate College recognised by the Banaras Hindu University. The Women' sCollege, now grown into a Degree College, is also affiliated to B. H. U., but is still working at Kamacha. Whenever Iqbal-ji used to come to Banaras he used to devote most of his time to the affairs of these three institutions. All that he could save out ot his fairly large salary as Vice-Chancellor, after meeting expenses imposed by the need to maintain the dignity of his official position—all this saving he gave away to A. B.'s School and College. I learnt from others afterwards that it amounted to about a lakh of rupees.

After expiration of his two terms of Vice-Chancellorship, Iqbal-ji continued to live for some time in Allahabad, but used to come to Banaras whenever the work of the institutions at Rajghat and Kamacha required his presence. But early in 1940, at the earnest and insistent request of Malaviyaji and Dr. Radhakrishnan, he took up the Pro-Vice-Chancellorship of the Banaras Hindu University and began to live there. I remember he asked me whether he should, and I advised him to do so in the interests of the B. H. U, Malaviya-ji, seeing he could not spare time from his numerous political and other activities, had induced Radhakrishnan to become Vice-Chancellor. But he
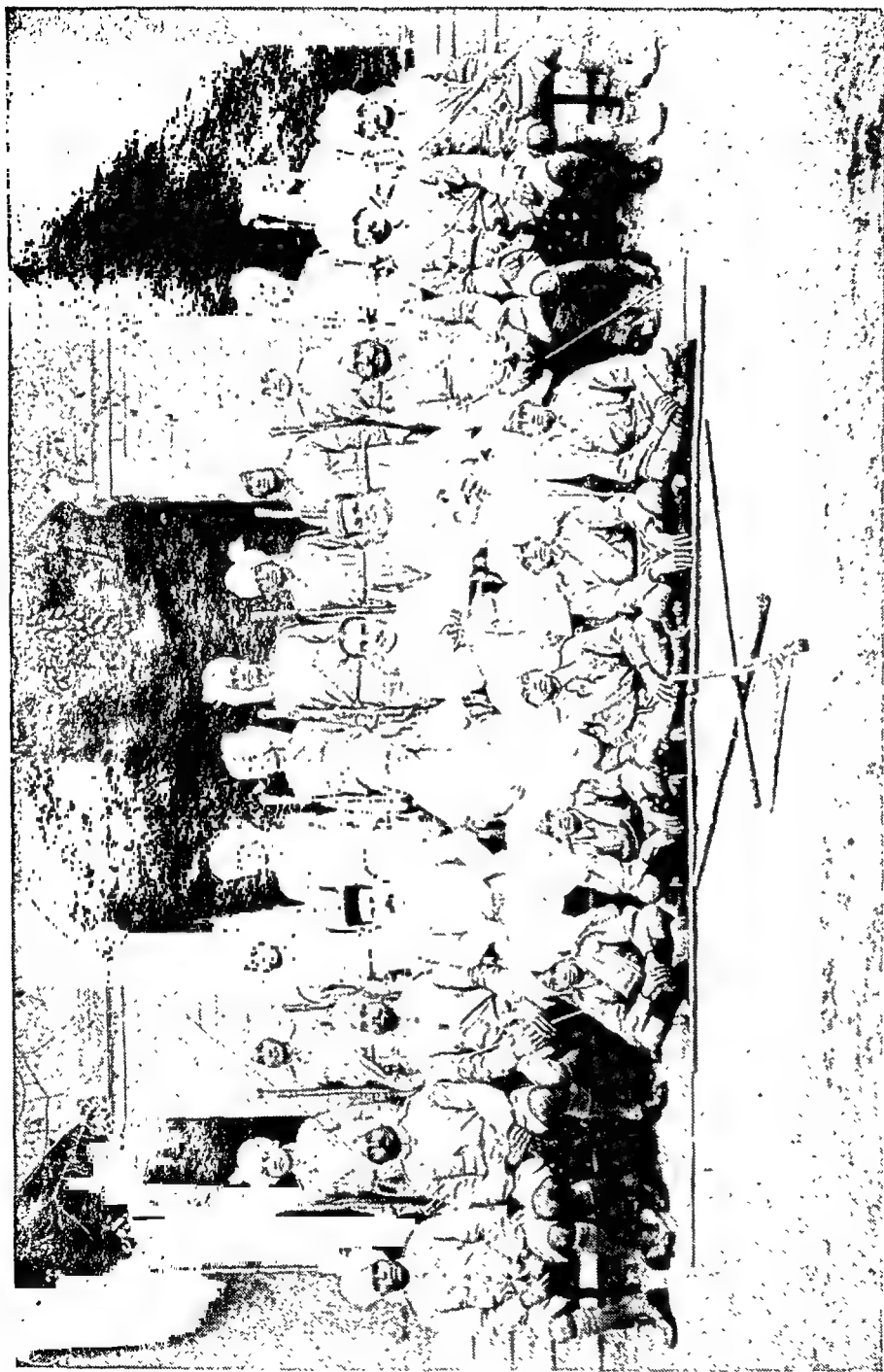
Among the Scouts of Theosophical National School.
(1916-17)

also was often away from Banaras, giving lectures on his favourite subjects, and also collecting funds for the ever-in-debt B. H. U. So the brunt of office-work fell on Iqbal-ji. He did the work for three or four years, practically as Honorary, letting University pay his ex-officio expenses.

Almost year after year he pays his tribute to A. B. on her birthday—Ist of October—and some of his contributions have also been published in some dailies. The latest was on 14th November, 1952, during the celebration of the Golden Jubilee of the Central Hindu College, and it was perhaps the finest of all he has offered so far.

He is one of Nature's noblemen, and India sorely needs hundreds like him in every one of her 29 big and small states, to lift her out of the awful demoralisation and degeneration of character that has come upon her. May he complete the Vedic term of 100 years of well-lived life.

GURTU-JI

A cacophonous world, ruled and dominated by a universal lack of good manners, where old-time grace and courtesy is scoffed at as being unmanly and therefore useless..., in such chaotic bedlam it was my privilege, sometimes, *alas too rare, to* be with Gurtu-ji, there to take umbrage in the serene peace which he radiates, unobtrusive, just naturally being himself, the true nineteenth century gentleman; a type now practically *extinct, yet* so urgently needed this day ; thus he poured forth his blessing through his example–unforgettable !

Henry van de Poll

From—

Dr. S. C. De, M. A., D. Litt.,
Banaras Hindu University, Banaras 5.
Dated 22nd July, 1953.

To

Old Boys' Brotherhood.
Besant College, Rajghat.
Banaras. 3.

Dear Sirs,

I received your letter and the reminder. Perhaps you are not aware that though I am still alive, I have been living the life of a helpless invalid. I cannot read nor write even with the help of spectacles. This is the sole reason of my inability to send you an earlier reply. Gurtu-ji is a very old and intimate friend of mine who keeps me under deep obligations in many ways, and nothing could have given me greater pleasure than contributing something to the Commemoration Volume which you have decided to present him on his 76th birthday, but due to my present weakness, physical and mental, I find with deep regret that it is not possible for me to do so. That is why at this eleventh hour I am obilged to do no more than sending these few lines expressing my deep sorrow for my inability to make any substantial response to your request. I hope you will kindly excuse me for this.

I am very happy to recall the good fortune I had in working with Gurtu-ji sitting almost side by side during those troublesome years when as Pro—Vice-Chancellor he took up, at the request of Mahamana Pandit Madan Mohan Malaviyaji and Dr. S. Radha Krishnan, on his shoulder the heavy task of the whole administrative work and responsibility of the Banaras Hindu University. Every one who is connected with this University in any way knows how just, hard-working, conscientious and dutiful an officer he was and what pains he took in keeping all the office files complete and up-to-date even at the risk of his health by sitting for hours together. He signed no paper without examining its content himself and passed

no order without going through the whole case carefully. He never did any thing that was not constitutional. Whenever he wanted to get any new rule passed or an old one changed or modified, he always put the whole matter before the Council and never dictated any action on it until the decision of the Council was obtained. I presume one of the unique features and great achievements of Gurtu-ji's administration in the University is not known to many people. Though almost from the very beginning the University was running into debts and even though he took up the reins of the office during the critical days when the University was in deep deficit yet by his able and efficient management he greatly improved the situation, year after year and he handed over the charge to his successor with a clean slate and a balanced budget for the first time in the history of the University.

Although his contribution in the field of education has been invaluable, he rendered great services in the field of politics also during Home Rule Movement by working as the right hand man of Dr. Annie Besant. Many of the persons who are holding positions of trust and responsibility in the administration of the country at the present time, had the good fortune of learning at the feet of Pt. Gurtu-ji. They owe much to the ideals he set before them.

Not only did Gurtu-ji serve the University honorarily but also he paid the rent of the house in the form of scholarships for students. All his earnings as the Vice-Chancellor of the Allahabad University he donated to the Rajghat institutions. He has always been such a silent worker and a philanthropist that his left hand never knew what the right hand was doing. Many students of the University secured ungrudging help from Gurtu-ji throughout their career. They could never have dreamt of being what they are today but for Gurtu-ji's generous help.

I am happy to state that in appreciation of the invaluable services which Gurtu-ji rendered to the Banaras Hindu Univer-

sity, the members of the Court and Council not only conferred upon him the title of D. Litt. (Honoris Causa), but also perpetuated his memory in the University for ever by associating his name with one of the big Hostels called Dr. Iqbal Narain Gurtu Hostel.

Pt. Gurtu-ji has all along been a selfless worker and a veteran educationist. I have great respect for his noble soul. May God bless him with long life and sound health, so that he may continue to inspire our young souls who may come in contact with him in years to come.

Yours faithfully
S. C. De.

A FELICITATION

8, Carmichael Road,
Bombay, 26.
Tele. 40435.
August 27, '53.

I offer my heartiest felicitations to Shri Gurtu-ji on the auspicious occasion of his seventy-fifth birthday. I have known Gurtu-ji Saheb for over 40 years and have always admired his selfless service in the cause of education. I am sure hundreds of young people he has helped during half a century are most grateful to him for the meritorious service he has rendered to them & the country.

Ratansi D. Morarji.

Pandit Iqbal Narain Gurtu

(As I know him)

Dr. Irach J. S. Taraporewala.

I first arrived in Banaras towards the end of March 1909. My father (Shri Jehangir Sorabji) was at that time General Secretary of the Indian Section, Theosophical Society. I took up my residence with him in the Headquarters of the Society. The day I arrived, in the evening, I had my first glimpse of the C. H. C. (that name is very dear to us all), and what I saw of the boys there made me desire most eagerly that I might have the good fortune to serve there. I approached our Mother (A. B.) and she frankly told me that I should not dream of serving the C. H. C. for anything less than a certain salary, for she thought that my qualifications deserved at least that much. But she promised to keep me in mind. That was encouragement enough and I began regularly to go to the playing field, to the 'first' boarding house, and to wander about the place generally. I made acqaintance with some students and with some teachers also. I learnt that Dr. Richardson, the Principal of the College, becoming permanently invalid, Mr. G. S. Arundale was acting in his place. I also learnt that the Head-Master of the School was Pandit Iqbal Narain Gurtu, that he had had a serious illness and had gone out on leave and was now regaining his strength before rejoining his duties. And I also learnt that Shri Kali Prasanno Chakravarti was acting Head-Master.

About a month after my arrival I saw one evening preparations going on for decorating the building with festoons of bunting and flowers. Upon inquiring, I learnt that Gurtu-ji (that was the name by which we knew him then) had returned quite restored to health and that he was to be 'welcomed

home' the next morning in the prayer-hall of the School and I was also invited to attend.

I had often seen Arundale going about with his boys and the deep affection existing between them. Outside the class-room Arundale was the brother. I was prepared to find something similar in the case of Gurtu-ji also, for by that time I had a fair appreciation of the 'Spirit of the C. H. C.'. But what I saw and heard during the 'welcome home' Gurtu-ji, far exceeded all my expectations. I saw for the first time what the love of students could be. I realised, as I had never done before, the ties that bind together the teacher and the pupil. Subconsciously there was formed in my mind the wish that I might one day become worthy of such love and trust. The Teachers of the School, too, felt fully the joy of the occasion, especially Shri Kali Prasanno, the most loyal and most affectionate of colleagues. He had scarcely words enough to welcome back his beloved elder brother.

That occasion firmly planted within me the ideas of love and service, which formed the distinguishing characteristics of the workers in the C.H.C. I do not quite remember, but I think it was immediately after this gathering that I was introduced to Gurtu-ji and laid the foundations of friendship which has lasted uninterrupted to this day.

But I was feeling quite like a stranger, almost an intruder, in this brotherhood of love and service. I was profoundly unhappy. Then one day (about a week or two after Gurtu-ji's return) our Mother asked me to send her my 'certificates'. That same evening our dear old Professor Jimmy Unwalla gave me the happy news that I had been appointed as Professor of English in the College.

Thus began my life's work. We were then a band of young and enthusiastic workers in C. H. C. under the leadership of George S. Arundale. He was the oldest in age (about 35) and overflowing with love. What he was in the College

Gurtu-ji was in the School. I have never worked more harmoniously or more happily than with this band of young enthusiastic servers. The first two years, I spent in the C. H. C., were the happiest of my life, for in these two years I learnt what life should mean. My elder brothers, Arundale and P. K. Telang and Gurtu-ji taught me, more by example than by direct precept, what life of service should mean. The first two have long since passed over to the other side; the last named is still among us, a living inspiration.

After my appointment in the C. H. C. our contacts and intimacy grew apace. I was fortunate enough to gain the love of all my brothers. Gurtu-ji was among the first to take me to his heart. One of the first things he did was inviting me to his home (in Shanti Kunj) and there he introduced me to his wife and his daughters. This was in the year 1909, and it was to me a great and unexpected honour; it was a signal mark of his affection and trust.

We used to meet every day after our work of teaching was over . In addition we used to meet at various meetings, in the Theosophical Society, in 'the Sons of India' or in the Co-masonic Lodge. These were years of unceasing activity. The whole of the C. H. C. acted as one group, as one family, whose great Leader was our Mother.

One or two occasions with Gurtu-ji stand out vividly in my memory. One was after a dinner—I think it was in connection with an annual gatherig of the C. H. C. Old Boys. There were songs and music and Gurtu-ji sang in a very melodious voice some thrilling lines from Khake-Hind of Pandit Chakbast. I found that most entrancing. The tune still rings in my ears and I can still see Gurtu-ji standing before us and I still hear his voice.

Another occasion, I remember vividly , concerns the final match of the Banaras Hockey tournament between the C. H. C. and another school. Feelings among students were running

very high and we, the teachers, feared a serious breach of peace on the field. So the match was postponed and it was decided by the Heads of both schools that the match should be played at a time and place to be kept entirely secret, and that, when the time came, only the two teams and the teachers should be present. It was expressly agreed that no other students of either school should be present. Somehow the secret leaked out and when we came together at the gate to start for the match, we found a crowd of boys clamouring to go in. Arundale tried to explain to them that the arrangements had been secret and no students except just the players were permitted to be present. And then Gurtu-ji plainly told them that the authorities had given their solemn promise that none but the players should be present. He merely asked them not to dishonour the sacred promise given in the name of the C. H. C. After this we left, and not one student from among those waiting at the gate followed us. Such was the discipline prevailing in the C. H. C., enforced through love and sweet reasoning. And Gurtu-ji's share, in establishing this, was very considerable.

In August 1911, I left Banaras for further studies in Europe. I returned home to Banaras in October 1913. I returned to my beloved C. H. C.; but I found that our 'brotherhood of workers' had scattered. Arundale had gone to Madras, Gurtu-ji was in Allahabad. Of our original band, only Telang was in Banaras working as Head-Master of the newly founded Theosophical School. Perhaps it was good that we had scattered, for each of us carried our message of 'loving service' learnt in the C. H. C., wherever we went.

But the split had sown seeds of distrust in the minds of the Managing Committee. In this depressing atmosphere, I was asked to occupy the seat of Head-Master which Gurtu-ji had occupied. His great example always served as a beacon light to me. Of course I had the loyal and living co-operation

of the old teachers, who had worked with Gurtu-ji and had loved him. I must mention two—Shri Kali Prasanno Chakravarti and Shri Kali Das Manik. They always were speaking to me about Gurtu-ji and of his work and of his silent influence on both boys and teachers.

To add to my difficulties our Managing Committee had given orders verbally that our boys should not mingle with the boys of Telang's School. There was even a verbal command forbidding our boys entering the garden of the Theosophical Society. I found the position unbearable and after several rather stormy meetings with individual members of the Managing Committee I did wring from them their consent about allowing our boys to mix with Telang's boys. Within a couple of months both Schools were freely fraternising. Gurtu-ji was watching all this from Allahabad and when he met me he was very warm in his appreciation of my efforts.

We used to meet whenever Gurtu-ji came to Banaras or whenever I went to Allahabad. He was in Bombay in December 1915, when he attended my wedding and gave me his blessings as an elder brother. I left Banaras finally in August 1917. Since then, meetings with Gurtu-ji have been few and far between. Once I was his guest at Allahabad for a few days, when he was there as Vice-Chancellor. And I have met him several times since at Banaras. In appearance all these years have not changed him very much. He has always been the same dear elder brother to me. His ever ready smile has lighted up his face wherever he has met me, his warm hand clasp is ever hearty and warm to greet me, and above all there is always the old love beaming out of his eyes. I have always felt that I have been blest in possessing such elder brothers as Gurtu-ji; his love and his pure life have been my most cherished memories.

Note of appreciation

(Hon'ble B. Malik, Chief Justice, Allahabad)

I met Pandit Iqbal Narain Gurtu for the first time now about forty years ago when he was the Head Master of the Central Hindu College, Banaras, and was a member of the famous group of men and women who had given up their prospects in various walks of life and sacrificed themselves at the altar of idealism to impart training and education to future generations of Indians in the Central Hindu School, the College, and the Girls' School and to revive old Indian culture and religion, which due to the rude impact of western civilisation and our long subjection had received a terrible shock. I still remember him dressed in spotless white radiating an atmosphere of peace, calmness and culture all around him. Since then, he has filled many important posts : Head of the Theosophical College and the Rishi Valley Trust of which he was the guiding spirit, Vice-Chancellor of Allahabad University, Pro-Vice-Chancellor of the Banaras Hindu University, Chairman of the Banaras Municipal Board, Member of the Provincial Legislature, and if I mistake not, also at one time a Member of the Home Rule League.

The fact that impresses one most about Pandit Iqbal Narain-ji is the manner in which he has always shunned the limelight and done his work and duty hiding his good deeds behind the curtain of anonymity. He has inspired many men and women who, unknown to him, are grateful for his beneficient influence on their mind and character. All those, who have had the good luck of coming into contact with him, wish him complete peace and happiness in his retirement on the banks of holy Ganga in his neat and peaceful home which reflects his well ordered mind and character.

My Reminiscences of Panditji

[Dr. Amaranatha Jha, Chairman, Public Service Commission, Bihar]

"I have known Pandit Iqbal Narain Gurtu so well for so many years that I find it difficult to believe that he will soon be 75. He seems to have the secret of perpetual youth. As I look back across the long stretch of time, I recall many incidents and episodes, all of which strengthen my conviction that in Iqbal Narain-ji we have one of nature's own gentlemen. Whether we consider his career as Headmaster of the Central Hindu School, or his intimate association with the Theosophical Society, or his membership of the Legislative Council, or his memorable Vice-Chancellorship of the Allahabad University, or the valuable service rendered by him to the Banaras Hindu University as its Pro-Vice-Chancellor, we are struck by his deep devotion to duty, the complete absence of self-interest or self-advertisement, and his utter rectitude. I have had the privilege of being associated with him in various capacities. I served under him for six years while he was Vice-Chancellor at Allahabad. I succeeded him as Vice-Chancellor and subsequently I received from him unstinted support, when after several years, I was for a brief period, Vice-Chancellor of the Banaras Hindu University. I have had many occasions to differ from him. But I never lost my respect for him or my conviction that he was inspired by the highest possible motives. He may have seemed, at times, to be too rigid, too literal in the interpretation of statutes, too prone to adopt a stern attitude, when a soft attitude was possible. But no one ever questioned that he was determined to keep the best interests of the institution in view.

People may have forgotten—for public memory is notoriously short—that Iqbal Narain-ji had a brief excursion into official life—as Council Secretary of the Hon'ble Pandit Jagat

Narain. I remember that during the interval of a meeting of the Allahabad University Senate in the early twenties, Dr. Tej Bahādur Sapru twitted him on this appointment quoting the follwing couplet of Ghalib :—

Huá haí shàh ká musáhib, phire haí itràtá
Wagarnà shahr men ghàlib kí àbroo kyà hai."

Pandit Iqbal Narain seems outwardly so strict and stern that those who are not intimate with him, do not realise what a keen sense of humour he has. In a small and selected gathering of friends, he can be found to enjoy a good joke and even tell amusing stories himself.

During about 9 years that I was Vice-Chancellor at Allahabad, the University conferred honorary degrees on only two persons. The fashion now, of course, is to distribute this rare honour almost annually. The two persons on whom honorary degrees were conferred, during my three terms of office, were Dr. C. V. Raman and Pandit Iqbal Narain Gurtu. As was stated in the citation at the time the University was conferring this distinction on Pandit Iqbal Narain Gurtu, as much in recognition of his high character and selfless public service as of his great and memorable work in the field of education.

I have not had the good fortune of ever being Iqbal Narainji's pupil, but through my long association with him, I have learnt much and it is, therefore, with feelings alike of gratitude and affection that I pay my tribute to him and join his numerous friends and admirers in praying that he may live for many more years yet in the enjoyment of good health and peace of mind.

My Reminiscences.

(Prof. M. B. Rane, Ex-Head of the Dept. of Chemistry, B. H. U.)

"Friends have asked me to 'write a few lines' only, for the commemoration volume to be presented to Dr Iqbal Narain Gurtu on his 76th birth day. But how to write for the 76th birth day. It is difficult for me to believe that Gutruji is really as old as that. Was it not only in October last that I saw him at the Itarsi station rushing about up and down the platform, from compartment to compartment, in search of a suitable berth in the Bombay mail ? His movements were so brisk and his face so shining and fresh— and it was midday—that I could hardly believe that he was even 60, and yet to-day I am told that he is 76. Ceaseless activity, has been the main characteristic of Panditji's life and it is that which keeps him so fit and fresh.

I met him first at Banaras in the year 1906, as a young man fresh from the University and full of enthusiasm, come to help Mrs. Besant in her work of the Central Hindu College, with 'Education as Service' and विद्या धर्मेण शोभते as its mottoes. My association with him, direct or indirect, has continued to date unbroken, since then. I have watched him work and I have no hesitation in maintaining that Panditji played no small part in shaping the ideals and establishing the tradition for which the Central Hindu College stood, and which made it, in later years, a pioneer educational institution, spreading new ideals of education, throughout the length and breadth of India.

Work for its own sake, and for the ideals behind the work, was all that Gurtuji cared for. He has never hankered after applause, recognition or popularity ; and honours came to him in rapid succession, absolutely unsolicited. Unflinching devotion to duty, selfless and team work for the cause which he considers as just, have been the main characteristics of his work. By his silent and unostentations work, Gurtuji has

[concluded at page 30]

to come out, that has to pass into its character, so as to give the child a sublime culture which might be helpful in making it a good Citizen. The sacredness must come out and give a colour of purity and integrity to life. That is the right sort of education. The pupil has to be true to himself, to the institution he belongs, and to his country. He has to show reverence to age and virtue. That is his sacred duty to perform. The educated youth has to work for consummation and progress of civilization"

According to Hindu ideas a child is not born with a mind which is *tabula rasa.* On the contrary the mind bears with it the history of countless past experiences in previous births, which have left certain impressions (samskāra) of the soul or the mental body (antahkārana). It covers both instinct and innate ideas. This forms the essence of a man or people. For it is the quintessence of past thoughts and acts. It is, therefore, that which really counts. The samskara when embodied in a particular man explicates into the particular character, disposition, thoughts, and acts of that man. It is thus the seed (bija) of a man or collectively of men. It is the root of type. This general racial soul is in the realm of mind which persists like germ-plasm in life and substratum in matter for chemical and physical changes. There have been no doubt changes but yet a uniformity is noticed in a conservative Indian. This samskara is likely to be suppressed in certain families both educated and uneducated and there may grow up a type lacking in reverence, intolerant of control, independent to the extent of disobedience, realistic, concerned merely with the here and now, sceptical of or denying the existence of God and the immortality of the Soul.

If our education be of a foreign type in which all that is specifically Indian is ignored or destroyed recrudence of the ancient samskara will follow as the "call of the blood," and chaos and indiscipline will endanger the political freedom. All

that is required is to free this samskara from the superincumbent foreign mass which being unassimilated is threatening to choke it. No good result will be got by adoption of suggestion "to give up the illusion of a glorious past which does not exist" and to conform to the Western spirit and ways. National education means to bring up an Indian as an Indian and not like an American or anyone else. What is to 'educate' but to 'educe,' to draw out? What can be drawn out but that which is potentially present in a child, and that which is present in us is the Indian Samskara.

India has taught that man is essentially either that self-same spirit, or a part of or akin to it; that the universe is governed by a just law; that all life is sacred; that morality is the law of humanity which is the master of its destiny and reaps only what it has sown; that the universe has a moral purpose; and that the social structure must be so ordered as to subserve it.

How supremely beautiful and balanced the idea of four Asramas was, which harmonised the World and God in one whole. The Karma doctrine is distinctly metaphysical. It is not a mere empirical generalisation but has a strong rational basis. This is not to be identified with the physical law of causality. This law of karma is not inexorable; far from being fatalistic it is the doctrine according to which man is master of his destiny. He has made himself what he will be, notwithstanding unfortunate conditions which are due to his previous actions. Unselfish good action (niskama karma) does not bind, and with true spiritual knowledge leads to liberation, and selfish good action done with desire for fruit (sakama) leads to happiness in this world and in heaven.

In this period of scepticism and secularism there are even educated Indians who believe in none of such things. Sir John Woodroffe boldly holds, however, that "in any case the chief religious and philosophical concepts of India are in their essentials imperishable". Whether the educational policy of

free India will encourage the Indian people to hold them or not they will be taken up and added to the cultural wealth of the civilized world. I will only say this, with conviction, that if the Indian people steep themselves in their culture, and if those who have lost regain their Indian Soul, that soul will give an Indian answer to every Indian problem which the Indian soul suggests to itself. The Soul which replies will be spiritual and endowed with that will to maintain itself, from which all success follows.*

Pandit Gurtuji is essentially an Indian. The writer had the privilege of coming into daily contact with him for six years continuously at Allahabad University. His sense of impartial duty with an even handed justice to everybody disturbed his intimate friendship with an influential magnate like C. Y. Chintamani, but he did not relax his relentless observance of rules and regulations. He used to relate a story about himself. Sombody observed that he could pass as a European, because of his handsome complexion and stature, if he would put on European dress. Exactly for that reason, he said, he would not imitate western mode of living. If the boys, girls and children of the Rishi Valley Trust and the Old Boys' Brotherhood emulate his attachment to Indian culture it can be hoped that "India will regain her lost Indian Soul" and he will be made immortal by the continuous presence of living men and women of his manufacture and he will be never forgotten owing to the absence of "lifeless literature" which only has kept alive distinguished educationists of the world like Ravindranath Tagore.

* For further elucidation please see the writer's 'Glories of India' (1952 Rs. 15), Appendix I.
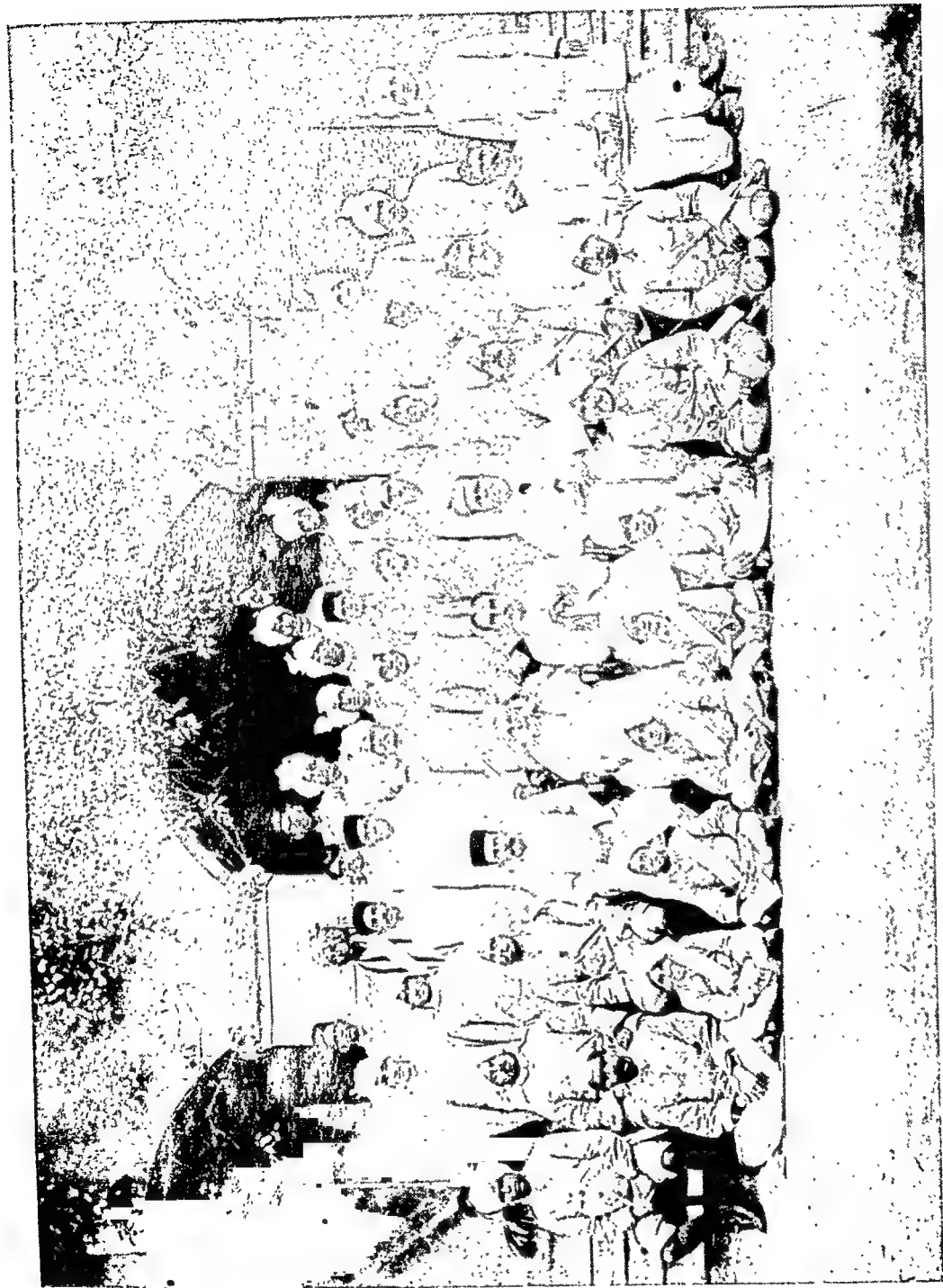
Among the "Band of Service"
T. N. S.
(1916-17)

Hindu Ideal of Education

A Tribute to Pt. I. N. Gurtu on his 76th Birthday

[Mahāmahopādhyāya Dr. P. K. Acharya, I.E.S. (Rtd) M.A., Ph.D., D.Lit.]

The "Old Boys, Brotherhood" has earned the gratitude of his numerous friends and co-workers by offering an opportunity at the 76th birthday of Pandit Iqbal Narain Gurtu to express their felicitation and good wishes for many more happy returns of the day. His motto of life has been neatly expressed by the adage "Education as Service" and has been justified by the fact that his whole career is noted by his service as 'School teacher, Head master thereof, Principal of some college, University lecturer, Pro-Vic-chancellor of one university and Vice-chancellor of another, and ultimately the Direcor or Chancellor of the Rishi Valley Trust whose avowed object is 'to build up the educational institutions for boys, girls and children'. This "avowed object" is not, however, made clear by the announcers. But they have decried the importance of "bringing out books and other more or less lifeless literature" in which Gurtuji has not wasted his "time and resources which have been laudably devoted "in producing really cultured and worthy sons of the motherland with a stamp of character and integrity marked upon them." The Old Boys' Brotherhood have to justify this laudable object and the noble sacrifice of Pt. I. N. Gurtu. While "lifeless literature" has made their authors immortal in the field of arts and sciences, "the boys, girls and children" bearing "the stamp" or hall-mark of Gurtuji's educational ideal will have to make him everlasting.

The policy of education laid down by another great educationist, the world-famous poet Rabindranath Tagore, has also been "to instil respect for truth, for age (i. e. experience), for the institution to which one belongs, and for the country of one's birth............the child has a lot inside and that has

[continued at pages 26, 27 & 28]

rendered unique service to the cause of education in general and North India in particular. The glorious record of work and the vast store of knowledge and experience, that he has gathered during the last 50 years, is really an asset, which is bound to be of great value, in the building up and development of the Educational Institutions under the Rishi Valley Trust, to which he is now dedicating his entire time, energy and resources.

To me the ideal of Panditji seems to be 'As long as I live I will work', for he does not believe in the much-advertised joys of retirement in a small little cottage with certain cheques coming regularly, and nothing to do but Rest. May he live for some years more to inspire the younger generation, is the prayer and wish of his friend.

S. HERMIT,
B.A., B.Ed.Sc.
Principal.

Cutting Memorial Higher Secondary School
& Normal Training
Banaras Cantt.

24th July, 1953

To
Prof. Ramapati Shukla
c/o Besant College, Rajghat, Banaras. 3.

Dear Sir,

I send the following message on the 76th birthday of Dr. Iqbal Narain Gurtu :-

On Behalf of our institution I wish Dr. Gurtu a happy and long life. May he be spared to continue to be a source of inspiration especially to those who serve as Nation-Builders and also as a stabilising force in the cause of education in new India.

Yours truly,
S. Hermit

A Tribute

[Sri Damodar Prasad, Retired Principal, Besant College, Banaras]

"Familiarity breeds contempt', is a vulgar proverb only applicable for those who aim at seeing the weaker side of human nature. Fortunately nature has endowed even lowly creatures with some beautiful aspect inherent in its nature which we have got to learn to appreciate.

A highly cultured and educated man or woman not only possesses many more of the inherent gifts of goodness in his nature, but develops high social, intellectual and spiritual qualities by his own merits. No doubt heredity plays an important part in this transformation.

My respected brother, Pandit Iqbal Narain-ji is one such, whom not only nature and heredity have endowed with valuable gifts, but by dint of his own ability, his meterial sacrifices, his adherence to high principles and his association with great men and women he has won for himself an enviable place of honour among his fellow citizens. He is meticulously clean in his personal life, anonymous in his generosity and charities, thrifty in finances, laborious in sifting facts and files, appreciative of good and hard work and unsparing towards shirkers and the unscrupulous. Wherever he has taken up work he has applied himself with unparallelled devotion and energy dedicating all his moral and intellectual gifts and cleansing all, 'Augeon stables' with vigour without fear or favour. Indeed, he has lost many life-long friends in his tenacious adherence to his principles.

He is a strange combination of obstinacy and understanding, a mosaic, a conglomeration bright and effulgent, smooth but hard and impervious. He is a soft and sweet kernel inside a hard shell unlike a luscious looking fruit with bitter pulp.

It is very fortunate that he has finaly settled down in the healthy, peaceful and elevating atmosphere of Rajghat to spend

the rest of his life amongst life-long friends and in an institution which he has brought up and nurtured from an embryonic stage to maturity as his own child. It is incumbant on the officials of the Rishi Valley Trust, now known as "The Foundation for new Education" to see that he is not made a target of power politics which unfortunately creeps in all organisations even with spiritual and cultural background.

May he be spared many years of health and vigour to give the younger generation the benefit of his vast experience and sound advice.

My First Picture of Panditji

[Shri M. G. Kanitkar, Bombay]

It was in 1910 July that I saw Pandit Iqbal Narain Gurtu M.A., LL.B., I think, for the first time when I entered the service of the C. H. C. I had offered to enrol myself as one of the band under the leadership of Mrs. Besant, then working hard for the uplift of India. My first impression of Panditji was a sense of great surprise. From the letter in his beautiful, clean and noble handwriting with its sedate, wise and elderly tone, I expected to see in the Headmaster of the Central Hindu School, a grey haired, bearded, grave old gentleman. Instead I found a pure, courteous but bright, witty and openly friendly gentleman even younger than myself. Of course the last I learnt many years afterwards.

I have been associated with him in the work for so many years that I find it difficult to put together some anecdotal reminiscences. But I can only put down what I have found in all those years. He is a lovely soul, very sensitive, extremely conscientious and careful of every detail. One of our leaders

once remarked, "Gurtu knows the opposite side better than his own." For in his discussion he brings out all possible arguments before coming to a decision. He is also independent in his judgement, yet, his sense of the corporate life is such that, even after he gives his opinion against a step, he joins the rest when the group takes a decision and shares the consequences whatever they may be. This came out very clearly when in 1913 some 23 of us working in the C.H.C. decided to resign in a body in consequence of the attitude of the orthodox Members of the Managing Committee to the new movement of the "Star". He gave his opinion against the step and advised waiting till Mrs. Besant came up to Banaras. The remaining members of the group decided to resign, wired for permission from Adyar and sent in the resignation. Mr. Gurtu willingly joined. Of course we discovered later that Mrs. Besant would have liked us to follow Mr. Gurtu's advice.

When Mr. Gurtu came to Banaras he was not a member of the T.S. He was a Liberal in politics and a lawyer by profession in which, they say, he had made ten thousand rupees in a short time. His sensitive heart would not let him continue there after he had heard Mrs. Besant. Seeing how hard she worked for India he felt it a shame that an Indian should immerse himself merely in a personal worldly prosperity. I have heard that he almost wept that night and brooded over the question sleeplessly. In the morning the decision was made and the Gurtus turned their steps to Banaras. During later years he was elected to the Legislative council of the U.P., and became the Parliamentry Secretary to the Minister for Local Self Govt. Sri Jagat Narain Mulla only to resign from that post shortly owing to a conflict of conscience.

He was also elected twice as the Vice-Chancellor of the Allahabad University & worked as the Pro-Vice-Chancellor of the Banaras Hindu University at Malviyaji's request. But in

whatever capacity he was called upon to work, service & self sacrifice was the ruling passion & whatever he gained as money was given away to the beloved institution.

I salute in Mr. Gurtu true patriotism, selfless service, punctiliousness, purity, efficiency & courtesy.

Dr. Pandit Iqbal Narain Gurtu

(As I have known him.)

[Dr. M. Hafiz Syed, M.A., Ph. D., D. Litt., L. T., T. D.]

I consider it the greatest privilege of my life to record my reminiscences and humble tribute of the great, incomparable qualities of my venerable friend and patron, Pandit Iqbal Narain Gurtu who attained his 75th year of active, selfless life on 25th September, 1953.

The world knows very little of those who have been serving their fellow men silently and unostentatiously. Our beloved Panditji has never come up before the public and trumpeted his own doings as some leaders do.

I have had the inestimable privilege and pleasure of knowing him for about 50 years now. It was perhaps in 1904 or 5 that he renounced his legal practice and came to serve the Central Hindu College under the leadership of Dr. Annie Besant.

It is said that Panditji earned Rs. 14,000 in the first 6 months of his practice. If he had cared to stick to the profession of law, he would have gone to the top of it and become the leader of the Bar. But his noble Sanskar of the past lives asserted itself to such an extent that he deliberately set aside his personal gain and made up his mind to serve his country as an honorary worker.

I distinctly remember that when Panditji placed his services at the disposal of the President of the C. H. C. Board of Trustees, she did not put him in charge of any administrative or teaching work ; but, instead, he was asked by her to take stock of the old record of the office of the Board and arrange the papers systematically. He, without any scruple or objection, set himself to do the bidding of the President and thus gave a proof of the sincerity of his purpose and his selfless devotion to service and sacrifice in the true spirit of Nishkamakarma.

Mrs Annie Besant was so deeply impressed by his loyalty and efficiency that she put him in charge of the office and made him a joint Secretary of the Board of Trustees. Later on he was called upon to work as the Headmaster and the Principal of the C. H. C. I write all this subject to correction. May be that certain facts have escaped from my memory.

If I remember aright he served the C. H. C. upto 1913 in various capacities and resigned along with others due to some radical differences of opinion between the authorities of the C. H. C. and its staff.

Wherever he was and whatever he did, he set before the younger generation an example of how one can adjust oneself to new sphere of activities and discharge one's duties with the utmost efficiency.

There are very few persons in our country who think of their people and country so devotedly as Panditji has done all his life.

In the words of 'Light on the Path' Panditji "worked as those work who are ambitious" and yet in all that he did there was not the slightest taint of self.

His life may be truly said to be a sermon on sacrifice. He wholeheartedly identified himself with the welfare of his country in every sphere of its activity. He has not been only an eminent educationist who correctly understood the vital

principles of new ideals of education ; but has served his country as a member of the legislature and took interest in the Municipal Board also.

I distinctly remember his unforgetable and most unselfish attitude towards his rival candidate Dr. Ganesh Prasad 'who competed with him for a seat in the Legislative Council of U. P. as a representative of the Allahabad University. Panditji actually voted for his rival candidate and never uttered a single word against his claim and qualification for this position. On the other hand Dr. Ganesh Prasad resorted to all sorts of propaganda against him.

Very few people know that Panditji never aspired to be anything in life much less to occupy the exalted office of the Vice-chancellorship of the Allahabad University. I was one of those who approached him repeatedly along with others to accept this office. In the first place he declined and at last under great pressure and pursuation, he finally agreed and was twice elected by the court with overwhelming majority and served in the Allahabad University with great distinction and utter impartiality. During his about six years' regime, he never identified himself with any party or group in the University. Every one trusted and respected him for his sincerity and transparent honesty.

I am not divulging any secret of his life when I say that more than half of his salary drawn from the University, was distributed by him to deserving causes and institutions dear to his heart.

In certain circles of the University he was unpopular not because he was wanting in the discharge of duties, but because he was overstrict and scrupulous. He spent hours together in scrutinising the files before he gave his decision. He respected rules and regulations and observed them most meticulously. His best friends in Allahabad blamed him for not allowing C. Y. Chintamani's son to appear at the B. A. examination when his percentage of attendance had fallen.

It will not be out of place if I gratefully record one incident of my life when I was a student of the Queen's College, Banaras and had an attack of appendicities when I was residing in the Indian Section of the Theosophical Society. No one cared for me so much as he did. He sent for the civil Surgeon of Banaras and had me fully treated and restored to health. I have never forgotten this incident in my life and shall ever remain grateful to him for saving my life and helping me in so many other ways.

On the occasion of his second election to the Vice-Chancellor's post, I worked for him of my own accord and without any desire from him. When he came to thank me I told him that he need not thank me for my petty services to him. I was already under a deep debt of gratitude to him for his unnumbered acts of kindness, and his brotherliness to me.

He has all through his life been consistently *wazadar* in his relation to smaller people like myself Even as a Vice-Chancellor of the University, of which I was a humble member, he never failed to call on me and treated me invariably with the same consideration and kindness as when I was a mere student of the college.

He and I worked together in the Theosophical Society in Allahabad as President and Vice-President. He was fair in his dealings to all the members of the T. S. Lodge.

His services to the cause of Annie Besant Montessori School, Allahabad, in addition to his heavy responsibility as the V. C. of the Allahabad University, are never to be forgotten. It was he who organised this school and put it on a sound basis.

Panditji's eventful life of multifarious services to the cause of Education, Politics and Social reform could not possibly be recorded in a short note like this. His noble life of devotion to duty has many a lesson for the generation. If some one records his life story, I have no doubt that it will be a source of inspiration for young and old alike.

My Impressions of Gurtuji

(Shri A. P. Dube, B. C. L. (Oxon), Barrister-at-Law, Allahabad).

It is nearly 50 years since I first knew Pt. Iqbal Narain Gurtu. Young Gurtu won his spurs early enough at the Muir Central College where he was reckoned as a brilliant all round student and an exceptionally fine speaker who dominated the debates. As the teaching staff of the Muir Central College was of a very high order at that time, Iqbal Narain Gurtu was extremely well qualified and held out a sure promise to shine in whichever profession he chose to follow. He joined the Bar and came to Kanpur where all the sunshine seemed to come galloping at him. An intellect keen as a razor, an exceptional accuracy of thought and expression, a sweet tone, and facile and powerful eloquence, an innate quality to live like a hermit and work like a horse presaged a career that would lead him straight on and on. His father-in-law Pandit Prithi Nath, a sound and powerful lawyer, in roaring practice, and generous to a fault, wanted a Junior of the type of young Gurtu, although Babu Anand Swarup was already helping him. Young Gurtu made a remarkable hit almost at once at the bar. He argued a case before Pt. Bishambhar Nath Mushran, the munsif, which took the judge and the brother lawyers by a most agreeable surprise. He got a case and by a glorious effort and research got to the remarkable English case on Negotiable Instruments, namely the case of Raphael & The Bank of England. I doubt if any one in the whole Kanpur Bar had remotest acquaintance with that case, and as the case is somewhat against the sense of fairness of the common layman, it was not easy to anticipate its existence, but young Gurtu got to it and sprung a surprise on all. To appreciate the merit, the extraordinary precocity, the innate makings of the young lawyer, I beg to mention the facts of the case. Some Bank of England notes were stolen

from the Bank of England in London, and the Bank of England gave notice to all the money changers in Europe not to cash the stolen notes if presented for payment, and among them also gave notice to Credit Lyonnai in Paris. The authoritis of this latter Bank had hung up a list of the stolen notes near the cashier. In course of business the stolen notes were presented and the cashier cashed them giving every penny in the pound. Credit Lyonnai transferred these notes to one Raphæl who sued the Bank of England in London basing his claim on exactly the notes that had been stolen. The ordinary law is that he who has no title in himself canot give valid title to another. A thief therefore cannot give a valid title to another over the stolen property and the owner may recover it not only from the thief but from whoever comes to possess it. This is Common Sense. But the Lords of the House of Lords have said law is not always common sense, and in the case of Cheques, Bank notes, Bills of exchange etc. they have created an exception that if the holder of the Bank notes etc. has came to hold a defective note in good faith and for value, he shall recover on it even though the title is not there at all or is a defective one. This is bacause in modern trade money should be allowed to pass from hand to hand with great rapidity. The claim of Raphæl was decreed. To get to this case so early and argue thereon so well, was a signal sign of young Gurtu's future greatness as a lawyer.

Moreover Pandit Prithi Nath, his relation, was a most generous of men that I have known. The Pandit would have seen that his young son-in-law grew great as a lawyer. No better helper or patron or senior could be desired. What stuff the great Pandit was made of, let me quote an example. We members of Young Men's Association were fond of playing Cricket but had no money to play it with, as cricket was a very expensive game. We approached Pt. Prithi Nath Sahab and the large hearted Pandit said, "Very well on such and such future date, you shall have all that I earn during the day." The date arrived and

at about 8-30 or 9 P. M. the senior partner of the premier firm Ram Nath Baij Nath, the predecesor of the present Sir Padampat Singhania, brought him a case with Rs. 1700/- as the legal fee. Pandit Prithi Nath demanded the fee at once. The great Seth was surprized. He said it is strange the fee is demanded at once. "You have never done so before. I shall pay the fee tomorrow." The Pandit said, "No pay the fee now." The Lala protested that "all the business shops are closed, it is impossible to get money." The Pandit insisted and got the fee, and the next day paid it to us with a gladdened heart.

With such brilliant qualities and opportunities one should have thought that young Gurtu's fortune was as good as made. But among the stars of the first order that prevailed over the nativity of Gurtu and determined his horoscope there must have been one malignant, one which drew him away from the destined path. Perhaps Gurtu thought the lawyers make the worse appear the better reason! Perhaps he was tempted with the gibe that a lawyer is an expensive luxury! Some courageous voice ought to have told him how much haphazard violence a lawyer has slowly suppressed, such as crimes unpunished, the property of the weak seized by the strong, the whole people demoralised by waste and injustice. However, Gurtu turned to the noble profession of teaching and how valuable his work has been is known to all and would find many able chroniclers thereof. It was during his Vice-Chancellorship that I was appointed Dean of the Facutlty of Law of Allahabad Uuiversity and I know how gentlemanly, how kind and considerate his rule was. His work in the Hindu University will also be narrated.

I have mentioned things which are not within the knowledge of anyone else. Let me be content with it, and finish this with a wish that my freind Iqbal Narain may enjoy long life & continue his noble educational work at Rajghat, Banaras, which is the centre of a new type of education of which we are hearing so much these days.

On Pandit Iqbal Narain Gurtu

[Prof. K. R. R. Sastry, M.A., M.L. Law College, Allahabad University]

Though the present writer had heard of Pandit Iqbal Narain Gurtu as a close associate of Annie Besant prior to August 1936, exceptional opportunities of evaluating the fine qualities and the rare integrity of the venerable Pandit have occurred since.

A CULTURED PERSON.

I know him as a Vice-Chancellor of eminence. He always struck us as a cultured dignitary with an austere appearance.

AN UNSULLIED WORKER

Work should be its own reward. In free India, however owing to a number of disturbing causes, standards of common behaviour have fallen. Whether it be in the pilferings by servants in our Besant Memorial Library or misappropriation of public funds in centres of learning, it is the same sordid tale.

Examples of noble conduct by men like Pandit Jawaharlal Nehru and Pandit Iqbal Narain Gurtu have been beaconlights in an otherwise depressing atmosphere.

A MODEL FOR US ALL

Such of us as are connected with Ananda Lodge or Krishnashram have been trying to follow in the footsteps of Dr. Besant and Pt. Iqbal Narain Gurtu.

These combinations of "Iqbal" and "Narain" I could not understand from Madras. I now know that such a person is a combination of Persian manners and dynamic Hinduism.

May Panditji live long to continue to inspire us in these dark & difficult times.

"An honest man is the noblest work of God."

[Maharajkumar Dr. Vijaya of Vizianagram, LL. D., M. L. C.]

One is reminded of the above saying when one thinks of Shri Pandit Iqbal Narain Gurtu Ji. A humanist to the core, Gurtuji is well-known not only in his home province, but throughout India for his honesty, integrity and love of man-kind. Early in life, after a glorious academic career, he became a lawyer. Leaving, as he did, a promising career at the Bar, he dedicated himself to the field of Education, which he has made illustrious. He at once came under the benevolent influence of Dr. Mrs. Annie Beasant, who persuaded him to accept the Head-mastership of the Central Hindu College. He proved to be an ideal Head and set a very high standard of efficiency and discipline, which others found it extremely difficult to follow. He fulfils in the fullest measure, Emerson's famous dictum that 'the secret of education lies in respecting the pupil.' He served as Vice-Chancellor of the Allahabad University for two consecutive terms. Later, he became the Pro-Vice-Chancellor of the Banaras Hindu University, where he won fresh laurels as an educationist, as an administrator and, above all, as a humanist, full of the milk of human kindness. He was then a colleague of no less a person than Dr. Sir S. Radhakrishnan, our respected Vice-President of India.

Uppermost in his mind, he always had the ideal of India's "Gurukuls" of old, which had invariably laid due accent on the fact that India's honour entirely depended on the training of her youth, during its formative period. His exemplary behaviour both on the campus of the University and outside, proved very effectual in the training of the youngsters, who came under his influence. He was, for some time, Chairman of the Banaras Municipal Board ; but, he had soon

to resign as he was elected Vice-Chancellor of the Allahabad University.

Finally, he became the Chairman of the Rishi Valley Trust and it is a matter of common knowledge how efficiently he manages all the three constituent institutions—Beasant College for Boys, Vasanta College for Girls and Montessori School for Children. No wonder, then, that his popularity at all levels is unbounded. He is a living example of the adage that 'character is power'. Indeed, he never touched a thing, but adorned it. To vary the metaphor, if he had found a thing nickel he left it gold.

Simple and unostentatious to his finger-tips, he radiates geniality. He is well-read and highly intellectual and it is always a pleasure and an education to talk to him. His spartan simplicity and extreme candour put one at one's ease completely. Five years ago, he completed the biblical age of three score and ten and let us hope and pray that he will be spared for long years yet, in order to guide and inspire us all on the right path.

Random Memories of An old Friend.

[Shri JnanendraNath Basu, Member, Old Board of Trustees, C. H. C., Ex. Financial Adviser to the Maharajadhiraj of Darbhanga.]

I had the privilege of working with Dr. Iqbal Narain Gurtu for sometime in the very beginning of his unique career of selfless devotion to the cause of education. It is about half a century ago that after completing his education and qualifying himself for the Bar, he left his hearth and home in the prime of his youth flinging aside a promising career and joined the band of honorary workers in the C. H. C. in 1905. He was at first

appointed Jt. Secretary of the Managing Committee as my colleague in the latter part of 1905 and worked with me admirably as such for about two years devoting all his spare time in various other activities of the Institution. During the vacations he used to tour with Mr. Arundale and others for the collection of funds which were so badly needed for the maintenance and expansion of the Institution. In 1908 he joined the teaching staff and was first appointed Head Master and later on in various capacities offering his services unstintingly wherever they were needed. Rai Iqbal Narain soon gained the confidence and esteem of his colleagues and the respect of all students whom he loved as his own children. Unfortunately in 1913 he, along with Mr. Arundale and several other Theosophist members of the staff left the C.H.C. owing to conscientious difference of opinion regarding principles, but our relations with him still remained cordial, and later on, several boys of our family joined the Theosophical School which he founded along with his colleagues. When the Banaras Hindu University was founded he helped Pandit Malaviyaji in many ways. He unhesitatingly accepted the office of Pro-Vice-Chancellor, even after having worked as Vice-Chancellor of the premier University of the Province. Only recently, when his permission was wanted for proposing him for the election as Vice-Chancellor of the B. H. U. he did not agree to stand for the high office to the detriment of his present unostentatious but useful work in his dear Rishi Valley Trust. All along Dr. Gurtu was moved by a strong desire to be of service to his country without any other ambition.

May God bless him and grant him long life and happiness.

A Pioneer

[Shri Achyut Patwardhan, M. A., Ex-member
A. I. Congress Working Committee]

Dr. Iqbal Narain Gurtu belongs to an illustrious band of Pioneers. Those who walk smoothly upon a highway rarely think of the time when there were deep jungles in a no man's land, where men invariably lost their way. Then there appear the PIONEERS who brave these jungles and prefer the hardships necessary to explore a new pathway instead of using the already existing high-roads to power, fame and wealth. Such men are always few in number ; and many among them are not blessed with success The jungle seems to triumph over their pioneering zeal and they are lost sight of and soon forgotten. And yet to the Pioneer it is always a joy to explore new paths for the baffled spirit of their generation, rather than turn their talents to the simpler tasks of easy success. While we worship the pioneering spirit of those whose efforts are blessed with success, we often tend to ignore the merit of others who have made that success possible by their silent and self-effacing efforts.

The beginning of the twentieth century was a period of ferment. It was a time when the British Empire was at the zenith of its world-wide domination. And most of the new English-educated class preferred to turn their learning to secure for themselves a career of wealth and comfort within the framework of British domination. Only a very few realised with a pang how British rule was ruining the people of this land economically and culturally, stunting our manhood, making men strangers to their own brethren in the villages and hamlets.

Recognising these inherent evils of alien domination the pioneers of our century strove to express the spirit of independence and self-reliance among the people of this land. Poli-

tically Dadabhai Naoroji blazoned the trail of SWARAJ and his successors have later striven to lead millions of men and women to their political emancipation along that road.

However six years of political freedom have convinced the most ardent nationalists that without right education for citizenship, freedom must remain robbed of its rich promise. To possess the hind-sight of recognising the significance of right education was an unusual gift. To add to it the capacity to dedicate long years to sustained hard work without seeking any prominence is even more strikingly uncommon. When men much less gifted were making a success of their limited talents, at the Bar and even in the political field, to stay at one's post without resentment or envy is the final certain test of the PIONEER'S unflinching spirit.

It is of this sturdy spirit that Dr. Gurtu provides a noble example.

In 1905 Dr. Gurtu's father-in-law was a prominent member of the Kanpur Bar. Working by his side Dr. Gurtu had the certainty of a very successful and prosperous legal career. But he heard the calling of his pioneer's vocation at the very beginning of his career. To see the futility of worldly success, wealth and self-importance at the age of twenty-five and to elect a life of comparative simplicity and obscurity is the hall-mark of a rare distinction. It is of such a spirit that the ranks of the Pioneers are made.

That Dr. Gurtu should actively interest himself in new educational trends is a striking proof that he still retains the spirit of the pioneer which took him away from a successful worldly career fifty years ago. Education to Dr. Gurtu is a noble adventure of the spirit in which the teacher gets down to the job of learning at first hand the workings of his own psyche Yet while he is keenly interested in this process he never became so selfcentred as to lose his interest in the young boys and girls entrusted to his charge. It is not without significance

that this seasoned pioneer should preside over the work of the foundation for New Education which is trying to express certain striking trends in the field of education, in close association with Shri Krishnamurti.

Pt. Iqbal Narain Gurtu.

(Shri Devi Narayan, Advocate, Banaras.)

My earliest memory of Gurtuji takes me back to the year 1905 when leaving the comforts and luxuries of a wealthy home and a very promising and bright legal career at Kanpur he chose to come to the holy city of Kashi. It was nothing short of a renunciation and reminds of the great Buddha, with this difference, that while Buddha left his family burdens behind, Gurtuji brought them with himself. He sacrificed all his worldly prospects preferring a life of dedicated and honorary service in the cause of education and the regeneration of our country.

Accordingly he joined the banner of s piritualism unfurled by Madame Blavatsky of Russia and Colonel Olcott of America. Mrs. Annie Besant was the bearer of that banner then, and it was her luminous and magnetic personality that attracted many young men from the far corners of the world. India came to be the centre of her spiritual activities with the C. H. C. as its nucleus to which Gurtuji, like so many others, was drawn.

Mrs. Annie Besent immediately recognised Gurtuji's genius and administrative capacity and after putting him through many steps of severe tests and training eventually put him in charge of the C. H. C. What status and position our school came to occupy owing to the tireless efforts of Dr. Arundale and by his abler successor Gurtuji, is known to all our countrymen. It would be no exaggeration to say that the fame of

the C. H. C. stood higher than that of the famous Public Schools of Eton and Harrow of England, for the simple reason that while the C. H. C. had a spiritual basis, the other two, despite their name, had been built on material foundations. Gurtuji proved to be an ideal headmaster moulding the life of hundreds of young boys.

From here Gurtuji shone as a little star, but as time passed on he rose to great-heights in the academic and political horizon and became more and more effulgent like the great sun

It was my great fortune to be his pupil and what little I can pride upon in my life is all due to his training and example. It was our family's great privilege that for about eight years he lived in our Sita Ram Krishi Shala garden-house opposite the C. H. C. grounds as though watching the school like its guardian angel. My saintly father was greatly attracted by Gurtuji's personality and profoundly honoured and respected him.

I cannot help mentioning the additional advantage that Gurtuji's residence in our garden afforded to me over other boys. It was the enjoyment of delicious Kashmiri sweets and preparations that Gurtuji often sent to us. The sweets then tasted sweeter to a small boy of my age.

Seeing how Panditji has lived his life and how he has sacrificed his all for others seeking no rewards and returns, one is compelled to describe him as a Purna Yogi in the terms of Sri Aurobindoji. He is a combination of Jnanyogi and a Karmayogi and a Sufi philosopher all in one.

It is our rare fortune that such a personality is still with us holding aloft the torch to help us to walk on the dark and difficult path of life. To me personally, it is a matter of highest honour and pride to offer to my Acharya Gurudeva, Panditji, my respectful salutations at his feet on his 76th birthday. I humbly join others in praying for many more returns of this happy day.

An Old Student's Homage.

[Sri Jagdish Prasad, President, Collectorate Bar Association, Banaras]

I esteem it a great privilege to associate myself with the chorus of felicitations and encomiums expressed on this momentous occasion when *Panditji celebrates his 76th. birthday.* Decades back, while a student of Matric, I learnt to respect and admire the great qualities of Panditji who frequently visited our institution to meet his friend and colleague, the late Mr. P.K. Telang, who was one of the foremost educationists of his time. As years rolled by the earliest impressions of my student life matured into a feeling of respectful admiration for this distinguished personality.

If is difficult fo me to expatiate on the manifold achievements of Panditji in the sphere of education and politics. I candidly feel that I am not qualified to attempt anything of this kind. Speaking for myself, the qualities which won for him the general esteem of his fellow beings are his essential urbanity of manners coupled with a sensitive regard and solicitude for all. He has ever been a fearless fighter for the cause of justice and fairplay. He has never been known to shrink from voicing his sentiments and convictions, even at the risk of offending the powers that be. Rectitude, honesty in words, thought and action, combined with an ever wakeful regard for the rights of others, have been the keynote of his activities. Probably it is this rare combination of virtues which has helped him to make a splendid job of anything that he has undertaken.

He has lived a life which has been rich in experiences. Naturally we look to him for light and guidance in our hour of difficulty. The citizens of Banaras can with ample justification claim him as their leading townsman who has shed lustre in various walks of life. It can truly be said of him that he did

not leave anything which he touched without adorning it. It is, however, not my intention to circumscribe the radiance of his personality within the four corners of this city. The area of his splendour has spread far beyond our civic frontier. He can well be claimed as a distinctive acquisition of the modern age whose precepts and examples the posterity would do well to follow and emulate.

With all humility I would pray that Panditji may be spared to us to live out the Vedic allotted span of life.

Is Gurtuji 'A Religious Man ?

[An Old Student]

Though Gurtu-ji has been living in this holy and ancient city of Kashi for nearly half a century, and at present is literally residing on the banks of mother Ganga, he has never been noticed going to take dips in its sacred waters, not even on great festive occasions. Nor has he been ever seen anywhere near Lord Vishwanath's Temple to which even foreigners from distant parts of the world never fail to offer their obeisance and thereafter get themselves photographed with large garlands round their necks. His very closest of friends have not seen him doing Puja sitting on the pure Kushasana, pressing his nose with his fingers and muttering unintelligible mantras. His house though kept meticulously clean—and cleanliness may be godliness—has no idol installed in it before which he may be burning incense and saying prayers asking forgiveness for all the sins that he may have committed during his 75 years of spiritually-lived life. Would it not be extremely easy for him to allot a corner in the lumber room of his big house to a deity and have its Puja performed by a cheaply hired Pujari by paying him two rupees per month as is the common pre-

vailing practice ? He does not seem to have the precious tuft of hair on his head, the popular chutaiya or the Shikha which puts you at such a great disadvantage during a duel. Or was it there before, and has disappeared now owing to baldness ? How can he then hold it aloft to prove his religiousness and Brahmanism ? People entertain grave doubts if he wears the sacred thread, the Yagyopavitam, and shrewdly suspect that even if he has one, it is possibly being used more for safely tying his bunch of keys to it than for doing Sandhya. He does not put the long vermilion mark or the white sandal dot on his broad and bright forehead which are often the adornments of religious hypocrites and cheats. And lo, despite his deceptive youthful appearance, he is 75 years now, he does not give any hope of growing a flowing beard, the symbol of all wisdom, piety and religiousness, and which would atleast do one little service of giving shelter to God's tiny creatures and which often soaked in juices would constantly spread fragrant smell sweeter than the famed perfume of Egypt. Nor has he taken to the counting of beads, the sole occupation of lazy men in old age which would have offered him such an easy escape from his hard work. Despite his large savings made at the cost of his own comforts he has not thought it fit to build a single well or a Dharmashala to acquire merit in the other world and ensure a seat for himself in Heaven, but instead, is fond of building Pathshalas only, understanding little that the appeasement of men will not avail anything if gods are not pleased. All would agree that, if nothing else, Gurtu-ji could atleast build a small temple on one of the main thoroughfares of Banaras with a Shiva lingam installed in it, having a name tablet to perpetuate his name; and sure to save expense, consign the care of the temple not to a man but to the more enlightened Bull—God Shiva's Nandi—and the faithful dog, the vehicle of Lord Bhairava, the latter of which would unfailingly offer the oblations every time that it passed

that way. Gurtu-ji does not hold even a religious Katha or recitation at his residence at which the only expenditure incurred is a few pice in the shape of distribution of a little Prasad to the devoted Bhaktas who may be sleeping all the time but somehow have acquired the rare yogic attainment to rise equal to the occasion on the conclusion of the Katha when Prasad distribution begins. He does not ever distribute alms to beggars, our Daridra Narayans, but generously gives to students and institutions about which the world knows nothing. Nay, although addressed dearly and respectfully by countless numbers as 'Pandit-ji' he is more often than not dressed in a spotlessly clean Sherwani and Churidar Pyjamas in defiance of our traditional Dhoti-Kurta culture. He is reputed to be a scholar of Persian, and has good acquaintance with Qoran also, to easily pass off as a mulla, but he knows precious little of Sanskrit—the language of our gods. While he is well known for his recitation of Persian poems in beautiful voice, and often quotes a lot of Persian couplets embodying great wisdom, truth and Sufi philosophy, he dare not recite a Sanskrit Shloka although he has now made a pukka arrangement with a Shastri who has promised to teach him Sanskrit and make him proficient in it in three months' time.

Why, and mark this climax, his very name, atleast the first part of it 'Iqbal', suggests the glory of Allah first, and 'Narain' only afterwards.

The above is undoubtedly a formidable array of facts—although the list could be augmented very easily, but why should costly paper be wasted about Pandit-ji when he himself is so stingy about it and uses the reverse side of torn envelops in the name of saving every pie for the sake of his so-called beloved institutions. And did I say 'Pandit-ji' ? I should have said 'Gurtu-ji', if I have any regard for consistancy, although in doing so I may prove myself a complete ass.

Judged from these outer appearances and signs, (and people

have little time to probe deeper into the inner side of life) Pandit-ji may stand condemned as a person without any religious trait in his shining personality. But if true religion does not signify any of these things and the indulgence in outer rituals and ceremonies, but means living the Life, solving the why and wherefore and the riddles pertaining to God and the purpose of Creation, doing His work in His name, toiling and sweating and living the life of poverty and service so that others may grow rich and live comfortably, complete effacement of one's self desiring nothing from others but giving everything to others, doing one's duty without the expectation of any reward or even appreciation, building real temples of learning to dispel darkness, and thereby helping in the regeneration of children, young men and women, pursuing Truth at all costs,—and Sanatana Dharma says there is no religion higher than Truth. If these be any of the characteristics of a religious man, then Pandit-ji who is the very embodiment of these virtues and is the living example amongst us of the great ideal of plain living and high thinking, is truly a religious man—a Dharmik Purusha. He is then indeed a Purna Sanaysi and a great Karmayogi and answers the description in a great measure as given in the great Bhagwat Gita.

Who would not readily bow down to touch the feet of such a personality ? although (and here let me pass on a very private secret), he is very wary in this and seldom gives the opportunity of doing so by immediately withdrawing his feet the moment his penetrating and searching blue eyes detect this danger.

May this holy and truly religious being live long to inspire and guide us.

Some Glimpses of Gurtuji's Life

(Kumari Shubhada Telang, Principal, Vasanta College for Women, Banaras.)

To write about Gurtuji and his varied and vast achievements is well-nigh impossible for me. The more so because I have been so close to him from my childhood days. That is my apology for writing these lines even at the risk of being very brief.

Looking back over these many years one cannot but be struck by Gurtuji's great devotion and loyalty to Theosophy and his selfless sacrifice in the cause of Education. During this long period of about half-a-century he has unremittingly worked for the Besant College for Boys, the Vasanta College for Women and the Children's School and has nourished these institutions handed over to him by Dr. Besant with the zest and love that one bestows upon one's own child. These alone appear to comprise his family, and if occasionally he had been called upon to work in other spheres, his attachment for these institutions never waned, and whatever came to him in the shape of money was spent in maintaining and building up these institutions, which, I trust, occupy an honoured and unique place in the comity of educational bodies.

Gurtuji has never aspired for any position and power although these have been showered upon him as the natural outcome of such a splendidly-lived life. The fire that was kindled in him by his great chief Dr. Annie Besant has cortinued to burn in him with unabated brilliance and he has continned to serve the cause of Education with the same physical and mental vigour as when he joined Mrs. Besant's band of workers in the year 1905.

Gurtuji's sense of impartiality and justice is known to all. He keeps himself above party and group politics and therein lies the secret of his success as an administrator and a head. He does not seek for any appreciation and reward. For him work is its

own reward. While he expresses his views and opinions emphatically and forcefully, and adheres to rules and regulations strictly, he harbours no ill will towards any one and keeps his mind open to the last? And, after all that may be said against these qualities of his, his worst critics, if there be any, will admit that most persons have reasons to be grateful to him than feel otherwise. Although of very austere looks from outside, he hides a very kind heart beneath that stern covering and is full of the milk of human kindness and sympathy.

It is not that Gurtuji had not had to face storms. Every man and every institution passes through storms and troubles, and often these strengthen, vitalize and give new life after a violent shake-up. Gurtuji has had his share of them in no small measure, but he has always weatheted them like a bold steadfast sailor. His patience, fortitude and large heartedness never allow to damp his enthusiasm or ruffle the calmness of his mind.

While unremitting labour is one of Gurtujis characteristics he is not without his keen sense of humour of a very high and chaste type.

It was my good fortune to accompany him to Calcutta in 1948 on a collection tour along with Sri Rameshwarji Joshi and other workers. While our tour was quite a success, yet disappointment in some quarters where expectations were the greatest was very staggering indeed. Gurtuji not only maintained his own cheerfulness but actually imparted it to us all, recounting his worse experiences of the old C. H.C. days. His apt quotations and poems from Persian infused new life and vigour in us and banished all dejection from us. Such is his unique company and leadership.

My father, late Prof. Telang, and Panditji were very great friends, and were often spoken of as Amma's (Dr. Besant's) two sons; and Gurtuji's consideration for our family has always been of great love and sympathy. And before closing I am impelled to relate one or two incidents which speak volumes about his

sense of brotherliness and shows him out as a true Theosophist. My father had been called away to Adyar by Amma for some urgent work. Two of my younger brothers and a small sister were down with a severe attack of small pox, the condion of my brother being very critical. All of us were very young and inexperienced, and doctors had forbidden people to visit us for fear of spreading contagion. My mother was left all alone with two old friends to look after and nurse the patients. Gurtuji who had gone out of station had just returned. On hearing of our plight he rushed to our place, sat by the side of the patients for full five hours at a stretch administering his homeopathic pills and consoling and cheering us up. My brother was brought back to life and how very gratefully we remember him in the context of those days. The other is a very recent incident and relates to the time when we lost our mother in Dec. 1952. With what feelings Gurtuji consoled us all ! He accompanied the pall bearers to the Harishchandra Ghat, sat there all through the day till all ceremonies had been finished and brought back all my brothers with him in his car and left us only when he found that we had pulled up a bit.

Gurtuji's life is a shining example of selfless service and rare humanism from which we should all benefit by emulation.

May God grant him health and vigour for many more years to guide and inspire the younger generation.

Gurtuji as I saw him in the Central Hindu Collegiate School.

[Shri S. M. Mukhopadhyaya, M.A., L.T., Lecturer, T.T.C., B H.U.]

The Old Boys' Brotherhood, Besant College, Rajghat, is bringing out a Pandit Iqbal Narain Gurtu Commemoration Volume to present it to him on his 76th birthday. Panditji deserves this honour, and perhaps something more, but he has never desired it. The rigorous and disciplined life that he has lived will not allow him to do so., But the country owes him this duty and we will be discharging it in an humble manner if we succeed in placing the volume in his hands on the occasion of his next birthday.

The Central Hindu College and the Collegiate School together formed one noble institution, planned and founded by a band of selfless wokers, both foreign and Indian, to help India to realize herself and revive her glory. Its message was the eternal message of India, that of self-realization. India needed it badly and for that noble cause toiled a group of workers ultimately succeeding in establishing in the city of Banaras a centre of all-India importance, for a new type of education to regenerate the country and restore it to its ancient glory.

The ideal appealed early to Pandit Iqbal Narain Gurtu and he joined the institution and dedicated his life to the cause taken up by it. Strength of personality, nobility of character and honesty of purpose were some of his early possessions with which he started and which helped him to achieve the success which was his, later on.

A fair complexioned tall figure, dressed in spotless white and ever grave and serious in gait and demeanour, Gurtuji never failed to make an impression upon anybody who came

within the field of his activity. He was at once discovered to be a man of strong commonsense and will, possessed of a sense of discipline and propriety and ready to render service to any one who stood in need of it.

In the School, Panditji was both feared and loved by his pupils who felt that he was there to set before them the ideal of Indian manhood. They knew that if he was a strict disciplinarian, he had the welfare of his pupils at heart. He seldom took any boy to task for any fault of his for the purpose of criticising and humiliating him. He meant to bring about an improvement in the individual and through him in the Society of which he was a member.

Gurtuji believed in atistocracy but nobody could say that he was not courteous and polite. He knew the fine art of combining aloofness with familiarity. He was law-abiding. As an administrator he enforced law and order with firmness, not sparing himself and those close to him.

Panditji spoke faultless English and some of us who were students then believed, rather seriously but childishly, for some time at least, that he was really an Englishman dressed in the Indian fashion and it was out of love and respect for him that we called him Pandit Gurtu and not Mr. Gurtu. He spoke Urdu, much of which I did not follow then, but my respect and admiration for Panditji was all the greater because he spoke it easily without any apparent effort on his part and I, inspite of ceaseless efforts to pick it up, could not go beyond the stage of trial and error.

As students of the Central Hindu Collegiate School, we kept Panditji at a respectable distance, not because he was very hard upon us and we were afraid of him, but because we believed that a question from him would easily nonplus us as we could neither follow his English accent nor his Urdu speech. We students held him in high esteem and maintained discipline in and outside classess almost spontaneously.

श्रीमती सरस्वती गुर्टू

Gurtuji is one of the very few surviving colleagues of Dr. Annie Besant. He has lived a life dedicated to the cause of education, and has worked in various capacities in the field for nearly five decades. He has fortunately enjoyed sound health and peace of mind all these years.

May our respected Gurtuji live longer maintaining the physical and mental health which has been his all these years and complete a century which is the normal span of life recognised in India.

Mata Saraswatiji.

(Shri Lakshman Sahaya, Vakil, Banaras.)

The above heading has no reference whatsoever to mother Saraswati, the goddess of learning. It is the name of Gurtuji's wife whom we all lovingly address as "Bhabhi". And it is respecting her that I am writing these brief lines dreading all the time that "Bhabhi" will do anything but forgive me for this audacity in giving publicity to her—a thing which she has scrupulously avoided all her life.

There is no doubt that Pandit-ji has done great and noble things in life and has achieved signal fame in Theosophical, educational, national, civic and other spheres of public work with which people are only too familiar to need recounting. But without in any way minimising those great achievements, I make bold to say that but for the deep devotion, sacrifice, co-operation and the helping hand of this noble soul Pandit-ji would have achieved but little.

To have left home and followed her lord like Seeta at an age when comforts, luxuries and worldly enjoyments are the greatest attractions for all human beings, to have cheerfully

consigned herself to a life of abnegation, self denial and severe austerity, and to have decided to tread a path of strain and strife, are traits deserving of great praise and admiration. What mental wrench must she have experienced in 1905 when Pandit-ji decided to renounce his home and a promising legal career to offer his lifelong honorary services to the cause of education and humanity, can be better imagined than described.

Ever since that fateful day she had been an unfailing source of encouragement and help to Pandit-ji making it her life's sole ambition to see Pandit-ji absolutely carefree and in complete mental poise and peace to devote himself entirety to the work to which he had dedicated his life. It is not unoften also that her invaluable advice has been of immense help and cheer to Pandit-ji. No M. A. or B. A. degrees adorn her name but one must remember that she comes of the family of the illustrious lawyer and the leader of the Kanpur bar, Pt. Prithwi Nath Chak, three of whose sons qualified themselves as barristers and the fourth one for an advocateship.

Having been born in such a distinguished family her home education and cultural training and intellectual equipment with an exceptionaly strong common sense—all these welded together have resulted in making Bhabhi into a model whom our young women folks parading with high-sounding degrees would do well to copy. She is an ideal Hindu wife and at once reminds one of Anusuya, the wife of the great Rishi, Atri. Who does not know that while the great sage left his hermitage in eager haste to welcome Ram, Sita and Lakshman in their itinerary during their forest exile, Anusuya-ji did not even stir out of her hermitage to have the *Darshan* of Ram which would have given her sure salvation. To Anusuya her own lord Atri was greater than even Rama, the Lord of the Universe. Similar is the devotion of Bhabhi to Pandit-ji.

Her spirit of sacrifice came to the severest trial when in the year 1917, Pandit-ji was leaving India to embark upon the

perilous sea -voyage to fight the country's battle of freedom during the First World War. Such of us as were present at that momentous occasion vividly remember with what mixed and undescribable feeling this heroic lady bade farewell and godspeed to her husband.

Bhabhi is equally great as a mother, and is full of motherly affection for all children, but she also knows the bounds within which such feelings have to be confined in the interests of the children themselves. She is an exception to the common grandmothers who spoil children by indiscreet pampering and excessive fondling. Her grand daughter Kumari Chitrangada, a brilliant and promising student of the M. A. final class in the Banaras Hindu University, is a fine example of Bhabhi's careful training and bringing up of young children.

Loving as she is to all, the writer of these lines was particulatly fortunate in receiving her affection in an abundant measure. During my student days I had the rare privilege of actually living with this distinguished family in their Shantikunj home. The attention, care, and love that Bhabhi bestowed upon me was nothing short of, and different from, a mother's love for her own son. Before being taken in the family I used to call her "Mataji" but thereafter changed the formal "Mataji" for the more affectionate expression "Bhabhi" by which name her own children used to call her. The story of my adoption in the family became widely known among my friends and classmates, and it was not unoften that some of them instead of calling me by my actual name (Lakshman Sahaya Srivastava), hallooed me as Lakshman Narain Gurtu (Ram Narainji Gurtu is the name of Bhabhi's illustrious nephew now adorning the Allahabad High Court Bench).

Although her treatment of all children bore the hall-mark of affection, I will cite only two istances of my own case as typical and illustrative.

During those days my college classes used to be held in

the morning and used to close at 11 A. M. to allow the working of the double shift as devised by the great mathematician-principal Dr. Ganesh Prasad. But owing to *gap-shap* and other allied important student's-activities, with which the parents and guardians are only too familiar, sometimes I used to reach 'home' fairly late. Bhabhi, however, would never finish up her meals, and would invariably await my return with her usual cheerfulness without any trace of annoyance on her face.

The other instance relates to the days preceeding my university exams. I confess I was no better than the March-April students, as they used to be called in my time, who neglected their studies during the earlier part of the session but tried to make up for the lost time by burning mid-night oil over their books during those two months alone. One night I had tired myself out by such late study and had fallen asleep leaving the lamp burning close to my head. Bhabhi somehow happened to detect the light burning brightly in my room. She came up, put out the light, and removing the lamp to a safe distance quietly went away. Next morning the expected storm burst and she sternly rebuked me saying that she would much rather see me fail at the examination than see me lose my health by such late studies. She further proceeded to ask me as to what would have happened to me if I had thrown down the burning lamp in my sleep. Although the answer was quite a simple and a sure one, viz,—the end of all worldly troubles—I did not venture to give utterance to it. There are hosts of other similar instances illustrative of her affection, but they are my own sacred and priceless treasures which I would not like to share with others.

Bhabhi is a deeply religious lady and Bhagwat Gita exercises a special fascinatiom over her. She is extremely eager to attend a really good and illuminating discourse given by a learned person on Gita or some allied religious topic. Not very

long ago while leaving her University residence at Nagwa to cross over the road to hear one of these religious talks she was knocked down almost dead by a rash ekka-driver. But her unshakable faith in Lord Krishna's Grace gave her the requisite strength to survive this terrible stock.

She is about 72 years old now but has managed to maintain good health despite spells of stress and strain of domestic life.

May God grant her a longer span of life to remain in our midst and continue to help and assist Panditji in his noble work.

My reminiscences of Pt. Iqbal Narainji Gurtu

(Shri C. D. Pande ; Retired Asstt. Director-General of Posts & Telegraphs.)

As a fellow collegian of Pt. Iqbal Narain Gurtu, I first saw him in the year 1894 when he was in the B.A. class of the Muir Central College, Allahabad. Being a brilliant student he was liked both by his fellow-students as well as his professors. He was, besides, a very popular figure at College, and was the life and soul of the Literary Institute. It was due to his efforts that we had the benefit of listening to some of the best and illuminating lectures delivered by distinguished judges and barristers of the Allahabad High Court.

I left College in 1900 and joined service in the Govt. Posts and Telegraph Department while Gurtuji, after a brief but bright career at the Bar, moved to Banaras to dedicate himself to the cause of education as an honorary worker. He has remained wedded to Education since, although for a brief period he worked in the Provincial Legislature as an elected member from the Registered Graduates' Constituency. But wheresoever he happened to be he worked with a zeal and

devotion which surpassed those of even paid and salaried persons.

After parting from College, I did not have any contact with Gurtuji till I retired from service and began to lead a retired life at Allahabad. Here I met him again when he was elected as the Vice-Chancellor of the Allahabad University. I noticed his fine qualities and was greatly impressed by the remarkable ability with which he managed the affairs of the University. His treatment of students was also unique, his doors were always open to teachers and students alike, and he always tried to solve all their problems and difficulties in a sympathetic manner. But with all his friendliness to every member of the University he administrered its affairs justly and impartially. To recount an instance ; once a student, the son of a high dignitary had failed to put in the required percentage of attendance. Panditji, without caring in the least for any consideration, straightaway debarred him from appearing at the examination. He always tried to hold the scales of justice even.

Another thing that struck me greatly was Panditji's humanism, his brotherliness towards all without making any distinction between the rich and the poor, the high and the low. He tried to attend all social functions organised by peons, clerks, the University and officials, and was a picture of joy and mirth there meeting all and sundry.

The key-note of Panditji's long and honorary service has been his adherence to high principles of life and dealing justice to all without fear or favour.

May the Almighty grant him longer lease of life so that he may continue to serve the Motherland as selflessly and unostentatiously as before.

An Humble Tribute

[Shri K. Rajgopalachari, Retd. Headmaster from Burma]

It is a matter of sincere joy that the old students of Panditji have wisely resolved to celebrate his 75th birthday by offering their humble tribute of love and gratitude to the great soul that has been a beacon light to many a wayfarer. Who can dare to describe the sun that gives light to those in darkness.

I have admired him as a great educationist and have humbly tried to emulate him in my own small sphere. His lofty sense of Duty, "stern daughter of the voice of God," has left an indelible mark on my mind. Whether as Headmaster, Vice-Chancellor or Patriot he discharged his duty without fear or favour.

Another outstanding quality in him is his utter selflessness. He lives for others. Service is his religion. He has given freely but silently to many a noble cause. He sacrificed a bright career at the call of his country when Dr. Annie Besant, that great friend of India, appealed to young men to help her Central Hindu College, and has been one of her most trusted lieutenants. He has been an enlightened Nationalist serving his countrymen in various capacities. Alas, our public life today can count few such stalwarts !

What has been the source of inspiration of such a magnetic personality ? Only those who know him intimately can attempt an answer. To me, it is his deep spiritual nature that is the mainspring of this noble soul. I believe it is the message of Theosophy, and later of Krishnaji, that has inspired him to a dedicated life. It is indeed as a great Theosophist that he has appealed most to me. I offer my humble salutations at his feet.

A Tribute

[Prof. U. A. Asrani, Asstt. Prof. of Physics, B. H. U.]

I am happy to have an opportunity to express my appreciation of the great educationist Pandit Iqbal Narain Gurtu. His health, energy and willingness to do honorary work in the cause of education even upto the age of seventyfive, are by themselves a handsome commentary on his greatness. How can human words materially add to what his life proclaims so eloquently at every step.

Pandit Iqbal Narain Gurtu adds to the qualities of his learning and deep earnestness—the virtues of a perfect gentleman. It may be possible to have differences of opinion with him, but never a quarrel.

May his sweet amiable face beam over institutions of learning for many more years and inspire young lives along the paths of greatness, service and self-sacrifice.

———

Pandit Iqbal Narain Gurtu

[Shri M. M. Pande, Besant College, Banaras.]

Pursuing the vistas of the golden past,
An' seeking to resolve the enigma of life thro' self-ablution,
Negating the self for the attainment of self,
Didst thou live in the blissful harmony of spirit,
Integrating thy being by tearing the veil of ignorance,
Tearing away from all fetishes that cloud the vision of man.
In keeping with the cherished ideals of the ancient sages.
Quietly didst thou lay down thy sceptre and crown,
Bearing the burden of an ascetic's life for a vital cause,
Annihilating all conceits, all longings that callously
Leaven the sentiments and ignite us to grapple with nobler thoughts;
Nor didst thou seek the luxuries of the world as thy need,
Amid the swank splendours that adorn the lives of men.
Rising above all temptations that lure the baser minds,
And impel them to frisk in fortune 'midst mortal joys,
Imitating ephemeral delights that elude and escape us every moment,
Negative pleasures—that sooth not nor satisfy.
Governed by mightier principles of love thou dedicated thyself
Unto those who needed thine help to sustain themselves,
Raising them from the rut to a great and mighty heritage.
Thou fired a million hearts with a burning zeal,
Uplifting a fallen race by regenerating posterity.

Dr. Iqbal Narain Gurtu

(A Tribute)

(M. M. Pande, M. A.)

A tribute to a revered soul whom I have held ever in awful veneration may be a presumptious endeavour on my part, and moreover, I am afraid I may not be able to describe his multi-coloured personality for it requires a great deal of verbal dexterity to reveal the charms of such a colourful personality which has irradiated its sacred influence over three decades.

For me Panditji has been a symbol of the golden past. To say he is an institution connotes very little. He is more than that, a colossus that has ruled over his age and stood as an adamant against the tide of time. Calm, serene and deep, he is very refined in his tastes and manners. Inspite of the encroachments of age he retains a lively spirit marked by a tremendous vigour. Moreover, he is the epicentre of a great social whirl. There is hardly an important function where his presence is not sought. The R. V. T. instititions owe a great deal to his unremitting zeal and he continues to take a keen interest even now in various educational activities.

It is not for me to recount his achievements. He has been a builder. And the institutions that he has built and the lives that he has inspired are the living monuments of his robust personality. He has been a teacher par excellence, not a mere instructor but an ennobling influence lending impulse to thousands of men and women around him.

His life was a pure dedication. His genius could have led him up to the summit and he would have had a meteoric success but he threw himself with a single-minded devotion into the task of nation-building by training young people to recognise their heritage and vindicate the honour of the motherland.

He was one of the team of workers whom Dr. Annie Besant had chosen for her great task of regenerating India–the motherland. His many friends and pupils have already expatiated upon his virtues and paid him their loving tributes. There remains nothing for me to say except what his most reverential figure inspires me to say and which I feel proud in recording here, for such an opportunity is a privilege in itself and one can chose to be garrulous without the fear of rebuff.

What then ! Does he need our eulogy ? Are we to bring him in the light of things ? How silly indeed ! He shines in his own resplendence and sheds an incandescent gleam around our dark and dismal lives. He has been full of grace. Not only does he possess a powerful personality but also an animated mind and a soul pure and transcendant. He is a perfect example of that inner and outer refinement which gives a polish to character and lends a harmony to the varying movements of life.

His life is an object lesson on the art of living. Everything in time and in its place appears to have been the motto of his life. And, indeed, you will hardly find a more immaculate example of an ordered and disciplined life elsewhere.

Panditji is completing his 75th year yet his spirit flags not nor falters. He is indefatigable. In him we have a synthetic blending of Gyan and Karma. He has never aspired for a name. He has always been shy of recognition. Those who love him may dedicate their souls to him, may publish commemoration volumes or inscribe his name on Tablets but he has neither sought the approbation of men nor has he cared for their reprobation Duty has been his watch-word and whatever he has done has been sanctified by an instinctive call for duty. He is, indeed, a repository of unflinching faith and his convictions are born out of a self-abnegating will. Let us pray that he might live with us for a hundred years शरद: शतम् and be our unfailing guide along the tortuous pathway of life.

———

Dr. Iqbal Narain Gurtu

(Shri Hari Narayan Chowdhary, Ex-Prefect, C.H.C. and Asstt. State Commissioner, Bharat Scouts and Guides, Bihar.)

About 47 years ago, when I was a student of class VIII, in the old Central Hindu College of Dr. Annie Besant, at Kamachha, Banaras, one afternoon a strong news ran through our School, "A new devotee of 'Amma' is coming from Kanpur to do honorary work in our institution." We did not know if he would serve in the School or College. Dr. G. S. Arundale was our Headmaster. To our great surprise one afternoon, a fair and smart Kashmiri gentlman, with an air of natural dignity and polished manners, dressed in pure white pyjama and sherwani and a high grey oval-shaped cap, stepped into the Loyad Memorial Library Hall of Hostel No. I. Perhaps our much-feared Hostel Superintendent Pt. Chheda Lal was also with him. We were even more amazed when the new comer declared that he was entrusted with the duty of helping the boarders of Class VIII in their studies. This gentleman was Pandit (now Dr.) Iqbal Narain Gurtu, M. A. LL. B., D. Litt. Of course, it was only for a few weeks but that year the result of our class was excellent. Perhaps, it was the first test of Gurtuji, because no one expected that 'Amma' would assign to him such a trifling duty ; nor any one of us expected that Panditji, who had come to serve Dr. Annie Besant, having sacrificed his career as a prospective lawyer, would agree to accept that trifling job, But Panditji stood the test bravely and did his duty with love and devotion. In the eyes of Dr. Besant no work was small or great, and every worker had the same honour in her treatment.

Very soon Pandit Gurtu was made the Joint Secretary of the great College and we used to meet him on his way to the College Board of Trustees Office punctually at 10. 30 A. M. and leaving it sometimes very late in evening. Dr. Arundale was

Gurtuji with Prefects of the C. H. C.
(1909)
A. R. Shitole H. N. Chaudhury Shankar Saran S. P. Mukerji
Loke Bahadur Shah Gurtuji Chaitanya Deo

our Headmaster and Panditji was also requested to take some classes in the School. He taught English and History in higher classes. The students attended his classes with pin-drop silence, partly owing to his serious and dignified air and partly owing to his interesting teaching.

I think, it was in July 1909, that Pandit Gurtu was made the Headmaster of the School, when Dr. Arundale was assigned the Principalship of the College and for nearly four years he remained the Headmaster of the School. Dr. Arundale had already introduced the Prefect System in the school about two years before, on the model of Dr. Arnold's Rugby Public School of England. It was a new thing for India but really it was worthwhile and was very helpful to Pandit Gurtu, I believe, who worked it out very successfully and to the great advantage to the institution. Corporal punishments were totally abolished long before, and the discipline of the school was greatly maintained with the help of the Prefects, who were responsible both in the School as well as in the play field. I vividly remember one scene when two gentlemen students, one of whom is now a High Court Judge and the other till lately was a Director of Public Instruction, were tried in a Prefectorial Court, a member of which has also been a High Court Judge till recently, but now retired. The Judgement of these weekly courts were greatly valued by Pt. Gurtu, who supported the punishments suggested. But there never was any ill-will between the prefects and the friends tried for mischiefs. In hostels they were great friends. Panditji had complete confidence in his Prefects and they had a very loyal and devoted trust in him. A Prefectorial tradition was strongly founded in the School, and those semi-authorities were respected and loved by their fellow students as much as the Prefects loved them. The Prefect System continued for many years even after Mr. Gurtu had left the College in 1913.

Mr. Gurtu was a regular visitor in the playing field and almost all the teachers regularly took part in the games. Most of

them played also with the boys. Of course, there was a kind of affectionate awe and reverential fear or wonder towards our beloved Headmaster who never gave any punishment but simply called the criminals in his office, after they were tried by the Prefects, and his flushed face, stern eyes and strong words, were enough not to make them repeat the mistakes again. In short Pandit Gurtu was a strict disciplinarian, and at the same time an intensely affectionate Headmaser, devoted to the best service of the young boys and the children of the School. Of course he was put to criticisms and strong misrepresentation by those who did not come nearer to him, but only studied him from a distance and superficially. But those who worked with him in intimate contact, must say that he was an ideal Headmaster in India as Dr. Arnold might have been in England.

In April 1913, the "Band of Servers" left the Central Hindu College, in a body–about 60 professors and teachers and 300 students—to join different other institutions owing to some differences in the policies of the authorities, although their great Leader continued till she handed over the great institution to Pandit M. M. Malaviya to form the nucleus of the Banaras Hindu University, for which Gurtuji had collected a large sum of money through the co-operation of his students. Later Gurtu-ji was deputed by her leader to various kinds of work mostly educational and political, as a professor in B. H. U., as a Secretary to the Minister in U. P. Legislature, as organiser of Home Rule movement in India and so on, but he never left his colleagues of educational work in Banaras. For sometime he was the Principal of the Theosophical National School which was started by Dr. Annie Besant at Gyan Geha in 1913, and always kept the welfare of this institution in his heart, even when he was the Vice-Chancellor of the Allahabad University and the Pro-Vice-Chancellor of the B. H. U., till he settled down at Rajghat as the Manager of his beloved institution. The strong tie of affection always remained with the great leader and the

cause for which she had worked up till now with Pandit Gurtu, and even today he has not lacked inspiration, and I think his devotion will continue in lives to come.

Panditji's life has been a life of great sacrifice. His family and personal life has ever been very simple. He never needed more than what was barely necessary for a man of his position and managed in whatever his private income allowed. Whenever he received more from any source that was given away for the development of the institution on which he had set his heart as a legacy of sacrificial work left by his great leader. Even when he was in the U. P. Legislature and the Vice-Chancellor of the Allahabad University for six years, the major portion of what he got was given away in the service of others and chiefly to the Rajghat institutions which he has nourished liked his own children. To-day, I find that he is the same Gurtuji with utter devotion to his great Leader as he was in 1906, when I met him for the first time as my teacher helping me in my studies in class VIII, ever clinging to the great ideal for which he had offered his valuable services. His selflessness is undaunted and he is ready to sacrifice every thing, even the very institution which is the heart and soul of his services. Did not Dr. Besant sacifices her C. H. C. to the B. H. U.? I know of an incident when Gurtuji sacrificed his own prospective career by a few years in public life in order to save two of his affectionate pupils, who are high Judicial authorities. Had it not been for this, their career would have been marred.

Gurtuji is a man of very strong determination I have never found him yielding where his principles were concerned, so that the real cause may not suffer. This has made his nature very thoughtful and calculating. I have rarely found him nervous even in great trials of his life.

At first sight Gurtuji appears to be a very reserved man but one who has known him intimately knows that he is not so, on the other hand he is very social and at times full of humour.

He is never found missing a social engagement, unless he cannot help it for other important reasons. His polished and charming manners have always pleased the old and young alike, even a child for whom he has a very soft corner.

So far as my personal relations are concerned, Panditji is much more to me than what Dr. Arnold of Rugby was to Tom Brown. I have always considered myself a member of his family and he and his family have given me no less affection. I dare say there must be many of his pupils who must be feeling the same as I do.

I heartily join them all in wishing Panditji many returns of his birthday.

Dr. Iqbal Narain Gurtu

[Shri Raghupati Saran Singh and Shripati Saran Singh, Theosophical Society, Banaras.]

Our family has the proud privilege of being closely associated with revered Gurtu Saheb for the last four generations. It was probably in the year 1899 that our grand father late Rai Bahadur Pashupati Saran Singh, met Pandit-ji and in later years kept our father and uncle, late Shri Gajpati Saran Singh and late Shri Senapati Saran Singh, under the guardianship of Pandit-ji in the Central Hindu College at Banaras.

Panditji's life of discipline, of sacrifice, of numerous sterling qualities of head and heart enraptured the students and similarly of our father and uncle to such an extent that they refused to accept the coveted job of our grand father, when offered to them, after his death, and preferred to be in association and under the guidance of Pandit-ji. Such inspiration by

his life, in the life of students, speaks for the wonderful qualities and force in the life and personality of Panditji.

There are very few personalities like Pandit-ji who have inspired men by their own life and sacrifices and he is indeed an example of saturated wisdom and youth at this age of 76.

We wonder the secret of youth that Panditji has at this age of 75. He is just the same as we saw him when we were small kids. We are keen and anxious to know the secret of Youth but have not the courage to ask except that we must know by the kind of life he leads.

We pray to the Providence that Panditji may have a very long life to guide us.

We bow to him in reverence and in homage.

A Diamond of Rare Lustre

[Shri Ratneswar Joshi Jeweller, Banaras.]

Kalidas, the immortal bard of Sanskrit poetry and drama, while writing 'Raghuvansham' recounting the glories of the resplendent Raghus, expressed despair of achieving any success in his great undertaking. In the opening shloks of that great epic he has likened his attempt to a dwarf raising his tiny hands in a ridiculous effort to pluck fruits from a tall tree ; to a boatman trying to cross the mighty ocean by a fragile boat, so on and so forth.

A somewhat similar feeling of incompetence overtakes me at my attempt to describe the great qualities of the head and heart which go to make up the effulgent personality of Pt. Iqbal Narain Gurtu. But while Kalidas found many apt similies for his case, my plight is, that I am unable to find one despite a good deal of mental exercise. And while Kalidas succeeded

wonderfully well-may be, only after invoking the aid of Parvati and Parmeshwar, the parents of the Universe,–I am confident of meeting a dismal failure even if I invoked the blessings of the countless gods and goddesses of the Hindu pantheon. I would fain, therefore, leave that task to be done by abler and better men. But the urge within me of paying my homage to Panditji on his 76th. birth day is so overpowering that I venture to pen the following lines however poor their language and faulty their expression.

Vast numbers of students and teachers may justly claim him as an ideal headmaster; Theosophists may with equal justification, describe him as an elder Brother and as the very personification of Society's ideal of 'universal brotherhood', engaged in the task of the great Masters; politicians—I mean the Indian variety and not the western ones of Dr. Johnson's concept—may declare him as a staunch nationalist and a valiant fighter for the cause of India's freedom, risking his very life for the sake of the nation and venturing a hazardous journey over the mine-laid dark oceans during the First World War, to give battle to Britishers on their own soil ; university men may place him on a very high pedastal as an eminent educationist having successfully managed the highest office of the Vice-Chancellorship and the Pro-Vice-Chancellorship of the two of the premier universities of our country by a combination of the rare qualities of a great educationist with that of an efficient organiser and an able administrator; thesis-writing doctor may well envy his D. Phil. and LL. D. degrees; citizens of Banaras may feel proud of his civic Chairmanship of the Banaras Municipality and on his Herculean efforts to clean the Board's Ægeans Stables stinking with corruption, and demoralization; the bright and promising children, boys and girls of the Rishi Valley Trust institutions may duly claim him to be nothing less than a father who has so lovingly and generously reared them up.

All these various people may pride upon Panditji's great achievements in different spheres, and the honours showered upon him without his having aspired or wrought for them. But my asessment of Panditji is from a different angle. While I share in common with the other people their above sentiments regarding my Gurudeva, Panditji, there is one aspect of his, which has left the greatest impress upon my mind. To me personally he has appeared as a diamond of rare lustre, cut brilliantly by Nature's own hands, every particle of which radiates purity of life and sublimity of character. Panditji has lived his life so simply and grandly that it is well for us to emulate his example.

If my prayer and *pukar* can reach the Creator I earnestly beseech him to let Panditji remain in our midst for many more years in robust physical and mental health in order to guide and inspire us all.

A Benign Personality

(Shri B. Sitaraman, B. A., P. A. to the Vice-Chancellor, B. H. U.)

I deem it a great privilege to pay my humble tribute to Dr. Iqbal Narain Gurtu who has been a source of great inspiration not only to me but to many people who have come into intimate contact with him. It was my good fortune to work under him for many years in the educational institutions both at Kamacha and at Rajghat.

Among the numerous outstanding qualities which contributed to his greatness, two are worth mentioning, his extraordinary sympathy to the suffering and to the distressed and the thoroughness with which he dealt with anything he took up in hand. I have seen personally with what great care and anxiety he was once sitting throughout the night by the side of a student

from Gujarat who had an attack of cholera two decades ago when the Besant College (former Theosophical National School) was situated at Kamachcha. He has been giving free medical aid up to this day to the poor villagers round about Rajghat and he even used to go personally to the houses of the sick people in the ups and downs of Saraimohana, not approachable by cars.

Pandit-ji took the greatest care to make a complete study of anything that he took up in hand from all points of view and used to go into minute details. He was not an impractical idealist hastily jumping from one plan to another.

The educational institutions at Rajght are living proofs of his great work and he took the most prominent part in building them up along with Mr. Sanjiva Rao, Mr. Rama Rao and Mr. Damodar Prasad. He has been a pillar for these institutions from the time they were founded and he used to spend anxious days and nights to place them on proper financial footing. At an age when one would like to spend his days in ease and comfort, he used to go about from one corner of the country to another for collection of funds.

Pandit-ji's wise counsel and guidance is not only sought for at Rajghat but by many public institutions and bodies with which he has been connected. He has been a source of great help to many of them.

It is our earnest prayer that Pandit-ji may be with us for many more years to continue the useful service he has been rendering to the youth of the country.

Dr. Iqbal Narain Gurtu : As I See him

(Dr. P. Razdan, Acting Principal, T. T. C., B. H. U.)

Not by the position one holds but by the life one lives is the worth of a man truly judged. Dr. Gurtu has held high offices. All the credit to him for that. So many people have held high offices. But Dr. Gurtu has been different. It is this difference that marks him as a man of worth—worthier than others who have held positions even higher than his. His life has been a life of virtue, a life of nobility, a life of self-sacrifice.

Some people have the knack of broadcasting their attempt at good conduct. Even their weakness appears a virtue, for are they not making Herculean efforts to conquer their weakness ? Is that not virtuous ? They are always conscious of their efforts because they are conscious of their weakness. They advise others to inculcate similar virtues as they are trying to or pose to possess. They are full of advice Virtue has not become a part and parcel of their life .... Not so with Pt. Gurtu Ji. With him there is no attempt, much less effort, at virtue. It has become a part of his conduct, a part of his nature, a part of his very life. He is not conscious of it. Such men do not know they are virtuous. They do not advise others to be virtuous. They take virtue for granted— not in themselves alone, not in others alone, but as a characteristic of life in general. That is perhaps the highest practical stage of virtue. Pandit Ji has reached that stage and as is usual with such persons, is *blissfully innocent* of it. Naturally, there is no show about it.

Virtue can be raw, crude, unpolished, unfinished in its expression. Much of the charm of virtue is lost thereby. His virtue is like a finely cut and polished diamond that shines by

its own lustre. He has an elegance of conduct, a grace of demeanour, a rhythm of personality, which is all his own. That is only the outward expression of the inner life he leads. That raises crude virtue to the level of finished nobility.

Few people know the sacrifices he has made to build up the School at Rajghat. Few people know the hard and valuable work he has put in for the Theosophical Society of Dr. Besant's time. Few people know the amount of suffering he has undergone for the sake of Banaras Hindu University in order to save it from possible closure during its adverse days, and to put it on a sound footing. His sacrifices are innumerable in other fields of activities and other walks of life. But not a word, even by way of hint, will you hear from the mouth of Gurtu Ji.

Another man would have turned a cynic if he had not been suitably rewarded or amply compensated for what he has done for others. But with him there was no motive of reward. Noble deed is a part of his personality. It needs no extraneous compensation. It is both an act and a reward by itself. This is 'Nishkama Karma' in worldly life. This is 'Karma Yoga' in practice.

An humble Tribute

(Shri Anandmurti Quizilbash, Retired Teacher, Besant College, Banaras.)

At the end of each century a great effort is made by the Spiritual Government of the world to revive and regenerate the ancient truths in order to push further the evaluation of the Great Plan of the Universe. Accordingly, the Theosophical Society, Brahmo Samaj, Arya Samaj and the other allied movements ushered into India, the ancient home of the Rishis and the radiating centre of spiritual basis for the whole world. The great Ashoka's Budhism was revived by Col. H. P. Olcott in Ceylone, Burma and elsewhere and thousands of institutions began to sing the glory of the great Budha, the one and only perfected man of this earth. In 1898, the mighty soul, Mother Annie Besant gave new light to Hinduism and the Sanatan-Dharma by founding The Central Hindu College (now the nucleus of the Banaras Hindu University) at Kashi, the spiritual capital of the East. That (C. H. C.) luminary, lit the whole world with its effulgence and by its magnetic touch revived the religions of the world. The greatness of the Aryan Race was shown to the world as the great repository of divine knowledge and the hoary ancient wisdom.

In C. H. C. were gathered together a Band of Servers whose divine activities illumined the whole of India. The whole of the country was dazzled and electrified with the grand mission of the great College. The Band included many a fine soul whose noble and united efforts have given India, her rightful place in the comity of nations to-day. Mother Besant by her magnetic personality attracted the finest workers of the country to the C.H.C. and her all round efforts in educational, political, social, spiritual and religious spheres drew the finest intellects of the country to assist her in her grand and noble mission.

Rai Pt. Iqbal Narain Gurtu is one of those brilliant in tellectuals who, after finishing his bright academic career at the Allahabad University threw himself heart and soul in the service of the C.H.C. in 1905, as an honorary worker assisting all day and night in an ubiquitous manner.

After the great headmastership of Dr. G. S. Arundale of the C. H. School, Gurtu-ji became its Headmaster and established the noble tradition of administrative efficiency in the management of a private institution which was conducted admirably without government aid. An unsolicited testimonial to this effect by the then most critical Government adorns the walls of the Sharga Hall to this day. He is a stern disciplinarian but has got an almond kernel heart. He was the secretary of the managing committee of the C.H.C. and went out several times on a begging itinerary for collecting funds for the great institution with Dr. Annie Besant, Dr. Arundale, Dr. Bhagvandas, H. E. Shri Prakash, Dr. I. J. S. Taraporewala and so many others. He worked as the superintendent of the C.H.C. Boarding house, assisting the great Pt. Chheda Lal of Bareilly College in his heavy work. Shri Shyama Charan De, the omnipresent educationist fo the Banaras University, is his great admirer to this day.

Without a free India her mission of Peace and goodwill in the world could not he established. So the great Mother, while carrying the heavy burden of the Presidentship of the Theosophical Society, also took upon herself the great political agitation work of the Congress and Home Rule League for India. In this great work her lieutenants, Dr. G. S. Arundale, Pt. I. N. Gurtu, Prof. P. K. Telang, Mr. D. K. Telang, Mr. B. P. Wadia, Jamna Dass Dwarka Dass and others followed her to the very ends of the world and courted internment and obloquy of the British Goverment. She along with these lieutenants captured the Indian National Congress (founded by Hume, a Theosophist) and made it really a national voice of India. It

is to the credit and glory of these people that Congress rules India now. Today India's voice is heard all over the globe and it is no less to the credit of masterly work of Gurtu-ji in the political field. He has also worked as the secretary of the T. S. in India several times.

His main work has been to reform the educational system of the country. He has been for long years the Vice-Chancellor of the Allahabad University and the Pro-Vice-Chancellor of the Banaras University. He has been at the helm of National Education after Dr. Annie Besant, Dr. G. S. Arundale, P. K. Telang and others up to this day. He is at present the President of the Rishi Valley Trust Institutions at Banaras.

He has worked inside the U. P. Government and legislature too, and has fought gloriously the malpractices of the old regime. He has fought nobly for the rights of the Junior League of Nations, I mean for the establishment of the National System of Scouting in India under the leadership of Dr. Annie Besant. He was at one time the Organising Commissioner for East U. P. under the Indian Boy Scouts association of India, of which Dr. Annie Besant was the Hony. Chief Commissioner for the whole of India.

Such is the all round career of our Gurtuji who has really built the R. V. T. institutions at Rajghat, Banaras.

May he be spared long to guide the destinies of the youth of the country on right lines—Amen !

To Gurtuji

(From the Staff and Students of Besant College.)

Seventy-five years of graceful living, seventy-five years of overt activity, seventy-five years of burning zeal directed to the service of humanity through education mark the life of our veteran.

Panditji, as we know him has been the life-blood of our institution since its inception. He is one of the band of workers who made a conscious self-sacrifice for the revival of India's pristine glory in response to Dr. Besant's clarion call. Education, as she thought, was a great factor in bringing about the regeneration of India—the motherland. The English system of education was tending to kill her spirit. Hence she formulated a national system of education and hailed men and women from every part of the land to join her in the task of raising up a new superstructure. Her voice attracted the noblest sons of India and men of great calibre, with immense possibilities of fame and fortune crowning their mundane efforts, gathered round her to build up India anew. Of these the names of Late Professor P. K. Telang, Dr. Iqbal Narayan Gurtu and Shri B. Sanjiva Rao will be gratefully remembered by every lover of education.

Panditji's educational activities are wide and varied. He was a Professor, a Headmaster and a Vice-chancellor on successive stages of his career. Whatever work he undertook to perform he always left the indelible mark of his personality on it. His life has been a life of ceaseless action. Always over-worked, he never exhibited signs of exhaustion or fatigue. He seems to be possessed of a supernormal strength, for he has ever displayed an infinite energy and inspite of his age he has been exerting himself with an unflagging spirit.

Panditji has completed 75 years of active life and is passing through the 76th year of a resplendent birthday and yet he is bright with the vision of a glorious achievement, for he has lived a purposeful life, every moment having its own utility, every hour its own significance, every day its own sacred duty.

Panditji has an abiding and deep-seated love for our institution, for he has helped it grow and develop since its infancy. Whether on the scene or away from the scene he carried the institution in his heart wherever he went. He worked for its welfare with an unremitting zeal. His mind always rested on it and his heart had its repose here. It is permeated in his very soul and is upheld by his noble sacrifices. He has worked for our institution for over two decades and even now we have the good luck of living under the shadow of his monumental faith which veritably inspires us and sustains us with hopes anew to cherish that which he has striven to build. We shall be proud to be the inheritors of his faith. May he live for a hundred years to guide us and lead us to our goal through the mighty cataclysms that threaten to upsurge the world around us.

Pt. Iqbal Narain Gurtu's 76th Birthday.

From Leader, dated September 14th 1953.

The impulse that moved Iqbal Narain Gurtu nearly half a century ago to forsake the path of self interest and to devote himself to public causes has continued to be with him over all these years. Born in a middle class Kashmiri family he was nurtured in its traditional principles. He passed his matriculation examination at an early age, then his education ran through the usual channels, and he came to the Muir Central College, Allahabad to complete his educational career. At that time the Muir Central College had but a limited intake. It was not a residential University, but the number of students being small individual attention was paid to their needs. The staff being substantially English, students coming into contact with it imbibed many of the virtues of the English race.

THE VICTORIAN ERA

Naturally the foreign way of life had an attraction for youth then, the position is still similar—to judge by the recent pro-Russian trends visible amongst the younger intellectuals of our own universities today. The Victorian era was opening out. The gods were to be Mill and Bright, Darwin and Huxley. In other words British liberal doctrine had started to filter into India and catch the imagination of the young. At College, Iqbal Narain Gurtu studied assiduously, mastering the English language and became a polished speaker. He was prominent amongst his fellow students and caught the eye of the elder generation. One of those whose company he sought and from which he beneted culturally was the great jurist Mahmood, famous as an independent and uncompromising figure on the Bench. Mahmood was learned both in the moral sciences and the arts, and his humanising influence was soon felt by all those who

Gurtuji among his grand children

Chitra Pammi Ravi

(1938)

gathered around him. But the staus of a student came to an end and Iqbal Narain Gurtu turned his attention to the law.

IN THE LEGAL WORLD

The legal profession in those days attracted a very distinguished class of youngmen, for opportunities in other walks of life were of the most limited character. The best talent of those days found not only a livelihood in law but intellectual and social satisfaction. Iqbal Narain Gurtu was launched in the legal world by his father-in-law, Pt. Pirthi Nath Chak, the undisputed leader of the Kanpur Bar. Thus there was no doubt that opportunity had come to the aid of talent. Actually Iqbal Narain Gurtu had a lucrative brief at the moment when he, much to the disconcernment of his relations and friends, turned his face away form the Bar.

REBIRTH OF IDEAS

The doctrines which he had imbibed of liberty and the like had to be applied to India and Iqbal Narain Gurtu like many others before and after him realised that the spade work which had to be done to make the Indian soil fertile for the growth of these ideas would require the whole energy of many men. This work of making a rebirth of ideas could not be combined with other work. At that time Annie Besant was leading a pioneering movement, partly religious and partly educational. And since it was apparent that education was the key to progress Iqbal Narain Gurtu joined Mrs. Besant's educational activities.

IN HINDU COLLEGE

He began, as all must, at the bottom, as a mere teacher. Then he got what was his due–the headmastership of the Central Hindu College. Those who can throw back their mind to beginnings, and do not forget that achievement also has a beginning, must realise that the Central Hindu College was the

nursery where future educationists grew up. In law one often has to seek the root of the title. Even now if one looks around, many men in power may be recognised as students of Iqbal Narain Gurtu.

The Hindu College was not exactly the favoured child of the then Government and Iqbal Narain Gurtu had to steer carefully. But there can be no doubt that with courage and wisdom he made the institution the first of its kind—a non-official school, which aimed at producing patriotic and cultured young students. The emphasis was not on acquiring the art of making a living but on patriotism, learning and religion.

When there is a tendency at the moment for each man to contemplate upon his own achievements the life of Iqdal Narain Gurtu might well be drawn upon to indicate that there were men who foresaw long ago the role that India was to play and prepared a generation who would help India play that role.

THEOSOPHICAL COLLEGE

After many years Iqbal Narain Gurtu left the Hindu College not without a wrench. He transferred his acivities then to the Theoseophical College where he taught history for a while. In his hand the subject could not be just dry bones, but he gave to it flesh and blood and made it a living subject. At that period, he was constantly in touch with Telang, another man of the same type, who had also been drawn into Mrs. Besant's cicle.

Iqbal Narain Gurtu then resided at Shantikunj. One wing of that house was kept by Mrs. Besant for her own residence. It was the meticulous orderliness of his mind and of his way of life that enabled him to jointly tenant Shantikunj with Mrs. Besant, She loved cleanliness and beauty and Shantikunj in both its wings wore the appearance of a sheet of well polished glass. The flower beds were full of the season's varieties, the lawns were well kept, and the trees stood pruned as also the hedges. For Iqbal Narain Gurtu also is happy with nature. He has

often withdrawn himself to the hills for a while and drunk de.p their beauty and their health giving property.

HOME RULE STRUGGLE

Once for a short time Iqbal Narain Gurtu entered the turbulent field of agitational politics. That was during the first World War when Mrs. Besant stasted her Home Rule movement. Her paper from Madras wrote vigorously in support of freedom and she came to be a suspect in the eyes of her own race.

It was during this period that Iqbal Narain Gurtu was chosen to lead a deputation which was to put India's case before the British electorate. There was talk when their ship left port that they would be interned when they reached England. In those days it was not fashionable to court trouble. The rumours were well founded. Iqbal Narain Gurtu got no further than Gibralter. They were detained at the then bastion of the Empire and sent back home. Thus ended Iqbal Narain Gurtu's agitational career.

IN LEGISLATURE

Then there was a slight shift of interest. Not education alone, but politics also, was to hold Iqbal Narain Gurtu for a while. He entered the Provincial Legislature at a time, when Chintamani was making his first breaches into the bureaucratic strongholds. To work in the company of so consummate a master of speech, so astute a tactician as Chintamani, could not be without its advantage. Chintamani studied his brief and broke down resistance by a dexterous use of facts and figures. That was a time, when those, who were in power, seldom openly accepted the truth of the popular case.

But the impact of seasoned argument cannot be resisted for long and the non-official opposition slowly but steadily influenced governmental policies. Iqbal Narain Gurtu became one of Chintamani's lieutenants and though he lacked

often withdrawn himself to the hills for a while and drunk deep their beauty and their health giving property.

HOME RULE STRUGGLE

Once for a short time Iqbal Narain Gurtu entered the turbulent field of agitational politics. That was during the first World War when Mrs. Besant stasted her Home Rule movement. Her paper from Madras wrote vigorously in support of freedom and she came to be a suspect in the eyes of her own race.

It was during this period that Iqbal Narain Gurtu was chosen to lead a deputation which was to put India's case before the British electorate. There was talk when their ship left port that they would be interned when they reached England. In those days it was not fashionable to court trouble. The rumours were well founded. Iqbal Narain Gurtu got no further than Gibralter. They were detained at the then bastion of the Empire and sent back home. Thus ended Iqbal Narain Gurtu's agitational career.

IN LEGISLATURE

Then there was a slight shift of interest. Not education alone, but politics also, was to hold Iqbal Narain Gurtu for a while. He entered the Provincial Legislature at a time, when Chintamani was making his first breaches into the bureaucratic strongholds. To work in the company of so consummate a master of speech, so astute a tactician as Chintamani, could not be without its advantage. Chintamani studied his brief and broke down resistance by a dexterous use of facts and figures. That was a time, when those, who were in power, seldom openly accepted the truth of the popular case.

But the impact of seasoned argument cannot be resisted for long and the non-official opposition slowly but steadily influenced governmental policies. Iqbal Narain Gurtu became one of Chintamani's lieutenants and though he lacked

Chintamani's incisiveness and his capacity to impale his adversary nonetheless by his sweet reasonableness and the dignified presentations of his case he helped his leader greatly.

MONTFORD REFORMS

Then came the Montford Reforms and for a while Iqbal Narain Gurtu became the Parliamentary Secretary of Pandit Jagat Narain. Jagat Narain Mulla was not an ordinary type. He had a first class mind, with an infinite capacity to analyse and to take pains. He saw through a false argument quickly. His growl was proverbial, and he had an incapacity to suffer fools ; but he had a soft heart, and was courteous to those who had no axe of their own to grind. Moreover, he succumbed to facts and to the logic of an argument. With such a chief it was easy to get along if the lieutenant was honourable, intelligent and hard-working. Iqbal Narain Gurtu had no trouble with Jagat Narain.

HEIR TO A GREAT LEGACY

Then for a while we see Iqbal Narain Gurtu back in Banaras, amongst his old surroundings, taking charge of the educational institutions which Mrs. Besant had founded. Amongst his pupils who now staffed some of the instutions he lost himself for a while. He tried to inculcate the true spirit of service amongst the remnants of Mrs. Besant's devotees. He even took up the secretaryship of the Theosophical Society itself as an act of faith. By then municipal affairs in Bansras badly needed disinterested guidance and straightening. The work was entrusted to Iqbal Narain Gurtu who became Chairman of the Municipal Board. But he had to leave that office as he was elected Vice-Chancellor of the Allahabad Uhiversity.

GREAT VICE-CHANCELLOR

Then he came to the forefront again. This time as the Vice-Chancellor of his own University. The office of Vice-

Chancellor carries with it great prestige but no power. The one weapon which a vice-chancellor has is persuasion. His strength lies in his moral influence. The members of the staff are really not subordinate to the vice-chancellor. The students are not school boys to be punished and birched. While the staff represents the best talent of the country, the students represent the pick of the youth.

To carry a community of this nature along lines which one believes to be in its best interest requires wisdom and patience. Co-operation can only be had on the terms of mutual respect The Allahabad University has had many vice-chancellors and posterity will assign them their true positions, but one may be sure that Iqbal Narain Gurtu will undoubtedly be considered among the best.

His term of office was not spectacular, but he pursued a steady policy, and few will say that his actions were actuated by any selfish motive. He demitted office quietly as he entered it. It is a tribute to him that no building stands named after him in the University. His portrait even does not hang amongst the portraits of the great vice-chancellors. Then for a while Iqbal Narain Gurtu rested until called back to office.

AS P. V. C. IN B. H. U.

The late Vice-Chancellor of the premier University of Allahabad quietly stepped into the subordinate post of Pro-Vice-Chancellor at Banaras. Duty called and the level of the post did not matter.

At that time the famous Radhakrishnan was vice-chancellor at Banaras. Brilliant and widely sought-after, his Spalding Professorship at Oxford occupying much of his time, he guided the University and administered it in its broader aspects. The detailed administration was really in Iqbal Narain Gurtu's hand. He served the University and his chief loyally.

Then he went away quietly. Radhakrishnan left not long afterwards.

GENEROUS IMPULSES

The years had how begun to tell and Iqbal Narain Gurtu felt that the loads should be carried by younger men. He was asked to take fresh heavy burdens, but the state of his health did not permit this. He went back again to the school he had helped to build--to lighter work. At Rajghat today he lives his daily life giving advice when asked and helping all good causes.

Throughout his career he has let anonymity cover his good deeds. It is therefore not proper to refer to his generous impulses

Those who go to Rajghat and meet him, still come away with the impression they carried of him when he was younger, of a man whose consuming passion is service to the causes that are dear to him.

Many think that he is out of tune with the spirit of the times. That is not so for he has also been an experimenter, specially in the field of education. But he is little reconciled to the passing away of the graciousness to which he was accustomed. The clamour, the aggressiveness, and the lack of consideration for the other man's point of view—characteristics of the modern age—are distasteful to him. For all that, he loves to be amongst the youth of the present generation—for he is and shall ever be schoolmaster. No chiselled statue, no dexterity with paint and brush can convey to the generations to come the inner spirit of a man: the man's mental, and religious make-up. Much less can an attempted pen-portrait. But the urge to write about Iqbal Narain Gurtu could not be resisted.

I, too, must add a flower to the bouquet which friends propose to hand to him on his seventy-fifth birthay.

At the feet of the Guru

[Shri Lakshman Sahaya.]

Quite a large number of my friends have been enquiring from me if I am writing anything about "Panditji" for inclusion in the Gurtu-Commemoration-Valume. They have been pleased to remark further that my absence from it will render me liable to be greatly misunderstood. I offer the following lines as my explanation.

I genuinely feel that all that would be said on this happy occasion of Panditji's 76th birthday by his numerous pupils, friends and admirers when pieced together would go to make only the bare outline of his bright picture. Althoug personally I had the rare privilege and opportunity of watching this picture for many years and during all the hours of the day, the nearer I have approached the canvas, the more radiant has this picture appeared to me. Its colours, even after the lapse of three quarters of a century have not faded ; in fact they have grown brighter with age like the paints of the *shahi* days. And as I gaze at it with wondering eyes even that blotch, 'the-love-of-fame' which mars the face of even great and noble portraits, is not to be found on it. Any attempt, therefore, on my part to reproduce this picture by my fragile pen is sure to spoil and dis tort it. For this reason I have chosen to content myself with laying my flower-offerings at the feet of this picture of my guru, philosopher and guide.

May its brilliance last longer and continue to shed its lustre in order to light our path for many more years to come.

Then he went away quietly. Radhakrishnan left not long afterwards.

GENEROUS IMPULSES

The years had how begun to tell and Iqbal Narain Gurtu felt that the loads should be carried by younger men. He was asked to take fresh heavy burdens, but the state of his health did not permit this. He went back again to the school he had helped to build--to lighter work. At Rajghat today he lives his daily life giving advice when asked and helping all good causes.

Throughout his career he has let anonymity cover his good deeds. It is therefore not proper to refer to his generous impulses

Those who go to Rajghat and meet him, still come away with the impression they carried of him when he was younger, of a man whose consuming passion is service to the causes that are dear to him.

Many think that he is out of tune with the spirit of the times. That is not so for he has also been an experimenter, specially in the field of education. But he is little reconciled to the passing away of the graciousness to which he was accustomed. The clamour, the aggressiveness, and the lack of consideration for the other man's point of view—characteristics of the modern age—are distasteful to him. For all that, he loves to be amongst the youth of the present generation—for he is and shall ever be schoolmaster. No chiselled statue, no dexterity with paint and brush can convey to the generations to come the inner spirit of a man: the man's mental, and religious make-up. Much less can an attempted pen-portrait. But the urge to write about Iqbal Narain Gurtu could not be resisted.

I, too, must add a flower to the bouquet which friends propose to hand to him on his seventy-fifth birthay.

At the feet of the Guru

[Shri Lakshman Sahaya.]

Quite a large number of my friends have been enquiring from me if I am writing anything about "Panditji" for inclusion in the Guru-Commemoration-Valume. They have been pleased to remark further that my absence from it will render me liable to be greatly misunderstood. I offer the following lines as my explanation.

I genuinely feel that all that would be said on this happy occasion of Panditji's 76th birthday by his numerous pupils, friends and admirers when pieced together would go to make only the bare outline of his bright picture. Althoug personally I had the rare privilege and opportunity of watching this picture for many years and during all the hours of the day, the nearer I have approached the canvas, the more radiant has this picture appeared to me. Its colours, even after the lapse of three quarters of a century have not faded ; in fact they have grown brighter with age like the paints of the *shahi* days. And as I gaze at it with wondering eyes even that blotch, 'the-love-of-fame' which mars the face of even great and noble portraits, is not to be found on it. Any attempt, therefore, on my part to reproduce this picture by my fragile pen is sure to spoil and dis tort it. For this reason I have chosen to content myself with laying my flower-offerings at the feet of this picture of my guru, philosopher and guide.

May its brilliance last longer and continue to shed its lustre in order to light our path for many more years to come.

AN APPRECIATION

Acharya Narendra Deva
[Vice-Chancellor, B.H.U.]

As a result of the infiltration of the British liberal culture there was initiated an intellectual movement in India in the nineteenth century. It sought to modernise Indian religion and its social institutions in harmony with service and humanitarianism. In the wake of this movement Theosophy came to India in 1875. It rediscovered the spiritual truths of India and retranslated them in modern language and worked out a synthesis between the East and the West. Through the magnetic personality of Dr. Annie Besant it soon came to exercise powerful influence in the English-educated middle class.

Dr. Iqbal Narain Gurtu is a noble product of this age of Indian renaissance. He accepted the principles of theosophy as his creed and being intensely sincere in his beliefs decided at quite a young age to dedicate his life to the cause of theosophy and education. He gave up his practice at the bar and placed his services at the disposal of Dr. Besant. He served the Central Hindu College, the Allahabad University and the Banaras Hindu University with great distinction and ability. He is a distinguished educationist of our country. In politics he belongs to the liberal school of thought. As a theosophist he is an exponent of Indian culture and believes in the fundamental unity of all religions. His life is a sermon on the selfless service of the country and it is our good fortune that he is with us to inspire and guide us. I offer my felicitations to him on the happy occasion of the celebration of his 76th birthday and pray that he may be long spared to us to give us the benefit of his ripe judgment and rich experience of human affairs.

———

AN APPRECIATION

ACHARYA NARENDRA DEVA
[*Vice-Chancellor, B.H.U.*]

As a result of the infiltration of the British liberal culture there was initiated an intellectual movement in India in the nineteenth century. It sought to modernise Indian religion and its social institutions in harmony with service and humanitarianism. In the wake of this movement Theosophy came to India in 1875. It rediscovered the spiritual truths of India and retranslated them in modern language and worked out a synthesis between the East and the West. Through the magnetic personality of Dr. Annie Besant it soon came to exercise powerful influence in the English-educated middle class.

Dr. Iqbal Narain Gurtu is a noble product of this age of Indian renaissance. He accepted the principles of theosophy as his creed and being intensely sincere in his beliefs decided at quite a young age to dedicate his life to the cause of theosophy and education. He gave up his practice at the bar and placed his services at the disposal of Dr. Besant. He served the Central Hindu College, the Allahabad University and the Banaras Hindu University with great distinction and ability. He is a distinguished educationist of our country. In politics he belongs to the liberal school of thought. As a theosophist he is an exponent of Indian culture and believes in the fundamental unity of all religions. His life is a sermon on the selfless service of the country and it is our good fortune that he is with us to inspire and guide us. I offer my felicitations to him on the happy occasion of the celebration of his 76th birthday and pray that he may be long spared to us to give us the benefit of his ripe judgment and rich experience of human affairs.

———

A TRIBUTE TO PANDITJI

DR. SAMPURNANAND

[*Home Minister, U.P.*]

My acquaintance with Pt. Iqbal Narain Gurtu started well over thirty years ago and my feeling of warm appreciation for his personality has grown with the passing years. He was Headmaster of the Central Hindu School, Banaras, at the time we first met and a most successful headmaster, in every sense of the term. The Central Hindu School was not just one of the many institutions which exist to enable the student to pass his examinations. Along with the Central Hindu College of which it was a part, it had set a higher objective before itself and the stamp of that objective is borne to this day by those who had the privilege of studying at these institutions in those days. Mrs. Annie Besant, Dr. Richardson, Babu Bhagwan Das, to name the most prominent personalities, were intellectual and spiritual giants who could not fail to produce a lasting effect on the characters of those who came in contact with them. They had succeeded in gathering round themselves a noble band of selfless associates, men of great depth of conviction, scholarly in habits and yet possessed of superb evangelic zeal and activity. Pt. Iqbal Narain Gurtu was one of the most notable members of this group of devoted men and earned the goodwill even of those who were unable to appreciate the Theosophical Movement and its leaders.

Like other followers of Mrs. Besant, he could not keep aloof from politics. That the political opinions held, and the political programmes countenanced, by him and many others like him differed radically from those adopted by the Congress after the advent of Mahatmaji in the field is quite a different story. Pt. Gurtu was not the type of person who gives politics the first place in his life. Thus he never came into violent clash with the new movement and its leadership.

He has taken part in the civic life of Banaras with distinction. He belonged to a distinct school of thought, a school brought up on the

traditions of liberal British Parliamentarianism, but even those who considered such an attitude an anachronism in the context of Indian life were prepared to concede sincerity of purpose to him personally. That is why he made no enemies by his public acts or utterances.

There is a softer side to his nature, which is perhaps not apparent on a casual acquaintance. He is fond of a joke and quick at making a repartee. During the days that we were both members of the U.P. Legislative Council—I am referring to the years 1927-30—I had the opportunity to spend some very pleasant evenings in the old Councillors' Residence in the company of the late Mr. Chintamani, Pt. Govind Ballabh Pant and Pt. Gurtu. Gurtuji had a fund of interesting stories, in which figured some of our most noted men, and, an inimitable manner of recounting them. His polished manners are reminiscent of that old order of society which is fast passing away. A thorough gentleman, he has the rare knack of finding himself at ease in any society.

I wish Gurtuji a long and happy life. There is much that men of a younger generation can learn from him.

IQBAL NARAIN GURTU

SANKAR SARAN, BAR-AT-LAW

[*Former Judge, Allahabad High Court. Ex-Prefect, Central Hindu Collegiate School, Banaras*]

In the opening years of this century when public life in India was in its formative stage, self-sacrifice was almost an unknown quality amongst educated people, specially in the State of Uttar Pradesh. It was then that a young rising lawyer gave up his practice at the Bar and dedicated himself to the service of the country. That young man was Iqbal Narain Gurtu. Those were great days, Mrs. Annie Besant having founded the Central Hindu College at Banaras attracted to it men and women from different parts of the world who came to serve in a missionary spirit. The appeal was so great that old men and women came out of their retirement to devote themselves to the service of this great institution. Young Gurtu was fired by the appeal of the Central Hindu College and having joined it, threw himself heart and soul into the work. No work was too small for him to undertake.

When he joined the Central Hindu College in the year 1905, he was only 27. An M.A., LL.B., a fine product of the Allahabad University, with brilliant mental equipment and bright prospects in the legal profession in front of him, Iqbal Narain Gurtu turned his back on worldly success and took, what might be described as the vow of poverty, chastity and obedience.

Iqbal Narain Gurtu's entry into the Central Hindu College was not heralded by any fanfare. He just came in as an ordinary worker and was put on probation by Mrs. Besant. He was given odd jobs to attend to. For a time he was in the College Secretariat. Then he was asked to assist the Superintendent of the hostel. For a time he was given teaching work and finally he was put incharge of the Central Hindu Collegiate School which in those days had the great reputation in the educational life of our country. Whatever work

was entrusted to Iqbal Narain Gurtu, he took up ungrudgingly and gave an excellent account of himself. He was universally respected for his devotion to duty and unstinted loyalty to his leader, Dr. Annie Besant.

In the preparatory stages of the Banaras Hindu University, it was considered that the teachers of the Central Hindu College would be the natural leaders of the Hindu University. Circumstances so shaped themselves, however, that the devoted followers of Mrs. Besant could not take their share in the administration or teaching of the Hindu University, instead they founded in Banaras and in other centres small but efficient educational institutions where the ideals of the Central Hindu College, as taught by Mrs. Besant were to be put into practice. Iqbal Narain Gurtu left the Central Hindu College and joined Mrs. Besant in her Theosophical Educational Work in 1913.

It is difficult for me to write about Pt. Iqbal Narain Gurtu because in doing so, I have to survey practically my whole life. Pt. Iqbal Narain Gurtu and my father were intimate friends an young students at the Muir Central College, Allahabad. Their friendship lasted as long as my father lived.

It has been my good fortune to have known Pt. Iqbal Narain Gurtu for over 50 years and have had the opportunity of watching him from close quarters during the last 45 years and I can say in all sincerity that I have never, during all these long years, found Iqbal Narain Gurtu faltering in his devotion to his great departed leader, Mrs. Annie Besant, or to the cause which she inspired and he espoused. The Theosophical Institutions at Banaras had many ups and downs during their 40 years of existence and I have seen how during fair weather or foul, he has stuck to these institutions and has done his best to solve their problems.

In voluntary institutions, paucity of funds is an ever-present problem. Gurtuji solved this problem for the institutions, he solved by not charging a single pie as salary from these institutions and begged for them. Occasionally he got remunerative appointments e.g., Parliamentary Secretary to U.P. Government in the early days of the Montague Chelmsford Reform and as Vice-Chancellor of the Allahabad

University. During these periods, the major portion of his income was devoted to charity, principally given over to these institutions. I hope, I reveal no secret when I say that the total charities of Iqbal Narain Gurtu amount to over a lac of rupees and the bulk of it has gone to the institutions which he served faithfully. Other good causes have also received his support. The Harijan Ashram at Allahabad has been the recipient of his charities. Another institution, the Annie Besant School at Allahabad owns a fine building which is the gift of Pt. Iqbal Narain Gurtu. I dare say, there are other institutions of which I have no knowledge which are the recipients of his generous contribution.

Iqbal Narain Gurtu's life has been a life of austere simplicity. He has borne inconveniences which would normally annoy anybody and has certainly annoyed his friends and relations. But in matters which he considers important, Iqbal Narain Gurtu is not willing to yield to anybody.

I could write pages about his private life, his numerous achievements but I shall refrain from doing it. It is enough if I record only the general effect that his life has produced on his students, including myself.

As a little boy at home, I knew him as my father's best friend. As a student at the Central Hindu College, I knew him as a strict disciplinarian and paradoxically enough a kind-hearted headmaster. In after life, I have known him as a man of the highest integrity, both in public and private life. He has pursued his ideals unfalteringly in fair weather and foul.

I will just narrate two incidents in his life illustrative of this point and which have created a deep impression on me. A friend of his who gave up a high office and thus sacrificed his public career out of loyalty for Iqbal Narain Gurtu had a son. This young man was a student of the Allahabad University where his attendance had fallen short by a few days. The Vice-Chancellor could condone it but certain rules had been made and according to those rules, the young man's shortage of attendance could not be excused. Inspite of his friend's requests and

pressure from other friends, Iqbal Narain Gurtu did not condone the shortage of attendance.

Another incident is connected with an appointment in the University. A dear friend's son-in-law was a candidate for an appointment. The young man was highly qualified but his qualifications did not appear to the Vice-Chancellor to be suited for the particular appointment. Iqbal Narain Gurtu did not support his candidature, actually he opposed that appointment. I am perfectly satisfied that in both these cases the step he took was inspired by a high sense of duty. Not that he did not feel sad. But duty was duty. These are rare qualities and if ever we needed these qualities, they are today.

Scattered throughout India, more specially, Uttar Pradesh, there are men no longer young but who have the fire of youth in their hearts because they have seen how in manhood and later in old age, Iqbal Narain Gurtu has lived a life of dedicated service for the noble cause to which he vowed allegiance as a young man. What loyalty ! What sacrifice !! What lofty idealism !!! May he live long to uplift and inspire is the sincerest prayer of the writer who owes so much of value in life to him.

———

A TRIBUTE

HON'BLE JUSTICE P. N. SAPRU
[*Judge, High Court, Lucknow*]

Among those who have worked devotedly for the educational advancement of this State, Pandit Iqbal Narain Gurtu occupies a very high place. There is no aspect of education with which he is not acquainted. Few can claim the intimate acquaintance that he possesses with problems of not only university but intermediate and secondary education.

There are teachers and teachers. Some are capable of influencing the lives of their pupils; others are mere instructors in the subjects they are supposed to be teaching. Shri Gurtu belongs to the first category.

It was my privilege to come under his influence in the formative period of my life. I was a student of the Central Hindu College between the years 1909-1913. During that period it was my good fortune to come into intimate contact with Pandit Iqbal Narain Gurtu. Without exaggeration he was the best head that any school could possess. He was loved and respected by his students and at all times they were willing and eager to carry out his orders. The old Central Hindu College owed a very great deal to him. Able, modest and unassuming, he was, nevertheless, a man of iron will and nothing could turn him away from the path he had chalked out for himself. To his self-sacrificing spirit can be attributed in large part the glorious success of the Central Hindu College. Pandit Iqbal Narain used to work in an honorary capacity. Money has never meant anything to him. He is the most self-effacing of men.

Pandit Iqbal Narain is a man of versatile talents. He has read widely and thought deeply. He is a man of firm faith and strong conviction. Deeply religious by nature, his motto has been that of service before self. Everything that he has touched he has adorned. Not only can

Gurtuji in Vice-Chancellor's Robes
(1938)

he be regarded as a great educationist but he was also at one time one of our most successful parliamentarians. A staunch nationalist, he threw himself in his younger days with commendable ardour into the struggle for Home Rule, led by Mrs. Annie Besant. As a member of the U.P. Legislative Council and as a junior Minister, he was highly successful. Of the Liberal Organization as it existed at one time, he was a pillar.

To know Mr. Gurtu is to respect him. There are no contradictions in his nature. Sincerity is his hall-mark. Whatever he takes up he performs seriously. Not only has he a firm grasp of principle but he has an infinite capacity for going into the minutest detail of a complicated problem.

It is difficult for me to write about Mr. Gurtu with detachment. I have been closely connected with him for well over 50 years. He has meant so much to me. To his advice both in personal and public matters I have attached the greatest importance.

The question may be asked as to what is the secret of Mr. Gurtu's magnetic personality. Certainly he is able and I should say, very able. For his intellect one has an instinctive respect. But it is not so much his intellect as his character which compels admiration. For Mr. Gurtu is a seeker after Truth and he has lived a clean, honourable life devoted to the service of his fellow-beings.

Early in life, Mr. Gurtu chose to join that band of honorary workers who made the Central Hindu College, which has now grown into a mighty university, a wonderful institutiion. These stalwarts were broad, tolerant men. They had a high concept of duty. They had personalities which could shape the lives of the young. Mr. Gurtu's act in joining the Central Hindu College was one of great self-sacrifice. For after having qualified himself for the profession of law, there is no position which he could not have risen to. With his ability and industry, he could rise to great heights in any walk of life but material gain had no attraction for him. The community sense has throughout his life been strong with him and he adopted education not as a proefssion but as a vocation.

For six years he was the Vice-Chancellor of the Allahabad University. During that period it was my privilege to come into intimate contact with him, both as a member of the Executive Council and a part-time teacher. In the building up of the Allahabad University as a centre of learning and research, as a place from which knowledge radiated throughout the State, Mr. Gurtu made notable contributions. He gave to the university a clean, honest and efficient administration. He was held in the highest respect by the staff and students. His ethical approach to problems made him a valuable assets. The Allahabad University owes to him a deep debt of gratitude for all that he did for it. The Doctorate it conferred upon him was a recognition by a grateful institution of the services that he had rendered to it.

After he had severed his connection with the Allahabad Usiversity, he started functioning as the Pro-Vice-Chancellor of the Banaras Hindu University. He was the right hand man of Dr. Radhakrishnan. His grasp of educational questions, his capacity for educational administration and his moral enthusiasm were great assets to that institution. Today he is the life and soul of the Rajghat School. Who can deny that Mr. Gurtu's life has been a purposeful one ?

Mr. Gurtu carries his years lightly. He is receptive to new ideas. He has no closed mind on any question. Courteous and suave in manners, he is not impulsive in action. A balanced outlook is his most marked characteristic.

There is no one in this State who is more universally respected for his qualities of head and heart than Mr. Gurtu. Generations of students remember him as a teacher who influenced their lives for good, who inspired them with noble ideals, who pointed out to them a way of life which would make for peace and harmony. To know him is to respect him. If education is to serve the purpose for which it is meant, it needs teachers, scholars and administrators of Mr. Gurtu's calibre. Mr. Gurtu combines in himself all that is best in the thought and culture of the East and the West. He reminds one of those ancient Rishis who, in secluded monasteries, were able to give a new direction to the lives of those who had the privilege of sitting at their feet. There is an un-

mistakable personal magnetism about him. You cannot know Mr. Gurtu without feeling an instinctive reverence for him. He has never sought public recognition of his great merits. Self-effacement is one of his great virtues. Where moral issues are concerned, he is firm as a rock. For he will never deviate from the Truth as he perceives it. He is not uncompromising in minor matters but where principle is involved, he knows no compromise. To say this is not to suggest that he is obstinate. Far from that. Provided you can convince him that you are right, he is always prepared to listen to you. Even with his students he was never obstinate or stubborn. The hold that he had over them was that of affection. Mr. Gurtu answers the description almost to perfection of a Guru of old and I deem it a privilege both as a student and as a relation to pay a tribute to a man who was in many ways a pioneer in the field of education.

MY REMINISCENCES OF PANDITJI

DR. SIR SITA RAM

[*Ex-President, U. P. Legislative Council*]

It is a matter both of pleasure and privilege to be able to pay a humble tribute to my esteemed friend, Pandit Iqbal Narain Gurtu. The first time I saw and heard him was when he and the late lamented Mr. Arundale addressed a crowded meeting in the Meerut Town Hall some decades ago, about the Central Hindu College.

Pandit Gurtu's father, Rai Inder Narain, was a much respected judicial officer in Meerut but I was then a kid and Pandit I. N. Gurtu is about 7 years older than myself. Though I had a glimpse of Pt. I. N. Gurtu from a distance several times afterwards, it was only in 1921 that I found myself in the Legislative Council with him working in the same group inside the legislature. I never had the honour of being a member of the Liberal Party like Pandit Gurtu, Dr. Kunzru or Pt. Gokaran Nath Misra, but a few of us used to work together on the benches opposite the Government. Pt. Gurtu was for some time later induced to work as Council Secretary (Parliamentary Secretary) to the Hon'ble Pandit Jagat Narain, Minister for Public Health, Medical and Local Self Govt. In the legislature, Pandit Gurtu made his mark by the lucidity and fluency of his speeches, by the cogency of his arguments, by clear thinking and an independent nationalist attitude. I had the temerity of openly differing from the group sometimes, but Pt. Gurtu was always generous to me.

Pandit Gurtu's interest in education is lifelong. He has dedicated his life to it throughout. As a keen Theosophist he came early under the influence of the magnetic personality of Mrs. Annie Besant and worked under her inspiration and guidance for a number of years. He was one of the pioneers of Theosophical educational institutions and is even now engaged in this noble work. As Vice-Chancellor of the Allahabad University and Pro-Vice-Chancellor of the Banaras Hindu

University he worked with considerable tact and firmness and has left his impress on both. Pandit Iqbal Narain Gurtu is the embodiment of politeness and gentlemanliness. He has a charm of his own which is irresistible. He is so modest and unassuming, so simple and methodical. He is out and out a man of honour, who will never stoop down to do anything mean or disreputable. Thoroughly straightforward in his dealings, you can always know where you are with him.

I think it is a great pity that the services of a gentleman of his learning, probity, sacrifices and devotion should be confined at present only to a few educational institutions and that his talents and experience should not have been used in wider spheres.

Pt. Iqbal Narain Gurtu, of course, does not possess what in the present set-up of things is considered a safe and sure passport for entry into official public life. But he is one of those gentlemen who would fill any place in public life to his own credit and to the credit of the motherland and benefit of the nation at large.

As an old friend and admirer of Pandit Iqbal Narain Gurtu, I congratulate him on his 76th birth day and wish him a long and active life full of health and vigour in the following words, through this commemoration volume.

Kurwannewaih Karmani Jijivishet Sharadah Shatam.

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः (शरद शतम्)

A TRIBUTE

Dr. P. Parija, M.A. (Cantab.) D. Sc., I.E.S. (Retd.) F.N.I.
[*Pro-Chancellor, Utkal University*]

I deem it an honour to contribute my humble quota of tribute to Pandit Iqbal Narain Gurtu on his 76th birth day. God be praised that the Panditji has been spared to us to continue his service to the motherland in the sphere of education.

Although known by repute, I had the honour of coming in personal contact when Panditji came to preside over the annual function of the Old Boys' Association of Ravenshaw College. All of us remember still his thought-provoking address on the occasion.

In later years my association with the great man became closer when I joined the Banaras Hindu University in 1949. Those like myself who have worked with Panditji have entertained the highest regard for his qualities of head and heart. His dealings with even the humblest worker were always marked with courteousness but this did not deter him in fearlessly criticising the work of others when criticism was called for. His discussions of educational problems were always marked with constructive suggestions without any trace of bitterness, and as such commanded respect even from his opponents. During his long career as a teacher and University administrator, he has achieved many things. The Rishi Valley Trust, however, is the crowning glory as a land-mark of residential instruction in India and will remain a lasting tribute to his greatness.

Would to God that this great man may live long to give guidance to younger people by his sage counsel and thereby continue to serve the motherland !

PT. IQBAL NARAIN GURTU

A Great Liberal

GURMUKH NIHAL SINGH
[*Speaker, Delhi State Legislative Assembly*]

I had the pleasure and privilege of coming into contact with Pt. Iqbal Narain Gurtu during the period I was a professor at the Banaras Hindu University, from 1920 to 1939, and I was greatly impressed with his amiable personality and good manners—his genuine *bon-homie.*

Pt. Iqbal Narain Gurtu possesses a very pleasing personality. A smile is usually hovering round his thin lips and his conversation is full of wit and humour. His speeches are those of a widely read, cultured and highly educated person, full of sweet reasonableness, free from heat or excitement, pursuasive and convincing. And his eyes are most revealing—they express his personality as if in a twinkling.

Pt. Iqbal Narain Gurtu is in the tradition of great Liberals of the Gokhale School. He had his training—religious, social and political—under that masterful personality—Mrs. Annie Besant. And he made his contribution to the establishment and working of Parliamentary institutions in India when the Montford Reforms were introduced. He cooperated with the first popular ministers in the U.P., Shri C.Y. Chintamani and Pt. Jagat Narain Mulla—the two great stalwarts of the Liberal Party—and was for some time Parliamentary Secretary to them.

Pt. Iqbal Narain Gurtu is an eminent educationist and he has rendered valuable service to two of the oldest Universities located in the U.P. He was Vice-Chancellor of the Allahabad University for two terms and Pro-Vice-Chancellor of the Banaras Hindu University for some years. In addition, all the educational institutions run by the Theosophical Society owe a deep debt of gratitude to him. He has been connected with the Old Central Hindu College founded by Mrs. Besant, and with the Banaras Hindu University, since it began func-

tioning—first as a Professor of History and later as a member of several of the University bodies. At a very critical period in the history of the University, Pt. Iqbal Narain Gurtu accepted its Pro-Vice-Chancellorship and rendered to it very valuable service. He, however, refused to stand for election for the Vice-Chancellorship of the University unless he had the unanimous support of the members of the Court. The presence of Pt. Gurtu on the University Campus, with his life of service, self-sacrifice and simple living and high thinking, is a source of inspiration and strength to all members of the University—both students and the staff; and I hope he will be spared to guide the younger people for many more years to come. I offer my respectful congratulations to Panditji on his 76th birthday and wish him many happy returns of the day.

PANDITJI AS AN INSPIRER

PROF. V. V. NARLIKAR

[*Pro-Vice-Chancellor, B. H. U.*]

Barnard Shaw once remarked to the effect that the best way to work on a committee is to treat every item as a matter of life and death. Shaw used the weapon of exaggeration to drive home a point. Making allowance for the exaggeration we can all testify to the truth that the remark contains.

It has been my good fortune to work on several committees with Pandit Iqbal Narain Gurtu during the last twelve years; and I can say with confidence that I have found the best example of the Shavian remark in Pt. Gurtu.

As Pro-Vice-Chancellor of the Banaras Hindu University I have occasions now and then to refer to the old office notes and reports left on the file by Pt. Gurtu during the short period that he was Pro-Vice-Chancellor. There is ample evidence here, for any one who wants it, of his beautiful handwriting, his chaste English, his love of accuracy and exactness and his exasperatingly impersonal way of looking at things with the larger interests of the University always at heart. It is difficult to believe that office notes can be works of art but Pt. Gurtu, as his admirers know, can do the incredible. Those who have greatness in them do even the small things in a great way and thus illustrate, for our benefit, illustrious virtue. I have every reason to be grateful to Panditji for the inspiration that his example brings to me.

A TRIBUTE

Dr. Gyanchand, M.A., Ph.D.

[*Ex-Financial Adviser to the Prime Minister of India*]

Pandit Iqbal Narain Gurtu has worked for nearly half a century with a spirit of dedication which has been, for those who have had the privilege of knowing him a source of strength and inspiration. An educationist by choice, he brought to his calling understanding of its function and importance, performance of his duties with meticulous care and earnest desire to build for the future. He answered the call which came to him through Mrs. Besant with fullness of his being and has remained true to it and to her all his life.

He has striven hard, by precept and example—more by example than by precept—to maintain high standards in education. In the idealistic institutions that he built up he had a team of workers who, in various degrees had answered a similar call and were trying consciously to realize its purpose in their work; but even in the other institutions, like the Universities of Allahabad and Banaras, he upheld the same standards, and though it did not mean the line of least resistance, he, in his own person, remained a torch-bearer and path-finder and tried to create an atmosphere worthy of real educationists.

His interest in politics has been derived from his awareness of its relation to the larger issues of life; and to the extent he has taken active part in it, he has done so in the same spirit which animated him in his educational work. He brought the qualities of clear-sighted thought to his political work and used the depth of feelings to serve the qualities of his mind—i.e. understanding of its essentials and keenness to take into account the unseen as much as the seen.

The country at present needs the advice and guidance of men of his calibre—of his integrity, devotion and understanding—even more urgently than ever. I hope that the sincere wish of all friends that he may be spared for many years to come, to contribute by his example

and experience to the creative effort of our people at the highest level, and kindle in many sparks from the fire which has burnt in him so long, so steadily and with such brightness would be granted in full measure. May they learn from him the value and significance of selfless work rendered with knowledge of its relation of life's inner purpose and faith, that, in some inscrutable manner, life will grow from more to more and express the deepest urges of men in various ways in their behaviour and their spirit within.

MY REMINISCENCES OF Mr. GURTU

SHRI C. N. CHAK

[*Deputy Educational Adviser, Ministry of Education, New Delhi*]

My first reaction when thinking of writing about Pandit Iqbal Narain Gurtu is one of embarrassment. The hardest thing you can do to a child, so it is said, is to describe him to himself. Perhaps, that is even harder on the adult. But ancient wisdom has decreed that certain intimate communications, like marriage vows, should be made and in public. So be it with this tribute to Mr. Gurtu on his seventy-sixth birthday.

Mr. Gurtu is a striking instance of a man who, while pursuing major virtues, neglected no minor one. To those who are without the supposedly minor virtues, these make a formidable list. Mr. Gurtu has never risen late, never left his things in disorder, never been late for an appointment, never forgotten a courtesy due from him or failed to reply to a letter promptly. He has never wasted a penny that could be diverted to a good cause. I could go on forever. But the surpris-

ing thing is that doing all this, he did not fail in the bigger things that confer personality and stature.

Everyone knows how at the beginning of his life he sacrificed what promised to be a brilliant career at the Bar for which he had every advantage—intellectual acuity, presence, charm, humour, wit, perseverance, tact, influence, all in a remarkable degree. He chose instead to dedicate himself to the discipleship of Annie Besant and to serve with her in the many fields in which she served God and the men, women and children of India.

For this varied service his talents were invaluable. He served in politics, writing articles, making speeches, and once accepting the post of Secretary to the Legislative Council for a short while soon after the passing of the Montague-Chelmsford Reforms. But his first and greatest love was education. He worked first as teacher and then as the Head in two great institutions—the Central Hindu School and the Theosophical National School at Banaras, that were founded by Mrs. Besant. These schools achieved a reputation for character and service that have rarely been attained elsewhere in India and never been beaten. For the first time character-building appeared to become the main end of education. The Schools got the early impact of the national movement and the collected philosophy of thinkers from Plato to Pestalozzi, John Dewey and Maria Montessori informed education at them. I had the privilege of reading for five years at the Theosophical School. Ten years later when attending a course at the Teachers' Training College at Cambridge, I saw that things considered difficult of achievement with the vast resources of Imperial England, had been realised at Banaras through the dedication of personalities such as Mr. Gurtu's.

For most educationists, becoming a Vice-Chancellor is regarded as a great climax. In Mr. Gurtu's life's work, this was an incident—no more, no less. And when he had served for two terms as a Vice-Chancellor in one University he agreed modestly to serve as a Pro-Vice-Chancellor in another which needed him, throwing himself into his work with characteristic energy and with characteristic indifference to status and prestige.

There were other fields of work, the Theosophical Society, the Rishi Valley Trust, the Banaras Municipal Board but one cannot mention everything.

The school remains his first love and he still labours for it, collecting funds, attending meetings. I should say—"school and colleges" for the famous Women's College and the Montessori School are there too, and the Boys School is now a College.

As the years unroll, what old things do I remember of him most clearly! His garden at Shanti Kunj was full of poppies which a small boy could only pluck when Mr. Gurtu was not about. Again, I remember learning "In Memoriam" from him at Solan and what a teacher he was! Those days he used to walk ten miles a day at day-break and wanted you to do the same. And then I remember the wonderful old-world courtesy with which he rose from his chair as my wife entered the room on his first visit to me after my marriage. Wives are proverbially critical of their husband's relations and friends, but his grace charmed my wife for ever. He is a wise and affectionate friend to many, young and old, and there must be hundreds who feel as I do that in him we have one of the greatest influences for good in the State of Uttar Pradesh—a great, generous and true man who blesses the land he serves.

AN APPRECIATION

SHRI PARMANAND, M.A.
[*Secretary, University Grants Committee, U.P.*]

To think of Pandit Iqbal Narain Gurtu is to be reminded of a quality we associate with the Avatars—that of cheerfulness in all circumstances. One does not care to recall the occasions—even if there were any in his experience—when he met Panditji without his benignant and openhearted smile which reveals some of the inner beauty of his soul.

My association with Panditji has been much shorter and less close than that of many who will record their reminiscences but I claim to have been privileged to meet and deal with him in a variety of situations and in this it may be that I have advantage over most of us. I had not the good fortune of sitting at his feet as a student but I had the honour to serve under him as a teacher and as the University Librarian throughout the six years he was Vice-Chancellor of Allahabad University. Thereafter I was Secretary of the Universities Committee of 1938-40 of which he was a prominent member. Later still I had the privilege of contact with him when I was posted at Banaras as Principal of Queens College while he was Pro-Vice-Chancellor of the University. More recently I have had the good fortune to serve on a number of Committees with him. As a public man Panditji has been so much in the forefront that one need hardly recall when he first made his acquaintance. He has always been with us and we pray he will always be with us.

I remember vividly the day when we met for the first time and I made a clumsy reply to his proposal that I should vote for him in the election to the University seat in the Legislative Council, under the Montague-Chelmsford reforms. I told him that I had decided to give my vote to the first candidate who asked for it and that he was the first. This incidentally was a violation of the Government Servants' Conduct Rules of which, however, I was at the time blissfully ignorant. Panditji

must have been shocked by this utterly irresponsible approach to the vital duty of citizenship on the part of one claiming to be educated and entitled according to the extravagant phraseology of those days to be called a Professor. He conveyed his sentiments in very delicate language exhorting me to weigh the merits of the respective programmes to which the parties whose candidates would seek our suffrage were committed. I need not say that these few simple words did more to bring home to me the importance of the vote than the good deal of reading I had previously done and have since done on the subject. They conveyed no new doctrine or formula, but they breathed the faith which the speaker cherished in the future of the nation and which I lacked. I was forced to reflect and in due course to shed my cynicism and to partake of the faith which has now been vindicated.

Despite the sharp contrast between my crudity and his refinement which came out at this early meeting—the contrast struck me at the time and cannot have escaped him—it is matter of congratulation for me that it has not prevented a deep affection from growing up between us. My respect for him, unbounded from the start, has gone on increasing and assuming an element of affection while his kindness, always proceeding from the depth of his heart, has found expression in so many forms, each more noble than the other, that it is truly one of the cherished possessions of my life.

The next incident I wish to recall was a speech he made in the course of a historic debate in the Court of the Allahabad University on the subject of co-education. He spoke as a member of the University Court representing the Registered Graduates (not yet as Vice-Chancellor). He won all hearts as much by the urbanity of his manners, the elegance of his diction and the forcefulness of his arguments as by the serenity of his temper and his refusal to be ruffled by the constant provocation of interruptions.

On the occasion of the election which resulted in installing him in the office of Vice-Chancellor, Allahabad University, he set an example of right conduct which deserves emulation. The contest was between

length, but also refuse to admit the authority of any one else be he one equally or even more distinguished in his own field.

Panditji's high sense of duty would not allow him to pass the responsibility for administrative business which the University's constitution lays on the Vice-Chancellor to other shoulders. He also took the duty, similarly imposed on the Vice-Chancellor by the law, of supervising and controlling the affairs of the University seriously. This was no easy task in a University ruled for ten years by a scholar whose policy of *Laissez faire* while endearing him to those who shared administrative authority with the Vice-Chancellor, had given rise to a doctrine (untenable under the law) that the wishes of the man on the spot should never be thwarted. Panditji in his heroic efforts to combat the centrifugal tendencies acted under the serious handicap—which has worked havoc since his time—that the incumbent of the exalted office which he held is a bird of passage holding office for three years while those over whom he exercises authority are permanent fixtures entitled, moreover, to a share in the governance of the University and in the choice of the Vice-Chancellor. It is no mean achievement that he was able to uphold the authority of the office against such odds without resorting to any of the now familiar methods of managing the University staff and authorities by judicious distribution of patronage, by the building up of a party of "King's Friends" and by packing the Executive Council and other University bodies. No student of contemporary history with full knowledge of the facts of the situation would withhold his admiration for the singular purity of his regime and the absence of any questionable methods of politics. His respect for the law and complete disregard of personal considerations is strikingly illustrated by the refusal of the Executive Council presided over by him to condone a small shortage in the attendance put in (at tutorials in a comparatively unimportant subject) by C. B. Rao (now of the I.C.S.) who besides being one of the best students of his class, if not the very best, was the son of Panditji's dear and esteemed friend Sir C. Y. Chintamani of Panditji's(Liberal) Party, Editor of the Leader whose frowns and favours

are matter of some consequence to the authorities of the University. That Rao lost a year thereby will hardly be believed now.

Outside the purely administrative sphere, Panditji had the tremendous advantage of his personality. By his gentle and persuasive manner and innate kindness he won the hearts of teachers and students alike and imperceptibly raised the standard of behaviour and mutual dealing. All of us who were priviledged (without exception) to partake of his hospitality got an object lesson in how learning should be honoured. His sense of dignity and propriety, his jealous regard for the honour and good name of the University coupled with his faith in the essential goodness of man and in the greatness of the destiny of the Motherland gave him the strength to defy the under current of evil in the University even to the extent of ignoring and disregarding its existence without however compromising with it.

Though both Panditji and myself left the Allahabad University almost simultaneously in 1938 we have both had a great deal to do with University education since. His is almost the first name that comes to everyone's mind when in search of a Vice-Chancellor to whom a University can be safely entrusted. He has been continuously serving the Banaras Hindu University in one capacity or another and was for years its Pro-Vice-Chancellor or Treasurer. He has been pressed to be its Vice-Chancellor and his friends would not have spared him were it not for the wisdom learnt from the story of the goose that laid the golden egg.

It is an irony of fate that although being a student of history I should be capable of taking a long view of things and should share Panditji's faith in men and the bright future of the Universities, I have failed to do so and in many matters our views have differed. I do not for a moment suggest that my views are entitled to any weight much less to anything like the same weight as Panditji's and indeed I would have made no reference to this fact were it not that even this fact reveals to me the greatness of Panditji's soul. Even twenty years ago when I was much younger and he at his zenith, he would never brush aside

any difference of opinion, as another in his position would only too readily do. He treated the opinions of junior colleagues with almost as much respect as he showed to opinions emanating from the highest quarters. He would not dream of over-ruling a person in subordinate authority whatever it might cost, in time and trouble, to bring him to reason or to adjust the divergence in views.

Panditji's personal magnetism attracts even the most shy. Of unsocial (as distinct from anti-social) being there is no dearth in the Universities and the office of Vice-Chancellor—high as it intrinsically is has been raised to greater heights by the jealous assertion of its dignity by some holders of it. Yet everyone who worked under Panditji at Allāhabad during his Vice-Chancellorship no matter in what position (as Dean of Faculty or as Chaprasi) has an irresistible impulse to run and greet him whenever he is in sight and on such occasions the best that we associate with Indian humanity and with the culture of the West (which some in this country have been privileged to imbibe through high education) exhibit themselves in a charming blend of benevolence, cordiality and refinement.

I join my numerous friends in the fervent prayer that Panditji may continue for many many years to give his invaluable services to the Motherland and to inspire and guide the younger generation who stand in greater need of such guidance today than ever before.

On these occasions he was really at home and frank and helpful as an elderly person is to his younger brothers and children.

May Panditji live to the full span of human life—100 years.

TO DR. GURTU—A TRIBUTE

SHRI B. SANJIVA RAO, M.A. (CANTAB.) I.E.S. RETD.

It was in the year 1909 that I first met Dr. Iqbal Narain Gurtu. There was already a small nucleus of a group of devoted workers that had gathered round Dr. Annie Besant. Dr. Aurandale, Miss Francesca Aurandle, Pt. Iqbal Narain Gurtu and a few others. In July 1908 there was a regular gathering of workers drawn from all parts of the world having one common but indefinable tie that had its beginnings in the distant past, but maintained in this life as a bond of love and friendship and loyalty, closer than that of family or race or even culture. Mrs. Besant recognised it, gave it the seal of approval, forged out of our separate individual lives a single instrument for the services of the Masters and of India. The yellow shawl was the symbol, the outer badge of that brotherhood.

This strange mystic attraction had drawn us from different parts of the world—Dr. Gurtu had himself in some mysterious fashion come into the field of Mrs. Besant's magnificent influence. When once one came under her matchless leadership, life had only one purpose, one supreme end, the utter dedication of it to the service of our Chief. She was to us the agent of those who guided the destinies of our Country and of the world. It was a great and wonderful adventure.

Forty four years have passed since that memorable union of hearts and minds in one great endeavour, the co-operation in the work of the Masters of Wisdom, that carry out the Will of the Supreme. Many

But we have now amongst us one who is teaching us that such a reconciling and harmonising Power is within us and not outside us. We are slowly becoming aware of this. I write this in the sure knowledge that that Power of Wisdom and Understanding is with us, bringing about this very reconciliation—and I have a deep faith that our elder brother who has attained a great age will now take a notable part in bringing peace and harmony in the world in which he lives.

I wish to send him on this occasion my deepest love and affection as well as a prayer that the work on which he and I are engaged may be accomplished swiftly and happily.

PANDIT IQBAL NARAIN GURTU

RAO BAHADUR R. MADHAVACHARI, B.A., B.E., M.I.E. (IND.)

It is a great pleasure and privelege to offer my greetings to Pandit Iqbal Narain Gurtu on his 76th Birthday.

His work, dedicated to the cause of educating the youth of the country, in the premier educational institutions and Universities in Uttar Pradesh, is very well known. From what I know, I have to make special mention of his inavaluable contribution, in collaboration with Sri B. Sanjiva Rao and other colleagues interested in the teachings of Krishnamurti, to the building up of the Educational Institutions at Rajghat-Banaras. Even when he drew a fat salary elsewhere, he took to himself only a small portion of it and gave the rest away, in an unostentatious manner, to benefit these educational institutions.

Gurtuji has struck me as a true aristocrat, in the best sense of the term, simple in his living and generous in his giving. Who, among those that have known him, does not also know of his refined manners, courteous speech, and kind hospitality? He knows his mind and, at committee meetings, he is not afraid of pressing his viewpoint unhesitatingly but in a conciliatory manner.

Even after half a century of hard and strenuous educational work, chiefly as a labour of love, he has vigorous mental powers, clear thinking, forceful expression of his views and methodical working. He has captured and kept the affection and loyalty of his friends. It is also well known what interest he takes in the well-being of the unlucky indigent people living in the near-by villages. It is easy to admire him, but difficult to be like him.

May he live long, quite hale and hearty, and carry on his work for the growth of the educational work at Rajghat till it becomes a flaming torch to guide the youth who enter the portals there, towards being free, intelligent and integrated, throughout their life.

As member of the Kanpur Bar
(1903)
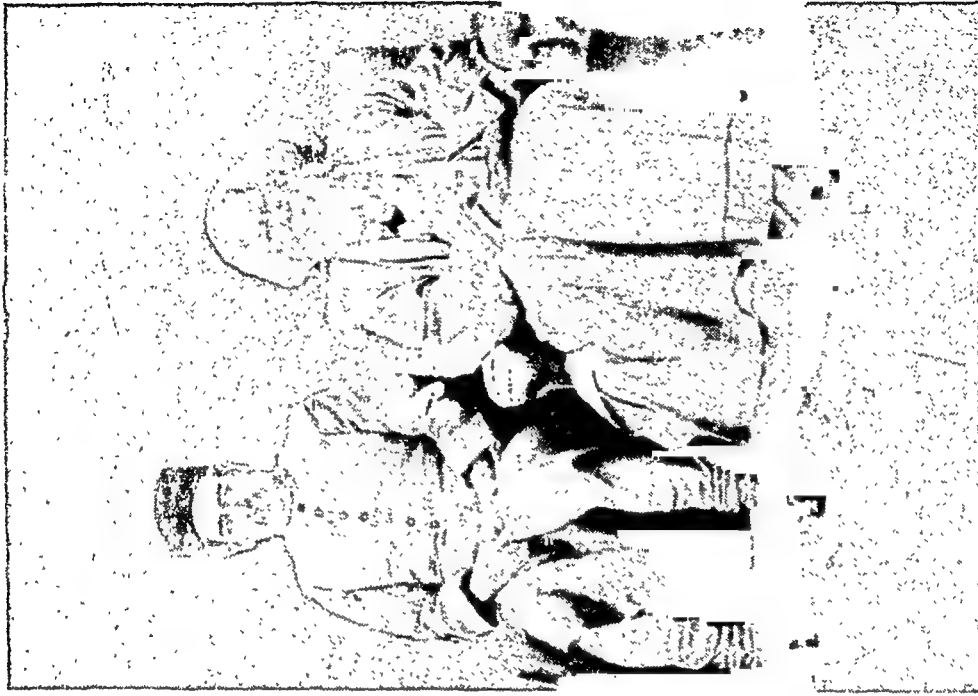
With Gurudeva
(1935)

PANDITJI

DR. B. DASANNACHARYA
[*Head of the Dept. of Physics, B.H.U.*]

I had the honour of coming in contact with Panditji when he was first appointed as the Pro-Vice-Chancellor of the Banaras Hindu University. A great man, one who was the Vice-Chancellor of the University of Allahabad, how could he accept a post of a lower rank ? One who was accustomed to be No. 1, how could he think of accepting a place, No. 2. Has he motives of manoeuvring, by methods of diplomacy to bring about some revolution ? Has he become a tool of some party in Allahabad to bring about the downfall of Sir S. Radhakrishnan the then Vice-Chancellor of the Banaras Hindu University ? These were some of the thoughts that flashed in one's mind at that time. These thoughts quickly disappeared when contact with Panditji for some time showed how utterly sincere he was and devoted to his work. His fine geniality, friendly and helpful approach and the great effort he made to really understand the root of a problem proved that here is a gentleman trying to fulfil some high purpose in life. I have a conviction that Panditji avoided taking decisions which would bring him into conflict with his chief, the Vice-Chancellor. Lesser men are known to take undue advantage, when dressed in brief power, to create embarassing situations. Panditji took time to come to decisions and would stick to them when once made. He knew how to face difficulties and stick to his orders. He was kindhearted and soon forgot things which deserved to be forgotten. I still feel that this picture is incomplete. Where have I mentioned about the gusto with which he could greet, a musical sweetness about it and those kindly eyes that shed lustre to his great personality.

When Panditji left the Banaras Hindu University to be succeeded by a finance man, he set about devoting his energies entirely to his favourite Rajghat Activities. Panditji maintained his connections

with the University as member of the Senate, Council or Court. In the difficult days of Pandit Govind Malaviya's Vice-Chancellorship of the Banaras Hindu University in 1949-1951, I recall with pride Gurtuji's bold stand in his speeches in the Senate to hold high ideals of academic distinction and scholarly experience. But it was a great strain for him and sadness crept into his heart and perhaps bitterness too. When I had difficulties in the University myself, opposing the arbitrary and autocratic regime then existing, Gurtuji heartened me with a sound analysis of the situation, when approached, which to some extent finalised the course of action I later took and succeeded : "No compromise with evil, speak out." All eyes turned on Gurtuji in 1951 and pressure was brought on him from many sides to help the Banaras Hindu University by accepting its Vice-Chancellorship. Did he jump at it ? He insisted on an unanimous vote from the Court of the University, the electing body. Many felt then that in these days of democracy his decision on it was wrong, but subsequent events have shown that perhaps he was right to stand aside for a new man. He is always at the service of the University. If the epithet of Sthitaprajna of Gita can be applied to anybody today it is to Panditji, indeed !

Panditji is in excellent health and boiling with enthusiasm : He is not old, but only 75.]

PT. IQBAL NARAIN GURTU

PT. DEVI PRASAD SHUKLA.

[*Acting Principal, M. M. Malviya College, Allahabad*]

I have known Pt. Iqbal Narain Gurtu for nearly sixty years. As a student of the Christ Church High School, Kanpur, I noticed two boys in the Queen's Park in 1892. Zulf or Pattas which they were wearing excited my curiosity and on enquiry from some friends I was told they were brilliant students of the local Government High School. One of them I remember was Pt. Iqbal Narain Gurtu and the other his elder brother Pt. Braj Narain Gurtu. They were sons of Pt. Indra Narain, a Sub-Judge and also a big Zamindar of Kanpur I would have tried to form acquaintance of Pt. Iqbal Narain Gurtu but he and his brother chose Muir Central College Allahabad for their higher studies. I could then see them only in vacations when they came home but now bereft of their Pattas. Pandit Iqbal Narain Gurtu was a good speaker even in his student life and used to take prominent part in literary activities. After passing his M.A., L.L.B., Examinations he came back to Kanpur and began to practice law under the guidance of his father-in-law Pandit Prithi Nath Chak, a great philanthropist and leading lawyer of the city. Even while practising law Pt. Iqbal Narain Gurtu engaged himself in public activities at Kanpur. Till then I had not noticed that he had also a religious turn of mind. One fine morning I was informed by a clerk of Pt. Prithi Nath, who was my neighbour, that Pt. Iqbal Narain Gurtu had given up practice and had decided to go to Banaras to do some public work in honarary capacity with Mrs. Besant who had just founded there an institution called the Central Hindu College. He placed himself unreservedly under Mrs. Annie Besant who appointed him as an Honarary Head Master of the Central Hindu School which flourished under his care and blossomed into a College and subsequently became a nucleus of the Hindu University of Banaras. Pt. Iqbal Narain Gurtu is industrious and thorough in the performance of any work great or small which he undertakes. His life has always

been one of plain living and high thinking. He remained contented with his private income. If he had stuck to the Bar, I am sure, with his clear head and eloquent tongue he would have been rolling in wealth; but he preferred self-sacrifice and while quite young set his face against goddess Lakshmi and began to adore Saraswati. Some persons tried to dissuade him but to no avail.

I had become more friendly to him by now and visited Banaras when he was Head Master of the School. He took me round the Institution which I suppose was the first of its kind to have a music class and to give instructions to the students in Sanatan Dharma. Pt. Iqbal Narain worked side by side with Mrs. Besant and took share in all her activities. In fact he is one of her most faithful disciples. He is an ardent Theosophist though he does not look one on account of strong common sense which he has got and a fund of humour which he possesses.

He was always a Congressman until there was a split in it when he joined the Liberal group of Politicians. He is a social reformer but one of conservative variety. During the First Great War his politics were those of Mrs. Besant who asked him to go to England on a political mission when sea-voyage was not free from peril. But the India Council there considered him too hot and he was not allowed to land there and had to come back from Gibralter. During the Non-co-operation days he was an elected member of the U.P. Legislative Council and was also for some time Parliamentary Secretary of Pt. Jagat Narain Mulla, one of the two ministers of the Government.

Public activities of Pt. Iqbal Narain Gurtu are manifold but he is pre-eminently an Educationist. He represented registered graduates in the old Senate of Allahabad University and became a member of the Court and the Executive Council when it was reorganised as a teaching and residential University in 1921. After the retirement of Pt. Ganga Nath Jha, Vice-Chancellor of Allahabad University it was with some difficulty that some of us succeeded in persuading him to stand for the Office. He imposed two conditions. First, that he would not canvass for himself as the post was a salaried one, and second, that he would not vote for himself. He strictly adhered to his word and not only did not

canvass for himself but sometimes would make our task difficult by releasing friends whose promise for vote we secured. We also were trying for him had to face a strong opposition but the popularity and public work of Pt. Gurtu was the only weapon with which his canvassers, few in number, fought and succeeded. Pt. Gurtu remained Vice-Chancellor of Allahabad University for six years. The University celebrated its Golden Jubilee during his time. During his regime the affairs of the University were conducted with efficiency and great success. Pt. Gurtu gave a substantial part of his salary to the institutions he had nursed. In recognition of his services Government has rightly made him a life-member of the Court of Allahabad University and the University has quite appropriately conferred a Doctorate on him.

After retirement from Allahabad University Pt. Gurtu was not allowed to enjoy rest. The late Pt. Madan Mohan Malaviya stood badly in need of a Pro-Chancellor for the Hindu University, as its Vice-Chancellor Dr. S. Radha Krishnan had to go away every now and then from there for long periods. Malaviyaji and Dr. Kanhaiya Lal earnestly apppealed to Dr. Gurtu to take up the work. He who was the Vice-Chancellor of Allahabad University for six years did not allow dignity to stand in the way and he yielded to the persuation of Malaviya ji. He served the Hindu University of Banaras as its Pro-Vice-Chancellor faithfully and efficienctly and with great tact, specially in 1942 when the University was in a very great danger. As a member of its Executive Council he constantly assists the authorities of the University.

All this time Pt. Iqbal Narain Gurtu has not slackened his activities in the field of Theosophy. Even during his retirement he is looking after the educational institutions of the Rishi Valley Trust.

May he lead long the life of a Rishi.

MY REMINISCENCES

SHRI SATYANARAYAN CHOWDHURY
[*Distt. and Sessions Judge, Bihar.*]

The 76th birthday of Pandit Iqbal Narain Gurtu is not merely an occasion for immense joyousness to thousands of persons like me all over the country but also an opportunity to express our deep debt of gratitude which we owe to him and for offering a prayer for many a return of this happy day.

Almost the very first personality with whom I had the privilége of coming in contact, after going to Banaras, was Panditji. I was taken to him as a candidate seeking admission into the 7th Class of the Central Hindu School, the renowned institution of which he was the illustrious head master. I went to Banaras when the session had already far advanced and the advice of the head master was that I should take admission into a Class lower than the one to which I had been promoted in my old School. The suggestion appeared as atonce derogatory to my childish pride and I said I would rather go back to my old School in the Province of Bihar. This evidently evoked the sympathy of the head master, who was, almost universally, regarded as a very stern person to deal with. He modified his original suggestion saying that he would admit me into the higher class on condition that I would be promoted, only if I succeeded in securing first class marks in each subject separately. This to my mind is illustrative of the amount of interest and meticulous care which he brought to bear on the ultimate welfare of each student of his big institution which had on its rolls, I believe, about one thousand youngmen. As a guardian I now realise the wisdom contained in that advice and I wished this advice was availed of by many a guardian who in their anxiety to push up children cause them a grievous wrong.

The atmosphere which had been created by him and his colleagues in the Central Hindu School and College was full of life and inspiration.

My own impression of the time is that the whole atmosphere was so thoroughly surcharged with life that one could sense even the bricks of the buildings pulsating with life almost palpably. One of the factors which created this atmosphere was perfect discipline to which he subjected himself as much as he did those under his care. His regard for discipline was deep and the thoroughness with which he enforced it inspired in the alumni a sense of awe. I remember very distinctly how the information of his coming towards any particular bloc of the School or wing thereof spread almost instantaneously and every body concerned, the teachers probably more than the students, became all attention and alert bringing themselves into a sense of readiness to face the awe inspiring presence. My friend Mr. K. Rajagopalachari a pupil of his (who himself in his own turn became a renowned head master of a large School in Rangoon) will bear me out when I say that it required a lion's heart to face that presence when one was called upon to answer a charge of indiscipline complained of by some teacher. Discipline was not at a discount in those days and most of us are grateful for having been subjected to a bit of grinding.

Underneath this stern outer aspect there breathed a heart which was full of deep love and sympathy for his students and it did not need much effort to discover the same. My own feeling is that when he came over to the Theosophical Collegiate School he made a definite and positive attempt to bring out into a bolder relief this feeling of love which was really of a profound nature and which he bore all along in his immense heart for his students. The importance of love became very much emphasised in the Theosophical School which started on its career with the motto "Education as Service" and where the medium of instruction was to be love and love alone. The look he wore in the Theosophical School was always "imperial" and never "imperious".

He tried to observe every student placed under his care and develope in him the faculties sprouts of which became noticeable to his keen and observant eye. The interest he took in and the pains he took to nurture carefully the forensic skill of Mr. Kanhaiyalal Mishra (now the Advocate General of the Allahabad High Court) is, I feel, in no mean measure, responsible for the high position occupied by him.

His anxiety to be just and fair to everyone to the utmost limit is demonstrated by the following incident related to me. He was called upon to examine 19 answer books. Instead of getting through all the answers in each book, he examined the answers of each question of all the 19 students and allotted marks to all of them before proceeding to examine similarly other questions.

A student had to know him once and he became his eternal friend, philosopher and guide. Long after we ceased to be School students we would run to him not only for lectures necessitated by the sins of omission if not of commission of our university professors but also for homeopathic doses, in selection of which, he brought the keenness of his intellect to bear fully and which therefore worked miraculously. Many a student unburdened his heart and profitted not only by the advice but also help in diverse other ways which was readily forthcoming.

Panditji was called upon to fill positions of responsibility not only in the domain of education but in other walks of life as well. It is hardly necessary to make mention of his work as Vice-Chancellor of the Allahabad University for three terms and as Pro-Vice-Chancellorship of the Banaras Hindu University. His services in the capacity of the Chairman of the Banaras Municipality when he made an attempt to root out corruption against very heavy odds, is remembered by many. He worked so hard in that capacity during his term that it was not easily possible to find him at his house at all.

His courage shone indeed very bright when at the behest of his great leader Mrs. Besant, he, during the first World War, undertook a journey, as a member of the Home Rule League deputation to England. The War was in full swing and the ravages of the enemy both on land and sea made a journey to England more than hazardous. I distinctly remember the feeling of intense affection and concern which surged in my mind as it did, I am sure in the mind of numerous others when we all gathered at the platform to see him off. The deputation was not allowed to proceed beyond I believe Gibralter and this abortive nature of the journey was the butt of many a joke and prompt repartees exchanged between Panditji and Telang Saheb (Mr. P. K. Telang) when

they were in a lighter mood. It was a pleasure indeed to witness the two intellectual giants pitting against each other their keenness of intellect and the sparkling nature of their wit and humour.

He was a staunch follower of Mrs. Annie Besant who had chosen for her epitaph the words "SHE TRIED TO FOLLOW TRUTH". I have no words at my command to describe the love, the devotion and the sense of loaylity which he had for the great personage who was indeed a PHENOMENON, the world is privileged to see once in several centuries. He placed his services completely at her disposal and remained loyal to her till the very end of her life.

I hardly realised that information about his loyalty and devotion to Mrs. Besant had become so widely known in Banaras till I came across a poem, composed, in the lighter vein, on the occasion of Holi festival in which a person hardly known to anybody, composed a poem delineating the characteristics of important personages of Banaras. The lines describing Panditji which illustrate my point ran as follows :

Mai ke ek banka lal
Okar Khoob badhal iqbal
Guturguturgun kailas khoob
Auro nam kamailas khoob

माई के एक बांका लाल ओकर खूब बढ़ल इक़बाल ।
गुतर्गुतगूं कैलस खूब और नाम कमइलस खूब ।।

Panditji dedicated all that he had to the service of others and thereby made, of his life, a sacrament. His renunciation of all that a worldly career had to offer was indeed marvellous. He had an uniformly brilliant academic career throughout. He also had available to himself not only all facilities for establishing a lucrative practice but also a sure prospect of coming to the top of the Bar. He hardly ever worked for money in his life and whatever money came to him unsought for, by way of emolument, got mostly distributed to the various Theosophical institutions at Banaras and Allahabad.

His life and that of persons like Mr. P. K. Telang, of revered memory, remind me of the Rishis of old who in their Ashrams gathered round them pupils and to whom they gave the advantage not only of their rich experience and wisdom but also of what is inestimably of far greater importance, the privilege of intimate association through which the pupils learnt a great deal more than by mere precepts.

For more than two decades now he has been in close touch with Mr. Krishnamurti and as far as I am able to understand he is trying to live the life not with any motive but for the intrinsic worth and beauty of living the life for its own sake. I understand that he is to play the role of the "Silent Watcher" of "The Foundation For New Education" recently started at Rajghat and expected not only to provide the spirit but create the necessary climate also which will be essential for crowning the new experiment with success.

May he live long and happy !

A TRIBUTE AND APPRECIATION

Shri D. Subrahmanyam, M.A., *Librarian, B.H.U.*

Many thanks for giving me an opportunity of paying my humble tribute of respects and regards to Pandit Iqbal Narain Gurtu who is the living embodiment of great ideals of education in the Renascent India. For the generations of the first quarter of this century, the great luminaries of the Central Hindu College firmament, Babu Bhagwan Das, Pandit Iqbal Narain Gurtu, Sri G. S. Arundale and Sri P. K. Telang are names to conjure with. Who can forget the affable and amiable qualities with which they charmed the younger generation that came under their influence. Dr. Annie Besant with a great insight gathered round her these rare types of men with the full confidence that they would contribute their best to make the Central Hindu College an ideal educational institution. A revolution was brought in the methods of imparting knowledge. New ideals of humanity, love and sympathy were brought to bear in the education of youngsters. The Central Hindu School of the times of Panditji was considered the best and its idealistic methods were copied and followed throughout India. The success of the achieved ideals in the new set-up of education, in the Central Hindu School emboldened him to carry it further into Rishi Valley Trust institutions at Rajghat. This bears an ample testimony to his untiring interest as an educationist and these institutions are standing monuments to his memory.

My reminiscences of Panditji go to the year 1919 when he came to teach History to B.A. class in the University. His serene personality, polite manners, amiable temper and scholarly disquisitions made on us such an impression that we felt we were fortunate to come under his benign influence; but alas ! it was only after a few days, we came to know to our great disappointment that he had to leave us to serve as an Under-secretary to the Ministry of Education in the Provincial Government. Later on, as a Local Secretary of the First All-Asia Educational Conference in 1931, I had had occasions of getting the benefit of his advice and

instructions. His uniform courtesy, patient hearing of others' view-points and sober wisdom, endeared him to us. The success of this great conference that raised the Asiatic Nations from their torpor and cemented their cultural relations more firmly can be attributed to the assiduous and indefatigable work of Panditji and his compeers, keeping themselves away from limelight.

After his appointment as Pro-Vice-Chancellor of the Banaras Hindu University (1941) I had further occasions of comming into contact with him. He seldom absented himself from any Library Committee meeting. It was his farsighted wisdom that envisaged the utility and necessity of introducing this new type of study of Library Science in the University Curriculum. The support and impetus given by Panditji and Sri S. Radhakrishnan led to the starting of the course in the University. It developed in a decade to an important vocational subject in the University, offering opportunities to many unemployed graduates for large social service in the intellectual and moral life of the community.

We can firmly assert that Panditji shaped the destinies of a generation of youngsters by indelibly stamping in them the high ideals of sincere service to humanity and to one's own country. His unostentatious life is an example to be emulated. Even in his 75th year his vigorous and strenuous work towards education not only excites our admiration but incites the younger generation to keep him as its ideal.

It is my great pleasure to felicitate him on this happy occasion with this humble tribute of respect and regard and to pray to Lord Vishwanath to dower him with the full span of life, enjoying sound health, prosperity and success in his endeavours for the uplift of the future generation of our motherland.

———

MY FRIEND & LEADER PT. IQBAL NARAIN GURTU

Pt. Ramchandra Shukla, M.A., L.T.
[*Ex-principal, Training College, Unnao*]

I came to know Pt. Iqbal Narain Gurtu as early as 1913 when I was a college student at Lucknow and used to visit Banaras to meet my great friend and teacher Prof. P. K. Telang of revered memory. Prof. Telang was then working as Headmaster of the Theosopnical School, and to pass my time I gathered courage to go to the office of the General Secretary of the Theosophical Society, Pt. Gurtuji, and found in him a very genial friend and a mine of information. I am told that as Headmaster of the Central Hindu School Panditji was known for his strict discipline and was looked up with great awe and reverence. But I found Panditji anything but awe inspiring. I was a mere boy then, yet Panditji treated me with such courtesy and consideration that I began to love him like an elder brother and could speak to him about all my troubles and difficulties. I have never lost his friendship and guidance during all these forty years and have received any amount of help from him during this period.

With all his idealism for which he gave up his career as a promising lawyer at a comparatively young age and devoted himself to honarary service as an educationist, Panditji is a very practical person, careful of details and keen on efficiency. In matters financial, he is extremely cautious and whereever he is in charge, that side of the work whether it is a college or school, a conference or a camp, is assured of being well looked after.

He is a great organiser. I have seen him looking after the Annual Convention gatherings of the Theosophical Society, seeing to little details and yet finding time to attend to the needs and idiosyncrasies of individual visitors from various parts of India. At the Jubilee Convention of the Society in 1925 at Adyar at which were gathered together Theosophists from all over the world he went round every hut in the

camp enquiring after individual members and their requirements, seeing to their comfort and convenience. In the midst of all activites; he never fails to give a personal touch.

Among the prominent workers of the T.S. in these Provinces Panditji was the man most in touch with the outside public and it was due to his personal prestige and influence that from the very beginning our Boys', Women's and Childrens' institutions in Banaras received such support and patronage.

About his ability as legislator and public man, there are men better qualified than myself who will speak with experience and authority; but as a friend and as a guide, as a teacher and leader, he is a most loved and loyally followed man. He is ever cheerful and ready-witted, easy of approach and ever ready to help.

May he live long to inspire and guide us.

SHRI BENI SHANKAR BHATTA, Bhavnagar

I take this opportunity of heartily congratulating Bro. Panditji on his entering seventy-sixth year not because he is so old but because he has led a useful life in the cause of humanity. One of the chief qualifications of his is his sweetness of temperament and his adaptability to adjust and work with all. He has passed through many a crises, the chief being when the Central Hindu College was taken away from him, and he was truly dispassionate at that time. The College was built by the efforts of Dr. Annie Besant. The Order of the Star was started by some of the principal workers of the College.

One of the leading members' of the Committee became bitter and launched attack against Dr. Besant and for some time Panditji withstood an attack but afterwards all faithful people resigned in which Panditji also joined. The magnificent institution was lost. Dr. Besant was in England at the time. Soon afterwards Panditji and others started another institution. Panditji was not only loyal to a person but to an ideal. When Dr. Besant passed away some friends left the Theosophical Society but Panditji was loyal to the cause and he has remained faithful to the end. When Dr. Aurandale and Mr. Jinarajadasa were presidents he attended every Convention and was a member of the Managing Committee and of the Executive Committee for some time. It was the magnanimity of Panditji that the question of the College building was solved so easily.

What experience I had was when he was the General Secretary and I was worker in Gujrat assisting him in the grand work that he was doing. I am away from the U.P. but his chief work was in U.P. His sweetness and adaptibility and loving temperament are remembered by all. May he live long to serve humanity in the cause of the Holy Masters to whom he has so lovingly dedicated.

THE BEAU-IDEAL OF A HEADMASTER

SHRI P. SUBRAHMANIAM, M.A., L.T.
[*Asstt. Prof. (Retd.) T.T.C. B.H.U.*]

Pandit Iqbal Narain Gurtuji became the acting Head Master of the Central Hindu Collegiate School in 1907, when Mr. Arundale proceeded to England on a short leave. Panditji had joined the institution a few months earlier and had been teaching English to the High School classes. The writer had the privilege of being one of his earliest batch of students who attended his English class at the High School, and still remembers how he taught "In Memoriam" to the students of the ninth class.

His perfect pronunciation, his correct accent and the natural ease with which he enabled us to appreciate the Poem are still ringing in the writer's ears as if the lesson had been taught only overnight. But he does not propose dilating here on that aspect of Panditji as a teacher. He would rather like to say a few words about Panditji, as the Head Master or as an ideal Head Master.

It has been the privilege of the writer during the last 30 years of his service to be in close contact with Educational Institutions, where day in and day out students were prepared for becoming good teachers and good head masters and responsible heads of Educational Institutions. Although the list of successful headmasters is practically a legion, ranging from Mr. Arnold of Rugby to Pandit Mathura Prasad Misra of the Local Queen's College, during the end of the last century, and all these names commanded our respect for their individual merits, the only living ideal of a Head Master that stood before the writer's eyes all these days is that of Pandit Iqbal Narain Gurtuji.

His punctuality, his great sympathy and loving consideration for his students and colleagues, his extreme sense of justice which was always tempered with mercy, his notions of discipline and capacity to maintain the same without fuss or ado, his strong and loving personality,

his deep scholarship, his dress and upright handwriting which was a symbol of his upright and straight-forward character—all these presented him before our eyes as the living Ideal of a Head Master.

Although his term as a Head Master at the Central Hindu College was only short, lasting fpr about a quinquennium he has left such indelible impressions on the institution that his successors could easily bank on his achievements and win laurels for themselves.

Happily for us he is still with us. I pay my simple and respectful homage to him for all that he has been to me during all these years and pray to God to give him long life and good health to continue to inspire the rising generations by his noble and unostentatious example of self-sacrifice and patriotism.

A TRIBUTE

SHRI BHAGAT RAMKUMAR

[*Principal B.T. College, Madanapalle*]

My Namaskars to Panditji on scoring five years more than the Palmists' 3 score and ten—and yet retaining the full vigour of body and mind that I first contacted 43 years ago. Among the many makers of Modern India Dr. Besant stands the foremost and like all other builders, she could only succeed to the extent of the number, capacity and loyalty of her colleagues. Among these Panditji occupied one of the first positions. Practically from the very begining, he was the Headmaster of the C.H. School at Banaras—and continued as such till 1913 when Mrs. Besant's connection with the Educational work at Banaras temporarily ceased.

In every way Panditji was the opposite of the other lieutenant of Mrs. Besant Dr. Arundale, the Principal of the College, where the latter was all warmth and joviality, Panditji was all dignity and reserve. Dr. Arundale was always speaking, Panditji never made a speech. Dr. Arundale was always ready for Hockey and Tennis, Panditji never entered the playground or the Tennis court. But this contrast was just the quality required to build up the great traditions of the C.H.C, for it prevented either extreme. We admired Mr. Arundale but we respected Panditji, and his reserve was just the quality so necessary to contain freedom from degenerating into disrespect. The C.H.C. created a new set of students in India whose hallmark was this balance between freedom and subservience and this was the consequence of the joint work of the Headmaster and the Principal.

God's ways are mysterious. In 1913, it appeared as if all Mrs. Besant's Educational work had crashed. But in reality it was only to release her lieutenants for the Political work that she entered in 1914. Old Educational ties would have mobilised the best of her workers, and so 1914 found Panditji plunging into the political work of agitation.

It must have been entirely against his grain, for by temperament he is essentially an intellectual and an educationist. But needs must when Amma's call came, and in U.P. Panditji became the focuss for Home Rule agitation. The Montague-Chelmsford Reforms gave him an opportunity for constructive work as Legislator and Administrator. But the days of the intellectuals were numbered and with the appearance of Gandhiji on the scene in 1919 new forces were called into existence which as in the French Revolution, first devoured their parents. And so Panditji like other intellectuals, soon went into the political wilderness.

But in effect it was a blessing. For once again he revetted to his first love and has on the ashes of the old C.H.C. built up another Educational institution.

May he live long to inspire our love and affection.

———

A TRIBUTE

Dr. S. K. Chowdhuri, M.B.,B.S., Banaras

I have known Pandit Iqbal Narain Gurtu for more than forty years. Before I met at Banaras where he lived as a neighbour of mine, I had heard of him as a devoted colleague of Mrs. Annie Besant in her self-imposed task of educating the youth of India according to her conviction. She was opposed to the secular type of education favoured by Government. She strongly felt that there should be a background of religion in the curriculum of studies; without it the future generation would be brought up deprived of spiritual outlook of life which had been the heritage of the people through the centuries. Her strong faith, powerful eloquence and, above all, magnetic personality attracted a noble band of workers of whom two are still happily amongst us, namely, Dr. Bhagwan Das and Pandit Iqbal Narain Gurtu.

Panditji has identified himself with the ideal of service in the field of education "as a basis of worthy enterprise". It was an act of self-denial; he might have done better as a lawyer from the worldly point of view. As Vice-Chancellor of Allahabad University and later as Pro-Vice-Chancellor of Banaras Hindu University, he showed himself a capable administrator. He is outspoken and firm without being rude. As a speaker he is listened to with attention. His regular habits which have contributed to a long and useful life will, it is hoped, prolong it still further and may he live long.

GURTUJI AS A HEALER

Dr. Shivanath Khanna, M.B.,B.S., D.P.H., Banaras

On his 76th birthday handsome and magnificient tributes will be paid to the numerous qualities of head and heart with which Panditji is so richly endowed by Providence. His achievements in the vairous fields of life, legal (short though it was), educational, political, legislative and Theosophical are also bound to be eulogised by our countrymen from far and wide. But what has infinitely impressed me as a doctor, is his intense sympathy for, and eagerness to serve the ailing humanity. Not many people know of his great clinical acumen as a homeopath, and fewer still know that despite his busy life he had been snatching some time atleast to give medical relief to poor and needy patients by giving them free medicines and effecting marvellous cures through the tiny globules.

During my close association with his unique personality I had many occasions to watch his penetrating study of the case-history, and his acute power of observation both of which are so essential for the successful understanding and cure through the miraculous and elusive science which goes by the name of Homeopathy. It was extremely illuminating to discuss with him the various pros and cons of some cases which presented baffling features and symptoms, and in most of which he was able to give effective relief. Unlike some very conservative and orthodox homeopaths, his belief in Homeopathy is very rational and not at all dogmatic. He fully appreciates the need for its progress and expansion on uptodate lines and its coordination with other systems of the art of healing. I recall a case, which is only one of many others, which has fully conviced me of the immense good that may result by rationally coordinating the different sciences of healing. It was a Kala Azar case with acute brochitis of the lungs, and related to the days when Penicillin and allied Chemothereupeutic drugs were unknown. Due to the lung condition, the specific treatment of Kala Azar by antimony preparations was out of the question. Panditji's firm and clear opinion

was that the lung-condition should be tackled with homeopathy first, and when that had improved and the patient was safe for a course of antimony injections, the same should be taken up then. The small pills given by Panditji resulted in clearing the lungs in a surprisingly short time and the antimony injections that followed it effected a perfect cure.

Such instances of cures of difficult and serious diseases by Gurtuji are not few; but what has struck me even more, is his humane aspect of dealing with the patients. The words of solace and consolotation given by him immediately do half the healing and greatly relieve the patients' relatives of their distress and anxiety. Considering Panditji's interest and proficiency in this system of the art of healing I have often asked myself the question if Panditji has not missed his real avocation of a doctor of medicine, despite the fact that he has more than one doctorate decorating his name. Here,—and the digression may be pardoned—I am reminded of a story wherein a certain person at the dead of night rushed his ailing relation to a Mathematics professor's house whose signboard announced his name as Dr. so and so. On being frantically called out, the learned professor came out and explained to the man that he was a Doctor of Mathematics, and that he did not treat patients. The man flared up and burst forth saying that "You appear to be a very bogus sort of a Doctor; you like to make easy and comfortable money during the day only, but when the real hour of trial comes you even deny the fact that you are a Doctor." The man left the professor's house heaping a volley of abuses upon him. The perplexed and bewildered professor quietly removed his signboard never to display it again. The same fear was expressed by our Prime Minister Sri Jawahar Lal Nehru, when on being given a Doctor's degree at the Special Convocation of the Banaras Hindu University in the year 1946, he happened to remark, "Now that you have made me a doctor, what if patients began coming to me asking me for medicine!" Happily, Gurtuji need entertain no such fear as he will meet all situations, and during all hours of the day and night.

I greatly rejoice in offering my humble but heartiest tribute to Panditji on his seventy-sixth birth day and pray to the Supreme Father

to grant him a full hundred years' life to enable him to continue to render his services to his fellowmen in various domains, and ever remain a source of inspiration to the younger people.

AN APPRECIATION AND TRIBUTE

Shri P. H. Patvardhan, M.A.

Pandit Iqbal Narain Gurtu will be 75 years old this month. I am happy his students, colleagues and friends are bringing out a special commemoration volume.

Very few men in India have the good fortune to come so near the vedic ideal of 100! To be so young and active at 75 is a rare good fortune. I would like to pay my tribute of respects and greetings to Panditji and wish him many happy returns of the day.

I should have known him long ago when I was a student and had the good fortune to sit and study in the Hindu University under my teacher, Prof. P. K. Telang. In those days Gurtu Sahib was a Deputy Minister and used to be mostly away in Allahabad. I saw him from a distance and was impressed with his European look and inspiring manner. It was only in 1949 when I came as a pilgrim to Rajghat and got some teaching work in the Besant College for a short period that I came to know Gurtu Sahib more intimately. He was good enough to let me live on the first floor of his house. We were admitted to his family circle in a very short time. I saw that inside his awe-inspiring manner he was so kind and humane. If I may say so we became friends.

He belongs to a generation that is fast disappearing. He has been an idealist and a seeker since his young days. Dr. Besant, that great leader of men, immediately picked him up and he became one of her most devoted and loyal lieutenants. He has devoted his long life

to education. He has lived a hard and strenuous life. Pomp, pleasure and comfort have never had any attraction for him. The method and the thoroughness with which he works is marvellous. He has an infinite capacity for taking pains. Once he takes up a work nothing escapes his attention. He gives personal attention to the smallest details. If Rajghat exists and is a going concern today, it is largely due to his care and supervision. Gurtu Sahib is one of the most loveable 'Conservatives' I have met.

All of us these days, like to be liberals and radicals; we want to be on the wing. We feel that to imagine is to be. Dreams are we say the only reality. Gurtu Sahib can admire flights of imagination. He is a lover of poetry and has many lines of Persian Poets on the tip of his tongue. He has himself composed some poetry. But he can never forget the solid earth and the grim facts of circumstance.

After having spent a life-time in working with Dr. Besant and having accepted the place of "Authority" and "Organisation" in bettering the world he has not discarded Shri Krishnamurti's revolutionary philosophy of "Life in Freedom". I have seen him struggle hard to understand the new message. How many of us, I often wonder, will have the capacity to have this youthful freshness of mind and heart at seventyfive ! He is young not because he has the look of a young man (that is only the Kashmere blood) but he has not ceased to wander and to learn. It is his thoroughness and utter honesty that I admire most. There is no hanky-panky or flighty goody—goodyness about him. He is a man of action. He will not take a step unless he is sure that it is justified and practical. He will not allow himself to be hustled or hoodwinked.

That he continues to be the Chairman of the New Education Foundation at Rajghat is a tribute to his sense of great Loyalty, Duty and youthful enthusiasm.

I salute him and wish him many happy returns of this day.

A TRIBUTE

T. BHATTACHARYA

[*An old pupil*]

Pandit Iqbal Narain Gurtu belongs to that small group of men whose veracity upholds the world. In my humble tribute to our revered Panditji I do not wish to dwell upon his manifold qualities of head and heart as they have been so well done by all the eminent men of India today. He is a dedicated soul and the character of such a man is of stellar greatness. Although the Sun in its splendour illumines the universe, it can and does allow itself to be completely reflected by a dew drop on a blade of grass.

Here I shall mention only two instances which show how far he is above narrowmindedness. We have been accustomed to hearing the high praises paid to him for his indefatigable energy and selfless devotion to duty as a Vice-Chancellor or as a Chairman of the Banaras Municipal Board. But once I was surprised to find this praise coming from wholly unexpected quarters. I once visited J. P. Mehta Inter College in connection with the High School Examination of our boys. During my conversation with the Principal Shri Mukerji, he told me that we were very fortunate in having Panditji to guide us. He said that not only ours but his institution also owed its very existence to Panditji who, when it was on the point of being liquidated, helped it to survive the crisis and it is largely due to his selfless work that J.P. Mehta College could become such a big institution. Though he used to be so busy with the great duties of a Vice-Chancellor still he had time and energy to work for the children, boys and girls of the three institutions. For him a boy in the nursery class is as important as a scholar engaged in research work at the University.

I have had occasions to see Panditji not hesitating to do even the manual work, if it were needed to encourage the children at Rajghat. Once on the occasion of a gathering for Urdu Mushaira I found him helping us in spreading the Durees. For a man of his old age to be

so eager to lend a helping hand was an example to the younger generation.

Let me conclude by praying to the Almighty to spare him to us for many many long years to come and be friend, philospher and guide to all of us, as he has been during the past half a century.

A TRIBUTE

JAGANNATH PRASAD

[*Besant College, Rajghat*]

Although I had known and admired Gurtuji for a long time, had met and paid him my respects on many occasions and had received from him a kindly smile and an enquiry as to how I was doing, I have had no conversation with him worth the name, for I had always kept myself away. It was only 3 years ago when I was staying here at Rajghat during the summer days and when in response to a letter from Shri Vishwanathlalji, I went, one evening, to Panditji to enquire if there was anything to be done for him that I had the first opportunity of talking with him. We sat under the small shed near his Bungalow overlooking the banks of the Ganga and talked for a pretty long time. We covered a variety of subjects—hostel life, discipline, curriculam, political situation and the life. I returned to the hostel with my mind filled with pleasant memories of the conversation and a sense of regret at having kept myself away from Panditji for so long a time. Since after that evening there have been numerous occasions when I have met Panditji for a variety of purposes and have had some very memorable talks with him. The result of all this has been that the former feeling of awe has yielded place to one of respect mingled with affection, and I feel convinced that

behind the external sternness there is beating a very human heart which is easily moved by the joys and sorrows of others. This was quite apparent to me during the days when I went to him for medicine for my ailing wife. Moreover, this contact with him has been a source of great inspiration and lesson to me. I have seen him sitting at his desk for hours on end pouring over details of various kinds and have wondered at his capacity for work even at this age, and often a question has arisen in my mind, "what prompts all this ?" And the only answer that the mind has echoed back is "so that the institutions may live and thrive." Therefore in my opinion Shri Madhavachari's description of Panditji as the 'Patriarch' of this family at Rajghat seems to be very apt. And as a member of this family I rejoice this day on the Patriarch's completing 75 years of his very useful life in a state of physical health and mental vigour, pay him my respectful homage and pray to the Supreme Father to spare him for many more years to come so that he may live to help and guide his family to grow into the ideal community that Krishnaji envisages.

LIBRARY, SCIENCE AND EDUCATION

D. Subrahmanyam, M. A.

[*Lecturer in Library Science and Librarian, Banaras Hindu University*]

It is an irrefutable and undeniable fact that libraries play a very important role, which is second to none, in the education and regeneration of the modern world. The establishment of Democracy guarantees to its citizens liberty and equality and the library offers unlimited opportunities for the practice of these principles. Democracy is 'the kindly nurse of sublime genius' with whose strength powerful minds flourish

and disappear as it declines. "Liberty supplies nutriment to the lofty conceptions of great minds and feeds their aspirations. The flame of mutual emulation is fostered and ambition for pre-eminence is stimulated." It recognizes the individual liberty and freedom to work out individual destiny and enriches human life in the entire community by providing 'the best reading for the largest number at the least cost.' The work of libraries is thus pre-eminently a part of the large system of education and the famous utterance of Thomas Carlyle 'A true university in these days is a collection of books' and the implication of the Sanskrit aphorism (Kosavan Acharyah) 'to have a library is to be educated'—come to be true.

Education, what it is :

Education is not mere learning; it is the bringing out of the full powers of every man and giving him the capacity and training to use them not only for his personal benefit but for the benefit of others and for the general good of the community. The history of education shows us how from an extremely narrow interpretation it developed into a broad one. It is not mere development of the intellect. All human progress and all human relations depend on education. It embraces all the great forces that move mankind young and old as well. It does not end with the courses of study pursued within the four-walls of a school or college but includes study outside working hours at home and other places. It is not only removing illiteracy but giving opportunities and facilities to further the growth of knowledge.

The present day ideal of any national education does not restrict itself to a few—the upper centiles of the community and be a close preserve; it should give to every member of the nation—the lower quartiles even—the full benefits of schools and libraries. This universal national advance of the uplifting of the masses can be propagated in a wide scale by library service only. No mass literacy movement in a country can achieve lasting success unless library science is given its proper place in the national life of a country. The mere learning of the three R's is not considered literacy in the modern world but everyone should become

intelligent enough to understand the currents and cross-currents emanating from progressive ideas. Thus we find the imperative necessity of developing library science as a vitalizing force for the spiritual, social, economic and political advancement of the masses.

Library—its relation to education :

Democracy, all the world over, depends on the education of its citizens and the public expense for education is thus justified. All progressive countries have taken upon themselves the task of educating the public by establishing compulsory primary education, continuation schools, night schools and various other institutions. But the government reports and private investigations in different countries bring to light that all such efforts were not successful in spreading and retaining literacy in masses. They relapse into illiteracy rapidly within a few years not having any institution providing the literary and intellectual environment. Herein the department of library comes to play an important and effective role.

In the secondary stage of education, there should be cooperation between the school and library to a great extent and both of them are complementary to each other. Of course in a school the teacher's mind influences the thinking process of the pupils but when they come to the library they should be made to feel free from the rigidity of school and given the opportunity for self-development. Library gives a wider range and choice of interests than a school where the teacher teaches principles, discipline, order and restraint. Educationalists have recognized that there should be more individual work and less class-work. Educational methods have changed and broadened so that faculty and students are dependent fully upon the library. Hence we see laboratories and libraries occupying a dominant place in modern day education. In America and other western countries the secondary schools and colleges provide a place in the curriculum for library instruction and arrange classes to teach fresh men how to use the library and look up information for themselves.

In universities the importance of library for facilitating research work is well recognized. The university education commission (1948-49)

in its report has properly appraised that teaching is a cooperative enterprise requiring the necessary tools for teaching purposes in the sphere of libraries and laboratories. "The Library is the heart of all the university work, directly so as regards its research work and indirectly as regards its educational work which derives its life from research work. Scientific research needs a library as well as a laboratory while for Humanistic research the library is both library and laboratory in one. Training in higher branches of learning and research is only a question of learning how to use the tools and if the library tools are not there how can the student learn to use them."

Importance of Library Science :

Cardinal Newman in his famous book 'Idea of University' emphasized that universities should foster 'Liberal education' in order to engender 'Catholicity of outlook' which is so essential for the well being of humanity. Such an education produces a liberal frame of mind and makes the studious and reflective recipient acquainted with the stream of world's thought and feeling and with the infinitely varied products of the human imagination. Educational institutions especially universities should resonate to the intellectual, cultural and social needs of the nation and introduce new types of studies in its curriculum to sharpen the original aptitudes of individuals. Of these new studies library science is one. Economy in the intellectual work of a nation and efficiency demand that universities should provide opportunity for the potential librarian to unfold himself to his best.

" Libraries are growing organisms. The modern development of library technique in the classification, cataloguing, reference service and bibliographical methods is dependent on some fundamental principles in which all the practices past, present and future lie in a potential form. The library science should make them manifest through the scientific methods of observation, experiment, deduction, induction and generalisation and further developing different techniques necessary test them in administering to the individual uses of the library.

Library science possesses all the general, cultural and disciplinary value of any other subject provided for in the university curriculum. It develops in candidates an integral value of the whole field of knowledge

and affords an opportunity to get an insight into the development and inter-relationship of the diverse fields of thought. The analytical thinking involved in many of its subjects, the discipline of mind gained in the study of classification, cataloguing, organisation and administration, and the coordinate approach necessary in the different aspects of librarianship are a few of the benefits derived by the candidate from a study of the library science. The reference service which is the process of establishing contact between the 'right reader and the right book at the right time' in a personal way with the full knowledge of the reader as well as the book involves training and insight into the psychology of the community that will befit the graduate of library science to many situations. Such a knowledge and skill required in the practice of librarianship may be developed systematically in persons who have the necessary aptitude and capacity.

Functions of Librarian :

The essential service to be rendered by librarian determines the type of professional education of Librarianship. The primary function of the librarian is to make the printed matter (books, periodicals, reports, Govt. documents, etc.) readily accessible for the use of all readers (students, research workers, officials and public). The needs of community are to be investigated from the demands of the people served and the services of the library to be adjusted to them. The publicity of library service by means of newspapers, bulletins, bibliographies, lectures; the selection and purchase of books and using of established technical methods for classification, cataloguing, shelving, circulating of books; the assiting of readers to find books and information best suited to their individual interest; the creation to taste for reading in young children; the fostering of reading and discussion groups for adults and above all the co-ordination of the work of the library with the School, University or Research Organization are a few of the other important services to be rendered by the librarian.

Due to the increased international intercourse which the two World Wars have brought in, the needs of the community have altered and widened immensely. The librarian of to-day is not only regarded as a custodian of books and their organiser, but one to whom his

community looks for all information, guidance and reform related to almost all spheres of social activities. In short, it can be asserted that the modern librarian is a person of culture, scholarship and adminstrative capacity and a leader of society with a definite mission to carry out. His personality is reflected in the intellectual and social advances made by his community. "The preparation of a socially-minded, far-sighted librarian equipped with superior scholarship and qualified for educational leadership in the community is coming to be recognized as an appropriate concern of college and university officials throughout the nation." Hence in America many librarians feel the necessity for modification of the traditional training programme to bring education for librarianship abreast of current library needs and thought.

If the librarian's role in modern society is so powerful and important a befitting type of education should be planned and imparted to him.

Education in Library Science :

Education in Library Science in the University of Great Britain and by the Library Association of Great Britain comprises of the following subjects—(1) Library classification, cataloguing, library routine, bibliography, literary history besides knowledge of Latin and one modern European language. In Universities, graduates are awarded a Diploma at the end of the year and are entitled to become members of the Fellowship of the Library Association. The Library Association conducts three courses (1) Elementary, (2) Associationship, (3) Fellowship examinations, the last of which is equal to the Diploma Course of the University. The examinations are held twice a year in June and December and the minimum qualification for Elementary is the Matriculation Examination.

In America, the first school was opened at Columbia College, New York City, by Dr. Melvil Dewey in January 1887. A few years later the school moved with Dewey to the State Library at Albany. The New York State Library was the parent of a dozen or more library schools, now established in different parts of the U.S.A. The directors of the most of these schools are graduates of the above-mentioned

institutions. About half of the schools offer a two years' course and require a college Diploma as a pre-requisite for registration from such students as are candidates for the degree of B.L.S. The important subjects in all curricula are classification, cataloguing, theory of works of reference, library economy, bibliography. The University of Chicago offers a Ph.D. Degree. *Besides the regular schools there are numerous* summer schools which offer annually a short course of six weeks to those unable to afford longer time.

The curriculum of library training in Indian universities of Banaras, Madras, Delhi, Calcutta, Bombay is based on the traditional and functional details of administration and departmental organization as in England and America. Admission to these courses is restricted to graduates. Instruction to a more or less extent is given in the followin subjects for one full academic year: (1) Classification (Theory and Practice); (2) Cataloguing (Theory and Practice); (3) History of Library movement and Library Organization; (4) Library Administration; (5) Book Selection; (6) Bibliography and Reference.

Sir Maurice Gwyer the Vice-Chancellor of the Delhi University with his great foresight and farsight recognised the function and importance of librarians in the cultural development of the country and afforded all facilities to open a degree course as well as post-graduate research degree in library science when he opportunely secured the services of Rai Saheb S.R. Ranganathan. Graduates only will be admitted to this degree course. At the end of the first year the successful candidates *in the University Examination will be awarded a Diploma.* On pursuing the second year of the degree course one is awarded a M.L.Sc. Degree (Master of Library Science) which will enable him to occupy higher posts of the Government and universities requiring initiation and administrative skill.

A Ph.D. Degree is also introduced to pursue original research in the subject of library science and this degree will befit candidates for the top ranks of the profession and to the teaching posts. It is only those who obtained M.L.Sc. that are eligible for this Ph.D.

The University of Delhi has thus broken new ground by bringing this utilitarian subject within the compass of the university degree course and raising it to the university standard.

Other universities which have been conducting this diploma course and picked up sufficient experience should take the initiative to start degree courses and post-graudate research to train the adequate personnel for this profession in India.

We have not advanced in India as yet to have specialised library service such as children, regional, academic, scientific and technical or commercial and business libraries. The experiences of votaries in other countries is worth adopting and workers in different categories of libraries would do well to study the related background courses such as Sociology, State and Local Administration, Children Psychology, Educational principles and methods of particular fields of science. The unspecialised character of the library in India till now justified the understanding of the fundamentals of the library technique only.

Library Legislation in India :

The agitation of the Indian Library Movement for the last three decades in different provinces of the country to eradicate illiteracy and spread education has resulted in the recognition of the absolute and immediate necessity for enacting an adequate library legislation to provide a library superstructure to the educational department of India. Much was expected of the Sargeant Report on education but it is a sad disappointment that no stress was laid on the importance of libraries. It was just like an imposing building raising only the four walls but with no ceiling. The university education commission 1948-49 evinced interest in finding out the training facilities for librarians and the report gives sufficient importance to library in the reformation of the universities. We in India are building our libraries from the top—the university—quite unlike other countries; we have to lay firm foundations starting with rural and urban public libraries.

An all-India library legislation is impending and the full-fledged scheme for the whole of India for a thirty years' programme in advance requires a library-trained man-power of at least a lakh of the right type of intelligent young men, inspired with a missionary zeal for the profession. The Government of India has established the National Library at Calcutta to render educational, scientific and cultural serivces. The first Library Act has been passed by the Government of Madras.

Bombay followed in its wake and other States Trivandrum and Cochin are to be congratulated for effecting library legislation opportunely.

Planning of Library Education :

Free India is only a few years old. But its man power and intellectual potentialities are immense. In order that full benefit from every citizen of this country is derived for the national progress and peace and prosperity adequate facilities for self-education should be provided. Undoubtedly, the library is one such dynamic institution, which can yield satisfactory results, if it is manned and organized by qualified personnel.

The present condition, of the number and quality of such personnel, is entirely inadequate to supply the growing needs of the country. The proper method is to provide for the education and training of men and women who will fit into the profession and the fields of study and training may be divided into three categories :

1. Librarians for academic institutions, school, college, University.
2. Librarians for public libraries and rural libraries.
3. Librarians for special libraries (scientific, industrial, commercial, hospital and blind and jail libraries and prison Government departmental libraries.)

With the industrial and scientific advancement and the opening of new research National Laboratories in different parts of the country, special library service devoted to particular subjects is coming to existence. Librarians with experience in special and technical fields will be required to organize and man them in an efficient manner and to serve as intellectual handmaids to the research experts in the various fields of knowledge. This will necessitate us to impart special library training in bibliographical and reference service methods, recruiting scientifically qualified students.

The conventional five subjects, library classification, cataloguing, administration, organization and bibliography, book selection, reference work have to be common to all the three classes, with variation in regard to the community served. But the problems of organization and administration will vastly differ. A suitable curriculum and books will

have to be prescribed for study of each category and schools and training centres, on regional basis with due care towards the linguistic problem, have to be immediately organized. In fact the movement and steps taken by the Central and Provincial Governments for social and adult education will bear no fruit if there are not large number of libraries and enough staff to manage them to fulfil the objects for which they are planned and instituted in a democratic State. To confine the education and training of librarians to a few Universities only and to limit the admission to these courses only to graduates in the present circumstances will be want of foresight and escaping the hard realities. Certificate courses should be established with Matriculation as the minimum qualification for the candidates. Every district or group of continuous districts in each province should be provided with such training centres, just like schools and colleges. It may be advantageous if these professional schools are recognised and administered under the guidance of an All-India Board of Education for Librarianship, in order to develop a capable library personnel and furnish librarians with basic professional knowledge and to set up and enforce library training standards and uniformity in matters relating to instruction. The Ministry of Education of the Government of India, should immediately devise ways and means for the constitution of such a Board of Education for Librarianship, which should consist largely of persons, who have good experience of teaching and practice of the art and science of library economy.

India's Contribution to Library Science :

From days of yore, the Indian tradition of pursuit of knowledge has been on the basis of fundamental principles dealing with the eternal and spiritual concepts of Time, Space, Matter and Energy and Dharma, Artha, Kama and Moksha.

Dr. Ranganathan has rightly observed "The library is touching the level of the mind, it is unable to release or reach the level of the spirit in man. The library should not only sharpen the intellect but should release the spirit in man and this can be done by India alone which has preserved the technique in its tradition and life." The credit of this new interpretation of library science on the basis of fundamental princi-

Gyan Geha, the old Theosophical National School
where Panditji was once a Principal

With H. E. Shri Rajgopalachari,
Governor-General of India
&
H. H. The Maharaja of Banaras.

With Dr. Sinclair,
President Hawii University

ples and reorientation of the same goes to the Doctor's singular devotion and dedication to the subject of library science which raised the status of India in the library world. The learned doctor has already contributed more than 30 books on the different phases of library science which is unparalled in history. In future Westerners have to look to India for guidance in the new library technique. The codification of library ideals, the Colon Classification, the classified cataloguing code and chain procedure and, above all, the research school he established in the University of Delhi to propagate the new ideals can be considered as the outstanding achievements and India's distinctive contribution to the world of Library Science.

WHITHER EDUCATION ?

Shri B. K. Zutshi, M. A.

[*Registrar, M. S. University, Baroda*]

From every nook and corner is heard the bewailing cry about the steady fall in the standards of education and the miserable picture, which our educated men and women present in all venues of life. On all occasions are presented for public consumption a series of "howlers" perpetrated by our graduates at interviews and examinations. From schools and colleges, business and industry, employers and the State, everyone is decrying the present products of our schools and colleges, and there appears to be a unanimity of opinion that our present system of education is in the hands of bad teachers. High and low all are saying that the teachers are not doing their jobs well, they have become mercenary; they have forgotten the duties of ancient "gurus"; and they have no heart in their sacred work. Many are advising the teachers to gird their

loins and tighten their belts still more and devote themselves in educating the young with single-minded devotion, oblivious of their physical and social requirements and needs.

This is very good advice. If we can find a group of teachers, who are prepared to accept "Sanyas" (संन्यास), things can improve to some extent. But the real causes of this general intellectual, moral and social deterioration in the student community have not been fully realized and treated.

It is also a fashion these days to blame our late foreign masters and their system of education for all the evils, real or imaginary, that are found. That system is accused of curbing original thinking, killing initiative, and making the "natives" at best poor imitators of the evil aspects of the benign rulers. It is argued that we Indians were a much better people intellectually and morally, and this one hundred and fifty years of British rule razed us to the ground, and left us a disorderly, crude, uncivilized, dull mass of humanity. The few, who are accepted as intelligent, witty, intellectual, educated, men and women were an exception and grew up *inspite* of the bad system.

When any one tries to apportion blame for the present state of affairs, first of all Universities and centres of learning are accused of not doing their duty. Universities for some time past have become centres of anything but learning. Petty rivalries, power politics, betterment without efficiency are rampant. The Radhakrishnan Report has put it very well, and it need not be repeated. Democracy, it appears, has been let loose and power seekers, king makers and the like frame policies, which are based on anything but what the Universities stand for i.e. advancement of learning. Some of the Universities specialize in having as their king makers utterly unscrupulous persons, whom no decent man would touch with a pair of bamboos. Learned Professors interested in their work are afraid of them, because they might be insulted any day and put in awkward positions. Administrators cannot pull them up for fear of consequences. All and sundry dance to their tunes for gaining favour. The temple of learning turns into a public market, where flattery and vice rule the price. Let the Universities search their bodies, and wherever such persons are found, they should be exterminated; and the sooner this is done the better.

But then a lot of improvement is necessary in the outlook of teachers. Brilliant products of Universities are attracted by competitive examinations and use University jobs, as a jumping board. It should be made a rule that any one, who has accepted to be a lecturer, must serve as such for at least five years. No exception should be made. Now the University grades after the Radhakrishnan Report are fairly decent, and one, who accepts the job of a teacher in the University, must give his best for five years. If necesasry, the Public Service Commissions may revise their rules of age to fit in such persons in public services. Let there be only one grade of salary in the Universities, which should apply to all.

When we meet the University teachers, they point to the miserable product that comes to them from High Schools. The Government of India has recently appointed a Secondary Education Commission, and its report is expected soon. Whatever its recommendation is, the only remedy that can work is to centralize school education. States are playing havoc with the energies and lives of our young boys and girls, and really the overall result is nothing short of a tragedy. Many of the boys and girls go through all the classes of the school, pass them, and then appear for the last examination. It means that the school authorities consider them fit for appearing in the examination. Fifty, sixty or seventy thousand young people appear in the Matriculation examinations in each of the States, and the result is ranging from thirty-five to forty-five per cent. It means that for every hundred boys considered fit for appearing in the examination more than three-fifth fail. Is it not criminal waste of human energy apart from the disappointment, which it causes not only to the candidates but to their parents, families and others ? God knows in our poor country how the parents manage to collect funds for paying the fees, etc. Why did not the school authorities check the unfit first and save at least the money and the disappointment ? Then since every State is having its own machinery of this examination, some feel that there is an unhealthy rivalry among examinations and even in the States. Some States require their students to pass in five subjects, some want six, and some want seven subjects,

before declaring them successful. Some want 30% for pass in each subject, some insist on 33% and some on 35% Results are manipulated, and are not a correct index of the students' capacity. The only remedy is that the Government of India form a Secondary Educational Board, which must prescribe the basic courses and common standards, and there should be vigilant checking of these from time to time.

When we meet the school teachers and start abusing them, they throw the blame on the primary and secondary education. They also reveal a regrettable state of affairs in the school managements, which are in the hands of people, many of whom are not educated themselves. Here again is a story of jobbery, corruption and the like. Educational principles are sacrificed under pressure, economic, social and sometimes even political. And the grinding poverty of the average Indian is the last premise, whenever any argument is entered into. What are we paying the Primary teacher ? What equipment we have supplied him ? Where is the social consciousness, which supported the Guru in the old Indian ashrams ? A peon in a fourth-rate town lives less miserably than the Primary school teacher.

There is another reason for this lamentable state of affairs, and that is political. In our struggle for independence, our leaders in 1919 and later raised a cry against the schools and colleges, which were to be boycotted. All sorts of slogans were used, one of which was that the teachers were 'toadies". No respect or regard was to be shown to them, as teachers generally did not actively boycott the schools mostly due to economic reasons. This wave of indiscipline, which may have served us politically by paralysing administration, has come to stay, and there is a distinct feeling of disrespect towards the teacher from the village school to the highest classes in the Universities. It is considered fashionable to speak disparagingly of one's teachers. They are considered no more than paid servants, for whose maintenance the students pay.

What is then to be done ? Surely we cannot leave things to themselves. We are independent. We have no foreign masters to suppress our virtues. We have to reform education to lead to results, which all of us desire. And this requires a very bold change in our educational pattern. Let us have a ten-year plan of education and a subsequent

five-year plan. Let those at the helm of affairs take courage in their hands, and decide quickly on some form of Primary, Secondary and High School education, and pass a Central Act that education as envisaged in the plan must be the minimum given in every school-Government or private. No exceptions—no arguments are to be allowed. Further, Conference of Vice-Chancellors should be asked to frame a ten-year plan for the Universities. The recent trend of increasing the number of Universities must be stopped. Dissolve all the Universities formed during the last five years, standardise all the courses to a pattern according to our needs, and ask colleges to follow them. If the number of Universities in the States cannot be reduced for any reason, then stop duplication of courses, especially post-graduate courses. There is no sense in having post-graduate courses of similar nature in more than one University in the State. Let the Conference of the Vice-Chancellors pool their resources. Let one set of subjects be taught at one place and another set at another, so that there is real specialization. Give all the possible grant for a subject or group of subjects to one Centre only. Let there be no fear of large classes. Let the students be given lectures to huge classes, sitting in various rooms, with the help of loud-speaker. Let the Practical Halls be used for 24 hours, if necessary. In short the State should accept education as an essential service.

I realize a hue and cry will be raised that the personal human touch will go. Students will become factory products. But pray where is the personal touch ? In most of the colleges, the number of students in each class is 100 or more. In Universities generally sections in popular subjects are of 125 or more. Will it make any difference, if the micro-phone and the loudspeaker make the lecture audible to more students, and thus avoid the need of more sections in each class ?

Then the grinding poverty of the average students force them to try to earn while they learn. Let us frankly realize that these extramural courses, extra-curricular activities are an absolute failure. Unless the "Guest" was either a leftist politician or a film star, the audience has to be "arranged". In residential Universities, the peak hour of students' presence is between 11 to 3-30 p.m. If any lecture is kept in the evening —however distinguished the speaker—the organizer has to face an ordeal

in arranging to have as many as even 50 people. Let us frankly say that we will not spend the tax-payers' money on these activities, which have not caught the students' imagination. I do not, for a moment, suggest that these are not useful activities; they are inopportune at the present time.

As soon as we envisage a large number of Primary and Secondary schools, we are faced with a paucity of teachers. In all B.A., B.Sc. and B.Com. Courses, let it be made an essential condition that in addition to the usual syllabus, the student in the first year should receive instruction in practical educational methods, and after second year, he must work as a teacher for at least one year in any Primary or Secondary school he is attached to. Another suggestion is that the Government of India should at once start a Central Institute of Education like the several National Laboratories. Let research scholars be attached here to find out ways and means of educating our vast teeming millions in a short time. And let all training colleges admit much larger numbers of students than what they are admitting now. Let scientific apparatus be used to its fullest extent. Let us, if it becomes necessary, sacrifice quality for quantity.

We will also have to find buildings for schools. Have we not talked so much about Ashrams in our ancient times. Let, if necessary, the shade of a tree be the class-room in villages, let the existing school buildings be used to the maximum capacity. Let the classes go on from early morning to evening in shifts—two, three or four—according to the needs of the place and facilities available.

Not much equipment is necessary in schools upto Matriculation. What is needed can certainly be found. In Universities, let us make full use of the existing material. Stop all students from going abroad for advanced studies in subjects, for which facilities do exist here. Get the best Professors and scholars to come to India and attach them at proper centres.

Let our young aspirants flock round them and learn. Let us concentrate on a few things and learn. Save our young men and women from becoming dissatisfied with our poor country, after a short stay of

few years abroad and save the drain on financial resources. Experience tells that a foreign-returned scholar not employed on a fat salary is a virtual danger in an educational institution. If he is not a rank Communist, he always feels frustrated and spreads dissatisfaction and dissappointment. He can never be a source of inspiration to our students.

Mrs. Annie Besant used to say that the trouble with us Indians is that we are too argumentative. As soon as a plan is formed, everyone starts picking holes. It is realized that the steps suggested are dictatorial; but this is the need of the country. Let us not spend our time in discussing theoretical plans *adinfinitum*. Let us do something. Let the present educational policy, if any, be replaced by a dynamic effort. Let your education be harnessed to a definite aim. Let us decide what we want, and the details will follow, difficulties will disappear and problems will be solved. Russia did it thirty years ago. Modern China has done it. It is time we did start doing something.

HOSTELS: THEIR IMPORTANCE IN THE EDUCATION OF YOUTH

SWAMI LOKESWARANANDA

The prevailing system of education in India having proved inadequate and unsuitable in many respects, a vigorous search for one calculated to satisfy her needs and aspirations better is being carried on in many quarters. Many new types of institutions have come into being and their advocates are vociferous in their claims as to their merits. In this background it is pertinent to enquire what part, if any, hostels, whether as independent units or as adjuncts to educational institutions, can play.

It is now widely recognised that students should live in close touch with their teachers so that they may derive the full benefit of their life, knowledge and character. Men learn from men; next to parents teachers exercise the utmost influence on young boys and girls. As the influence of parents is gradually dwindling, thanks to the all-absorbing struggle for existence which has become the lot of most parents now-a-days, steps should be taken that the influence of teachers can be brought to bear fully upon young children. This is why residential institutions are becoming the vogue now-a-days. While their number is increasing and some of them are doing very good work, the problem of bringing about happier and closer relations between the teachers and the taught has not been satisfactorily solved. The chief reason why this has not happened is that the hostels in those institutions have not been planned in the way they ought to be. In the first place, the hostels are too big, each accommodating a much larger number of students than makes possible personal and intimate relationship between teachers and students; secondly, as is the case in most such institutions, teachers live in quarters of their own, restricting thereby their accessibility to the students. Thus the very purpose which residential institutions are intended to serve, is often defeated.

The points that emerge from the above are : first, the number of residential institutions should be increased, as far as possible; secondly,

if the institution is not residential, it should at least possess a hostel where students may live under the direct care of their teachers; thirdly, the hostels, in either case, should be small in size and offer opportunities for teachers and students to mix on intimate terms.

Unfortunately, the importance of hostels is not yet sufficiently recognized. That as a factor in the education of youth it is most potent and should, therefore, figure prominently in any future plan of education should be duly appreciated. The work done in the class-room has many obvious limitations; the only place where these can be remedied is the hostel. The hostel is bound to receive more and more attention if any serious attempt is going to be made to remove the present deficiencies in education. What is now needed is to organise it in a manner that it may play its part fully in moulding the character of the student. While moulding the student's character should be its primary concern, it is just possible that it may have to attend to other aspects of education, also. In brief, it should be prepared to shoulder the responsibility to impart to the student education in its entirety.

It is not necessary that the hostel should be attached to a particular institution. It is perhaps better that it functions as an independent unit, so that it may work with greater freedom. When attached to an institution, it plays, as a matter of course, a secondary role; but when non attached, it may then go—in fact, will be expected to go, beyond its limited scope and cover the whole field of education. It is indeed through such hostels that the best results of education can be got. There are not many such hostels in the country now, but wherever there is one, the results achieved have been remarkable.

It hardly needs to be said that the hostel to serve its purpose needs to be placed under the care of very capable men. Wherever possible, the best among the teachers should be entrusted with the task of running the hostel. Men of character, men who genuinely love students and are ready to work for their welfare without expecting a corresponding return in money—it is such men who should be placed in charge of the hostel. Here the students will live as they live at home, enjoying the same love and care and having an equal degree of freedom as well as

restraint. The students would behave with the teachers as they do with their parents, loving and being loved by them. The kind of 'give and take' which teaching involves can be best carried out where relations are such as these. The ancient Indian saying, 'learn the truth through humble devotion, questioning and service' is a truism, which should now form the guiding principle in education. It is therefore all the more necessary that selection of men to run the hostels should be most carefully made.

Both the State and the public can take a hand in starting such hostels all over the country, and should treat this as an integral part of any plan they may finally accept to improve educational standards in the country. Even men who are not professionally teachers but whose occupation allows time to undertake this kind of job can come forward to run such hostels, provided of course they have the requisite qualifications. The fact that not much in the way of resources is required to start a hostel is an advantage which should make the idea less frightening than if a teaching institution had to be started. The maintenance cost can be met from the contributions from the students and the State also may agree to help. A yet another advantage is that even one man can run a hostel, if it is not too big. Any risk is worthwhile considering the good it may produce, but, luckily, not much of it is involved.

FOUR PHASES OF STUDENTS' YEAR AT THE INDIAN UNIVERSITIES

DR. B. L. ATREYA, M.A., D. LITT.
[Professor of Philosophy, Banaras Hindu University]

Most of the Indian Universities and Colleges reopen after the summer vacation in the month of July and hold their examinations in the months of March and April. Students begin their life at the universities or colleges with their admission into the various classes and departments and end it with the annual examinations, both the events being extremely important for students. A close observation of students' life and activities and participation in them for a number of years as a teacher and a warden has revealed to the writer that the entire year of students may be mapped out in four distinct phases, namely: (1) Political, (2) Social, (3) Studious and (4) Religious and ethical. They may be described as below :

The First Phase

Political—The first phase of students' life at a college or university may be characterized as political. It begins immediately after admission to the college and hostel has been finally and satisfactorily secured, and lasts upto the time when the institutions close for the Durga Puja holidays. This is a period of discontent, grievances, complaints, organizations, demands, ultimata and strikes. It is during this period that the various elections of the office-bearers of the various students' organizations, such as Unions, Parliaments and Associations, are held and campaigns for success in them are organized. In these campaigns all sorts of propaganda for and against the standing candidates are freely made. Every tactic of the unhealthy public politics is used. Merits, demerits—real, imagined and imputed—of the contending candidates are openly, freely and exaggeratedly pointed out in meetings held for the purpose. Election manifestoes giving a long list of the evils

rampant in the hostel, college or university, which the standing candidates intend to eradicate in case they are elected, are issued and discussed and promises of getting the various grievances that the student community or even individual students may have against any authority are made liberally. All the evils of party politics come into prominence and colleges and hostels lack in a quiet atmosphere for study. Every now and then announcements of meetings, lectures, arrival of some party leader, or of a strike for this cause or that, are heard on the loud-speakers which are now easily available and easily carried from place to place. These announcements are repeated over and over again, and those who are not interested in them feel annoyed by them. Young men and women become gramophones of their leaders' or party's voices, and for the time being suspend individual thinking, and are ruled by a mob or group mentality. Different parties of students get linked with the prominent political parties of the country and seek for their help in getting success in their own campaigns, and it is in the name of these political parties that appeals are made to the electorate. It is during this period that the student community gets intensely interested in the politics of the country and is ready to participate in the political programme of the most favoured party. Any political movement in the country to overthrow the existing order and to work out some direct action programme is bound to have active support of the student community if it is launched during this period. The August Movement of 1942 was hailed and joined in large numbers by students mainly because it was launched in the month of August. It is a time when the political sense of students is at its height of functioning, when they are free from the worries and anxieties of admission or examination, when they are self-conscious of their power as a community, and when their emotions are repeatedly aroused by internal political campaigns. The evils of the existing states of affairs—and which order is free from evils ?—are writ large in their minds, being repeatedly pointed out and promised to be redressed by the seekers of power and vote. It is during this period that students are extremely sensitive and self-conscious and misunderstandings are apt to arise between them and their professors

and wardens on insignificant and petty matters which sometimes give rise to serious disputes. The authorities are never so worried about students as during this period.

The reasons for this period being that of mainly political activities and agitation on the part of students in general are obvious. Most of the students who have now been comfortably established in hostels and colleges have had to pass through a long period of anxious waiting for the examination results and for orders for admission. Many of them were in long doubts about their success; many had to undergo humiliation on account of their failure; many had to undergo disappointment on account of low division or low marks which debarred them from admission to the desired courses; many had to knock from door to door of various departments and authorities for getting seats in colleges and hostels; and many had to beg of their relations for monetary aid for getting admitted to colleges. Now when all these anxieties, worries and troubles are over and when seats in colleges and hostels are somehow finally secured, they feel relieved. There is not only a relief from anxiety, but in accordance with the law of swing in emotional life, known to psychologists, there is speedy swing to the other extreme. As in maniac-depressive psychosis, there is swift change in the entire attitude of students immediately after their comfortable establishment. In place of the feeling of inferiority, of humiliation, of insecurity and of doubt, there is a sudden realization of security, superiority, strength and certainty about everything. The student now feels carefree. He thinks he is the most important member of the University. Whereas just a few days before he was an individual, suffering and solving his own problems himself and in competition with others, he now suddenly realizes that he is one of a very important and powerful fraternity whose problems are common and who have quite different interests from those of professors and university authorities. He now identifies with his community or party and thinks in terms of its interests. Students at this stage think that they are the most important members of the university on whose monetary contribution the university or college is being run. They feel superior to the staff which they regard as their servants.

Unconsciously moved by the spirit of revenge against their parents and elders who scolded and rebuked them during the summer for not doing well at their examinations, and against those who caused them trouble in getting easily admitted, they are now up against all age and authority. A careful investigation revealed that in most cases the leaders, the revolutionaries and the bullies of colleges and universities were those who were ill-treated at home.

The season and the system of teaching and examination are also contributing factors. During this period either it rains or it is very hot particularly inside the rooms. On account of rains and heat many inconveniences such as wild grass all around, muddy paths, leaky roofs, stuffy atmosphere inside the room, flies, mosquitoes, fevers and skin diseases, etc., students do not find it convenient to study and to live peacefully; annual examinations being far off, terminal examinations not being very important, tutorial system not being very much in vogue; there being no monthly tests, students do not feel a need of study. They have plenty of time to spend somehow. Hostel, college and university politics and even those of the country become a good pastime for those who do not like to while away their time in playing cards or for whom cinema is too expensive. It is really desirable that during this period some constructive movement should be started by the leaders of the country in which the student community may participate. Otherwise a lot of national time and energy are being wasted on destructive activities in colleges and universities.

The Second Phase

Social—This phase of the year lasts from the time of the reopening of the colleges and universities after the Puja or the Dipawali holidays to the end of the X'mas Week. This period is that of the activities which may be called constructive in a sense. The agitation, enthusiasm and activities of the bullies, of the ambitious leaders who got elected as heads or secretaries of the different bodies, and of the howlers, are over by this time. They have realized that the university, college, or hostel world goes on as best as it could go on under the conditions which they have come to understand in their negotiations with the various authorities,

and they have somehow reconciled with the inevitable. Most of these fellows go to the background in this period for lack of the capacity for creative and constructive work and are eclipsed by a new set of students, namely, those who have natural gifts for some social, useful, or pleasing kind of work. They are those who can sing and dance; who can write or speak beautifully; who can act on the stage; and who can display some other unique quality with which nature and nurture have favoured them. We see them now at the time of the anniversaries of the various associations, college days, and social gatherings of the various hostel unions. In contrast to the political leaders and bullies who are sometimes feared, sometimes cajoled, sometimes avoided, their creative geniuses are admired, appreciated and loved. They are the heroes of the season. They are invited to every function, which their presence alone makes success. Whereas the heroes of the first phase created bitterness in the atmosphere of the institution, these spread sweetness all around.

The season during this period is quite suitable for such activities. It is no longer hot nor yet very cold. There is neatness, cleanliness, brightness everywhere. The sky is clear and bright. Examinations are not very close. Students have now finally settled and reconciled to the conditions in which they were placed. They have realized the evils of conflict and the advantages of cooperation with the authorities. They have also begun to appreciate the latter. Various functions, social, literary and artistic are manifestation of this cooperation. Both the teachers and the pupils are found in this period working for the success of these functions. A number of students who lack in other kinds of socially pleasing genius contribute to themselves for having done something, by serving as volunteers.

The Third Phase

Studious—The dawn of the new calendar year and the close of the Christmas Week which was full of festivities, ushers in quite a new phase in the life of the student community. Almost every student now resolves to care for his ensuing examination. He now acquires academic self-consciousness; he realizes that he has wasted his time and has not

universities for the summer immediately after the examinations are over. We do not strike the iron when it is hot. Either our educational institutions should make education suited to the needs of the youth or there will remain the discrepancy between the life of students and the ideals of the institutions.

THE ORIGIN OF LIFE ON EARTH

SHASHI BHUSHAN MISRA

The problem of the origin of life has lured the scientists of all ages. The priests and clergymen of the ancient days propounded hypothetical doctrines to illustrate the origin and one may easily come across innumerable myths based upon various speculative, sectarian beliefs of their time. But the real scientific penetration in the matter cannot be traced back for more than nearly two hundred years, the impetus mainly for a thorough enquiry being given by Lord Kelvin.

The study and nature of ferments and their action has now revealed it perfectly well and has indicated the possibility that there had been no serious gap between the living and the non-living. It gives us an idea that the whole swarm of various varieties of animal and plant-life could have once sprung out of completely dead material in some remote past. But the controversy over the point of the first living variety has caused much heated debates and though a section of people who believe in the 'Theory of Evolution' have been able to possess a major support, they somehow fail to provide us with any experimental justification for their hypothesis.

It is believed, as the Theory of Evolution tells us, that all the different varieties of life on our planet owe their origin to one single ancestor, that one single variety of life which might have originated on Earth, might have undergone numberless stages of Evolution, thereby

preparing round us the present world of multi-coloured flowers and plants and the countless species of living animals.

Opposed to this theory of Evolution stands the theory of 'special-creation' stating that the humblest type of original life must have been different for all different varieties of life present on the Earth today, that the first living creature responsible for the present species of man would have been different from the original microbe that gave rise to the present world of flies and birds. It also propounds that the original ancestors would have had their origin spontaneously out of the inert atoms of the dead material and, therefore, this theory is sometimes also indicated by the name of 'The Theory of Spontaneous Origin'.

Leaving aside the question of validity of the two theories it is necessary to confirm if the ancestors, either numerous or a single one, were actually an outcome of the material of the Earth which, previous to their origin, consisted of no life on itself or they were created somehow by the one who is held responsible for the birth of the Earth itself, the God. Pastuer carried out a series of genuine experiments and illustrated that no life could have originated out of lifeless matter. He heated certain microbes and yeast cells in a test-tube and after sometime left them to undergo gradual change in temperature, allowing at the same time oxygen to pass through them, thereby providing everything necessary for the composition of a life or a living matter. But even after a number of days he could trace no sign of life in the contents of the tube. This proved to be a set-back in the advance of the work which was being carried out to trace back to the conditions under which living speck might have manifested itself out of lifeless material. It was thought that the line of advance itself was not true because when the present circumstances are ideal for the maintainance and propagation of life—no life could be encountered coming out of non-living material and therefore it could not have sprung out in this fashion when the atmosphere was devoid of oxygen and when no organic compounds were available to constitute the bodies of the living creature. This again created an unfathomable gap between the living and the non-living. But Pasteur missed the fact that the simplest living organism today possesses a wonderful complexity of structure and it might have taken millions of years for the first life on Earth to have evolved to reach that stage.

The foregoing idea and the discovery of Radium have been responsible to solve the mystery to a very great extent. In order to proceed with the assets which Radium proved to be, it is worthwhile quoting a few characteristics of living organisms as given by Professor Osbourne:

(1) Renewal and Repair.
(2) Absorption of energy and performance of work.
(3) Powers of response to changes in the environment.
(4) Self-defence from other organisms.
(5) Growth and Reproduction.
(6) Memory and Intelligence.

All these characteristics are essential for all the existing lives, but it is quite easy to conceive of the conditions on Earth when the first life might have originated and when all these qualities might not have been necessarily present in it. The living organism must have been alone and therefore there must not have been any question of its defending itself against foreign spores. It must have started with no memory. As the environment must not have been in a process of appreciable change, there does not arise a question of its adapting to the change of temperature and other natural agencies. Even at the present day we may evidently come across varieties of living material which undergo no difference in the environment.

Therefore, the only three qualities essential for the living organism of that day would have been their capacity to absorb food material and the rejection of the waste products, the absorption of energy from the consumed food, and finally, the division of its parts and transference of the same powers of locomotion etc., to them. As it shall be evident from the following few illustrations, these three qualities are identically visible in a number of rock-crystals also. Certain crystals are capable of breaking up a given mixture of a number of solutions into simpler form, thereby accepting a portion of them for the growth of their size and leaving the rest of them which do not fall in conformity with their crystalline structure. The only difference between the process of absorption between the living organism and the dead crystal happens to be that the living cells consume food material internally whereas crystals accumulate layers of necessary material from the aforesaid solutions externally.

Chemical compounds such as steam possess enormous store of energy dormant in them in the form of latent heat, which may be encountered with at the time of its condensation. This peculiar property is completely in consonance with the property of the living microbes which convert chemical compounds in their simpler forms and restore necessary energy for their use.

There are rock crystals which do not develop in size above a certain limit and in case more material of the composition of a new crystal like them is available they allow its formation, thereby showing their capacity of division into smaller parts and providing the same quality to them—a characteristic common to living animal alone.

Thus we see that the chemical processes evident today are in compact semblance with the qualities of the Protobion—the first life that might have appeared on Earth in the long past. A study of the climatic conditions of that age reveal the possibility of their constitution to be a jelly-like carbonaceous mass which might have necessarily been formed in the warm waters of the sea and pools of the bay. This carbonaceous material might have started functioning because of certain catalysers, ferments as they are more accurately known today, and the life might have manifested itself on Earth. Catalysers or ferments are substances which accelerate or retard the speed of a chemical reaction, themselves only being passive witnesses in the scene. Such reactions in the organic world are known as fermentation and modern research work has shown that it is only a continuous series of fermentations. Therefore, it follows that some such ferment might have provided a stimulus and the Protobion might have begun reacting depicting characteristics of living organism.

The study and discovery of Radium and Radio-activity reveal the fact that atoms of elements which were previously considered to be inert and inactive cannot be pronounced to be dead as these are capable of discharging ceaseless energies when left to themselves alone. This imparts the facility of bridging the enormous gulf between the dead and the living organisms. It is expected that further research work in this direction would some day reveal life to be in the continuous series

of chemical changes in the structure and formation of Earth that are manifested in its rocks and minerals.

A retrospect of the above thesis may reveal that the work in this direction is more or less speculative as no trace or imprints of the Protobion are co be found present in any set of the sedimentary rocks available to human sight today. But speculation here does not go to the extent of fantasy and brain-web alone, it is rather based on a scientific curiosity and investigation going back through ages for which no experimental history is available except pure hypothesis.

NEW EDUCATION

PT. GURUSEWAK UPADHYAYA
[*Ex-Headmaster, C.H.S., Banaras & Registrar, Co-operative Socities, U.P.*]

I do not claim to be an educationist, but having been invited to write on "Education" I must comply with my friends' request. In the last decade of the 19th century, while studying in the school and then the college we did know with the dominating idea of qualifying ourselves for Government service. However, with the establishment of the Central Hindu School in 1898 we began to hear of *national* education. It did not mean a universal education for the people, but education for the then school-going population ,with a change in the spirit and method of teaching. We are now talking of *international* education, which I have called New Education. Here the content of education is also changed, and changed immensely, in as much as, according to contemporary experience education is being forced upon everyone by the rapid increase in the range and complexity of social and economic cooperation due to the drawing together of the whole world. Under "New Education", Mahatma Gandhi's Basic Education must also be considered, as it is bound to affect India greatly.

Mr. Bertrand Russell in his book on "Education" had said that *pupils should be regarded as ends and not as means. In a recent article* (I have seen only its Hindi translation) he modified his above statement and said that he had begun to believe in "Progressive education", and that an individual being a member of society must also be trained to become useful to the human society. The two world wars had convinced him that national greatness should not be made the supreme purpose of education, and consideration for things as much as for ourselves and "detachment" could only teach us how to live. Hatred and violence are the ruling passions in the present-day world. In educational institutions, not the narrow patriotism but the virtue of trusting should be inculcated. All that reminds one of the teachings in Gita.

Religion and Education. Here comes the social significance of

religion. Krishna's Gita, Buddhism, Christianity, Islam, Communism arose not as new discoveries in the field of theology but as new ways of life, to which law, social custom, thought and enquiry had to be reorientated. They were all "Teachings" in essence educational. Secularism cannot do without the religious function, it cannot banish a rationalised devotion. Quite as much as religion it has to present life in an ordered series of values in which self takes a subordinate position.

A myriad religious activities are in progress at this time in the world. They react upon practically all the material concerns of life and education. Liberal minds conceive education now a days as divested of any existing religious form. Nevertheless, we realize the necessity of some more comprehensive teaching that shall restore the declining unity of human motives. If we cannot teach imperatives we have to teach aims. We have to restore unifying power to education. We seek a "new education" to achieve the synthesis of the new world community. But if we are seeking to frame out a new education in view of the new ways offering that open before us, we are thereby starting religion anew.

Our world is now launched upon a perpetual investigation and innovation and its ideal of education is no longer the establishment of a state ideology, but the creation of a receptive and co-operative alertness. For that no fixed inalterable teaching will suffice.

In the past the teaching was the teaching of tradition, and was suited to the requirements of an age in which the end of human thought was not discovery, but order, and in which knowledge was regarded as a set of established propositions, the work of reason being to harmonize these propositions in subordination to the authoritative doctrines of Dharma-Shastras (the church).

Education inside the class-room

But the formal education has never been the whole of education. School masters and professors are just the operators of one way of education. Now a days the illustrated newspapers, magazines, the cinema, changeover of advertisements build up a vision of the world in pupil's minds more vivid than the instruction of the class-room. The whole

community is now in fact its own school. It is an unknown disciplined, ill-planned school, but it is vocal and directive.

The normal man's mind has been rather stimulated than satisfied by the incoherent masses of news that come to it. They supply the bulk of the material of a contemporary ideology.

Mental training

Vyasji in the Mahabharat has said that a nation brought up by 'Acharyas' declines not and survives longest (Acharya Shishta ya jatish sa divya sa ajaramara). Who is an Acharya ? He who goes deep into the letter and spirit of the Shastras' (various branches of knowledge), who himself is a man of character and can make of his pupils men of character, (Achintohi Shastrartham achaare sthapayatyuta. Swayam acharate yastu Acharyah prachakshate.) Acharyas are a great desideration these days. The policy of the British Government to starve the Education (National) department has been chiefly responsible for this sad state of affairs. They are bound to improve in the time of the National Government. The introduction of a much larger number of teachers of the right type is of primary importance. There used to be a class of teachers whose dominating motive was service, as distinguished from the motive of gain. The establishment and diffusion of the spirit of service are more than ever necessary in the presence of the present growth of knowledge and ideas.

It is our gravest accusation against the present day Universities that they will now graduate men and women who speak and write inexactly, have no frame-work of general ideas, and think no better than the school leaving youths. Language is far less important as a means of talking about things than as a means of thinking about things. One may go through school and college today and never be reproached for a foolish generalisation, an unjustifiable in presence, an unsound conclusion. There should be a more difficult and profuonder study.

The Education needed (according to Mr. Wells)

The foundations of education are laid in infancy, there the foundations of character are laid. Parents must have a scientific knowledge of children's minds. A great proportion of latter recalcitrance, dullness

irresponsibility and even physical illness is due to the mishandling, with the best intentions, of children's minds.

Also there should be universal elementary teaching. That use of language which is picked up from the cycle of folks immediately around a child must be made finer and fuller. Between five and sixteen a child may be given without his feeling an additional burden, a sound and practical knowledge of one of the great world languages, such as English, in addition to his mother tongue.

Class room work should be intensive and restricted to brief periods, where children should meet keen, active and competent teachers. In the play rooms and play grounds the youngers should acquire a regard for others, civility and a habit of cooperative action. Demonstration, cinema music and singing will play a large part in this schooling phase.

As they grow they should do some exemplary scientific work, not for the sake of knowledge but as mental exercise. The discussions of theories and generalisations will be more important here than the accumulation of facts. Far more important than scientific knowledge is scientific method.

Next follows the socially more important part of the task of education, the establishment of a "persona" which will lead to the service of the race and protect the individual from social mischief, economic offences, political delusions, frustrations and evil conduct towards others.

Mr. Wells speaks of certain foundation ideas upon which the growing mind can be poised. First there is the idea of man's history as one whole. Secondly, the citizen of the world must have a sound conception of the evolution of life. Thirdly, he must learn the economic lay out of the world as one cooperative field of enterprise. The school stage ought to be completed at least in the middle of teens. Every one should do a year or so of compulsory service for the state.

After, or concurrently with, the closing years of the general school course in the middle teens, specialization will begin. The adolescent citizen will take up his or her technical (or professional) education. The organizations of great industrial enterprises are becoming interlocked

with technical schools. Continuation schools supplying scientific instruction can carry on through the whole career of a worker and keep his knowledge upto date and effective. This general education will, of course, go on until he dies.

Education needed (according to Mahatma Gandhi)

The craze for ever-changing text books is hardly a healthy sign from the educational stand point. The state should own and organise the printing and publishing of text books. This will act as an automatic check on their unnecessary multiplication. The true text book for the pupil is in his teachers.

True education must correspond to the surrounding circumstances or it is not a healthy growth.

Religious instruction is at least as necessary as secular instruction. Mahatmaji preferred to call "Basic National Education" as "*Rural* National Education". His scheme was principally meant for village children "Every handicraft has to be taught not merely mechanically as is done today, but scientifically" of course, through personal observation and experience. The craft chosen should be such in educative possibilities. It should find natural points of correlation with important human activities and interests, and should extend into the whole content of the school curriculum. An excellent scheme well suited to the needs of the country side, but alas, so far few teachers have been found to be keen on it and carrying it out.

I wish to make a few personal observations before closing. In our anxiety to admit as large a number of students as possible in every school we have sacrificed the quality of work there. As many as 40 or even 50 students in a class are taken up by a teacher. So that he has no personal association with them, and cannot look into their written work. Arrangements should be made to double the number of teachers in these circumstances.

Guardians and teachers should meet more frequently (Do they meet at all?) to understand each other's view.

Students' advisory committees should be formed to help in the maintenance of discipline.

Whatever is done for the individual, or by him for himself, should have a purpose that is outside and greater than himself but to *which his individual life is vitally related* (e.g. to society).

The subjugation of woman has done incalculable harm and they must be given equal opportunities for education and their due position in society.